जीवन-चक्र

गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

समर्पण

...तों और उनके समवयस्कों

के प्रति

...को भविष्य का भार

उठाना है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

सं० १९८६ वि०

का

श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक

[रु० १२००]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बीसवें वार्षिक

अधिवेशन

81FFC

पर

श्रीमान् पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

एम० ए०

को

उनके दर्शन-विषयक "आस्तिकवाद" के लिये

सादर दिया गया।

स्थान कलकत्ता
ज्येष्ठ शुक्ल १२
सं० १९८८

जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए०
सभापति

विषय-सूची

दक्षिण अफ्रीका में ६ मास

दक्षिण पूर्व एशिया में

———

उपाध्याय-परिवार

(१९५४ में)

पत्नी—श्रीमती कलादेवी जी

पुत्र—१. डा० सत्यप्रकाश डी० एस-सी०
(प्रोफेसर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी)
पत्नी—श्रीमती रत्नकुमारी एम० ए०
प्रिंसिपल, आर्य कन्या इन्टर कालेज, इलाहाब

२. श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल० एल० बी०
पत्नी—श्रीमती मन्दालसा देवी

३. प्रो० श्रीप्रकाश एम० एस-सी०
दयानन्द कालेज, कानपुर
पत्नी—श्रीमती सुमन एम० ए०,
प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

४. श्री रविप्रकाश एम० एस० सी०

पुत्री—प्रो० सुदक्षिणा देवी एम० ए०, एल० टी०,
महारानी कालेज, कोटा

जामाता—प्रो० प्रेम बहादुर एम० एस-सी०, बी० टी०
राजर्षि कालेज, अलवर

पौत्र—श्री विमलेश एम० ए०
श्री विनय (बी० एस-सी० के विद्यार्थी)
श्री अरविन्द (एम० एस-सी० के विद्यार्थी)
श्री आनन्द (बी० एस-सी० के विद्यार्थी)
श्री विजय
श्री विनोद
श्री अतुल

पौत्री—कुमारी (१) शोभा (२) विभा (३) अलका (४) आरत

दौहित्री—कुमारी ज्योत्स्ना (बी० ए० की विद्यार्थिनी)

दौहित्र—श्री प्रमोद



उपाध्याय-परिवार १९५२



श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
व श्रीमती कला देवी जी

[सन् १९५

जन्म-भूमि के दर्शन

१६ अक्टूबर १९५३, शुक्रवार, सायंकाल के ५ बजे होंगे कि एक ७३ वर्ष का बुड्ढा, दुर्बलकाय लाठी टेकता हुआ नदरयी ग्राम में किसी से पूछ रहा था "बिट्टा बीबी का कौनसा घर है ?"

"बिट्टा बीबी ! अजी वह अब कहाँ हैं ? उनको मरे तो मुद्दत हो गई !"

"भाई मैं बिट्टा बीबी से मिलना नहीं चाहता। उनके घर का पता चाहता हूँ। उनके वंश में कोई तो होगा ?"

"हाँ। हाँ। उनके लड़के हैं। वह अब यहाँ नहीं रहते। बहुत दिन हुये यहाँ से चले गये।"

"तो क्या घर भी उठा ले गये ?"

"उठा तो नहीं ले गये। उठा गये हैं। अब उसमें कोई और रहता है।"

"बस, मुझको वहीं ले चलो।"

उस मनुष्य ने मुझे ले जाकर उस पक्के मकान के पास खड़ा कर दिया जो मुझे कुछ बेमरम्मत सा दिखाई दिया। मैं दीवार के पास एक छूटी हुई भूमि पर खड़ा था। ज़मीन में घास-पात और झाड़ी-झंकाड़ उग रहे थे। पड़ोस के लोगों के उपले भी पथे पाये। मैं १५ मिनट तक स्तब्ध खड़ा रहा। देखने वालों की समझ में नहीं आया कि मैं कौन हूँ और बिट्टा बीबी के मकान को क्यों देखना चाहता हूँ। मैं खड़ा-खड़ा बाल्यकाल के अनेकों स्मरणों में मग्न था। यह थी मेरी जन्म-भूमि। अर्थात् धरातल

का वह स्थल जिस पर ६ सितम्बर १८८१ ई० या भाद्र शुक्ल १३, सम्वत् १९३८ विक्र०, मंगलवार को लगभग १२ बजे दोपहर के समय मैं अपनी माता की कोख से बाहर आया था। तिहत्तर वर्ष पुरानी बात है। उस समय मेरी पिछली तीन पीढ़ियाँ जीवित थीं अर्थात् बाबा, दादी, पिता, माता तथा उनके समवयस्क स्त्री पुरुष। आज उनमें से कोई जीवित नहीं। हाँ अगली तीन पीढ़ियाँ विद्यमान हैं। पुत्र, पौत्र, दुहिता, दौहित्र, पत्नी तथा उनके समवयस्क। मैं सबमें बूढ़ा और इन पाँच पीढ़ियों का मध्यस्थ हूँ!

कह नहीं सकता क्यों? कई वर्ष से उत्कट इच्छा थी कि अपनी जन्म-भूमि के दर्शन करने चाहिये। कभी वहाँ जाने का प्रसङ्ग नहीं बना। नदरयी एक छोटा सा क़स्बा है। काली नदी के किनारे कासगंज जिला एटा से तीन चार मील! पहले इस क़स्बे में रौनक थी। कासगंज को जाने वाली सड़क क़स्बे के बीच से जाती थी। अतः बाज़ार भी था। वहीं आधी फर्लांग दूर एक मजबूत पुल था जिसके द्वारा काली नदी को पार किया करते थे। गंगा स्नान के मेले पर जब सोरों के यात्री यहीं होकर गुज़रते थे तो नदरयी भी एक मेले का स्थान बन जाता था। इसी बीच में एक घटना घटी जिसने नदरयी को वीरान कर दिया। सन् १८८४ या ८५ ई० में काली नदी में बहुत बाढ़ आई, हजारों आदमी और जानवर बह गये। तीन दिन तक लोग मकान छोड़ छोड़कर मन्दिर में चढ़े रहे। मुझे भी उस बाढ़ का कुछ-कुछ स्मरण है। बहुत धुँधला सा। उसी दिन अकस्मात् मैं अपनी माता जी के साथ मर्थरा से, जो एटे से छः मील दूर हमारे पूर्वजों का निवासस्थान है, नदरयी आया था। क़स्बे के बाहर ही किसी ने सूचना दी कि बाढ़ आ रही है। गाड़ी यहीं रोक दो। मुझे गोद में उठाकर मन्दिर में ले गये। तीसरे दिन बाढ़

का जोर इतना बढ़ा कि पुल टूट गया। पानी तितर बितर हो गया। और नदरयी बच गई। नदरयी में हमारे बाबा पटवारी थे। नदरयी आज भी प्रसिद्ध है। उजड़ने पर भी लोग उसे देखने आते हैं। एक तो वर्तमान युग के इंजीनियरों की चतुराई देखने के लिये जिन्होंने नदी के ऊपर से नहर निकाली है। अर्थात् नदी के ऊपर से नहर भी बहती है और आने जाने का मार्ग भी है। यह पुल नदरयी से कुछ हट कर हैं। दूसरा भीमसेन का ...िसमें ब्रह्मदेश से लाया हुआ एक बड़ा घण्टा है। ...सेन ब्रिटिश सेना में रिसालदार थे। ब्रह्मदेश को जब अंग-ज़ों ने जीता तो उनकी वीरता के लिये यह घण्टा उनको उपहार में मिला। मन्दिर टूट गया है परन्तु घण्टा आज भी बना हुआ है और उस पर लोग चढ़ावा चढ़ाते हैं। जब मैं नदरयी में था तब भीमसेन जी के वंशजों की बड़ी कीर्ति थी क्योंकि ब्रिटिश-राज में वह सम्मानित थे। आज जब मैंने घण्टे को देखा तो सर्वथा भिन्न भावों का आविर्भाव हुआ। अर्थात् हम भारतीयों ने अपनी वीरता से न केवल अपनी ही स्वतंत्रता अंगरेजों के हवाले कर दी अपितु ब्रह्मा आदि निकटस्थ देशों को ब्रिटिश का ...ास बनाने में भी हमने पर्य्याप्त भाग लिया। यह एक लज्जा की बात थी। आज हम ईश्वर की दया से स्वतंत्र हैं अतः हमको ऐसी भावनाओं के प्रकट करने का अधिकार है। छः वर्ष पूर्व ऐसा सोचना और फाँसी पर लटकना समानार्थक था।

पराश्रितः किं न करोति पापम्।

"आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं?" एक आदमी ने पूछा।

"भाई! मैं भी नदरयी का ही आदमी हूँ। इलाहाबाद से आया हूँ। आजकल वहीं रहता हूँ।"

"इलाहाबाद! यहीं के आदमी! हमने तो नहीं देखा!"

"क्या तुमने लाला डम्बर लाल पटवारी का नाम सुना है ?"

"हाँ जी, मैंने उनको देखा है। वह बड़े अच्छे साधु स्वभाव के आदमी थे ?"

"तुम्हारी अवस्था क्या है ?"

"लगभग ५५ की होगी।" वस्तुतः यह मनुष्य मुझसे बहुत छोटा दीखता था। मैंने कहा, "आपने ला० डम्बर लाल को कहाँ से देखा होगा ? उनका देहान्त तो लगभग ६६ साल हुये हो चुका।"

"तो सुना होगा। ला० डम्बर लाल थे। उनके पुत्र कुंज-बिहारी लाल भी थे।"

"हाँ। ठीक ! मैं ला० कुंजबिहारी लाल का लड़का और ला० डम्बर लाल का पोता हूँ।"

मेरे मन में उस ५५ वर्षीय पुरुष को यह कहते सुनकर कि उसने मेरे बाबा या पिता को देखा था यह विचार उठा कि बहुत से लोग सुनी बातों को भी देखी हुई कह देते हैं। अतः इतिहास के अनुसन्धाताओं के लिये इस प्रकार की साक्षियाँ कई उलझनों का कारण बन जाती हैं। इसके लिये कई मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, आदि धर्म संस्थापकों, कई मत-मतान्तरों के गुरुओं तथा प्रसिद्ध पुरुषों की जीवन-कथायें इस प्रकार की अतथ्य साक्षियों से भरी पड़ी हैं।

इससे मुझे यह तो सन्तोष हुआ कि मेरे बाबा की क़स्बे में पर्य्याप्त ख्याति रही होगी अन्यथा कई वर्ष पीछे तक लोग उनके नाम को कैसे याद रख सकते थे। मैंने अपनी माँ के मुख से बहुत सी ऐसी बातें सुनी थीं जिनसे प्रकट होता था कि क़स्बे भर में यहाँ तक कि ज़मींदारों के परिवार पर भी मेरे बाबा का

बड़ा प्रभाव था। वह बहुत अच्छे समझे जाते थे। कोई उनसे अप्रसन्न न था।

जिन सज्जन से मैं बात कर रहा था वह मुसल्मान थे। उनके पिता, पितामह मेरे मकान के पिछवाड़े रहते थे। वह गद्दी थे। जब मैंने कहा कि हमारे पड़ोसी तो गद्दी थे तो उन्होंने कहा "हमारा ही वह परिवार था?"

उन्होंने कई बुड्ढे आदमियों से भेंट कराई जो सब मुझसे आयु में कम थे। आग्रह किया कि मैं एक रात वहीं ठहरूँ। परन्तु मैं एक घण्टा ठहर कर चल पड़ा।

अपने मकान की भूमि में खड़े खड़े—

"न जानें कितने मेरे मन में वलव ले आये।"

पढ़ा है कि—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

स्वर्ग तो देखा नहीं। कल्पना मात्र है। किसी द्रष्ट पदार्थ के सौन्दर्य की नितान्त कल्पित पदार्थ से तुलना करना कहाँ तक उपयुक्त है यह एक टेढ़ी समस्या है। साहित्यकार उस ज्योतिषी के समान है जिसके विषय में एक उदूं कवि ने लिखा है।

अंजुम शनास को भी खलल है दमाग़ का।
पूछा अगर ज़मीं की कहे आसमां की बात!

परन्तु ऐसी उपमाओं में एक सौन्दर्य है। उपमा मेय न होकर अमेय बन जाती है। अतः कोई उसके जाँचने का साहस नहीं कर सकता। अज्ञेय और अमेय पदार्थों का भी अपना विशेष आकर्षण होता है। अस्तु।

हाँ मैंने स्वर्ग तो नहीं देखा। जननी का प्रेम अवश्य देखा है। मेरे पिता २८ वर्ष की आयु में ही दिवंगति को प्राप्त कर

चुके थे। मैं उस समय १० वर्ष से कुछ बड़ा था। मेरे एक बहन थी और एक दस मास की आयु का भाई। मेरी माता की आयु भी लगभग २८ वर्ष की ही रही होगी। उन दिनों बाल-विवाह की प्रथा थी। वर भी बालक और वधू भी बालक। अतः उनकी आयु में अधिक अन्तर नहीं होता था। मेरे बाबा-दादी उनसे पहले मर चुके थे। लाला डम्बर लाल मेरे पिता के चाचा थे। मेरे पिता जी के पिता थे लाला फूलचन्द जो मरथरा में रहते थे। परन्तु मेरे पिता को उनके चाचा ने गोद रख लिया था। मेरी माता ने किस कठिनाई और किस चातुर्य से हमको पाला इसकी एक लम्बी कथा है। माता जी थीं सर्वथा निरक्षरा। उन दिनों स्त्रियों के पढ़ाने का प्रश्न ही न था। परन्तु मेरी माता जी में चातुर्य और स्वातंत्र्य बहुत था। अतः उन्होंने अनेक कठिनाइयाँ होते हुये भी हमको इस प्रकार से पाला कि हम परिवार के अन्य लोगों के ऋणी बन कर नहीं रहे। और मुझमें अपने पैरों खड़े होने का एक व्यसन सा हो गया, जो आज भी मेरे आत्म-गौरव की आधार शिला बना हुआ है। शायद मुझे पितृविहीन करने में ईश्वर का यह भी एक प्रयोजन रहा हो। मुझे सन्तोष है कि जब ५८ वर्ष की आयु में मेरी माता ने शरीर छोड़ा तो मैं लगभग चालीस वर्ष का था और वह मुझे बहुत कुछ अपने पैरों पर खड़ा हुआ देखने का आनन्द प्राप्त कर चुकीं थीं।

स्वर्ग और जननी का स्मरण कर के मुझे जन्म-भूमि का ध्यान आया। मैं उसको गरीयसी तो नहीं कह सकता था। न जाने वह भूमि अब किसकी है? और मेरे पीछे किसी की जन्म-भूमि बनी या नहीं। परन्तु वह मेरी अब भी जन्म-भूमि है। जिसका अब मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है सिवाय याद के। और याद भी धुँधली सी। बाग़ में हजारों फूल उगते हैं। और बहुत

से तो वहीं मुरझा कर समाधिस्थ हो जाते हैं। बहुत से कोसों दूर जाकर ही अपनी जीवन यात्रा समाप्त करते हैं। मैं भी इन्हीं उत्तर-कथित फूलों में से एक हूँ।

मैंने पन्द्रह बीस मिनट नदी के टूटे हुये पुराने पुल के पास भी व्यतीत किये। नदी वही है जो ७० वर्ष पूर्व थी। पुल के खंडहर भी वैसे ही पड़े हैं। नदी की धारा अब भी उन टुकड़ों से टकराती है। और वे धृष्टता से उसका मुक़ाबिला करते हैं। उसे देखकर मुझे बहुत से प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक दर्शनकारों की प्रतिपत्तियाँ स्मरण आ गईं। हिरैक्लीटस और दिङ्नाग का मत था कि यहाँ कोई वस्तु स्थायी नहीं सब क्षणिक हैं। प्रवाह ही प्रवाह है। प्रवाह से अधिक कहीं कोई वस्तु नहीं। जगत् जगत् है। गमनशील है। ठहरने वाली कोई वस्तु नहीं। पारमीनाइडीज़ और शङ्कराचार्य का कहना था कि जो कुछ है वह नित्य और कूटस्थ है। गति, परिवर्तन या तब्दीली अतथ्य हैं। मिथ्या है। कल्पना मात्र है। अविद्या का फल है। मैं सोचता था कि जल बदल गया परन्तु जल की धारा वही है। नदी वही है। पुल टूट गया परन्तु भग्नावशेष वही हैं। अनित्य होते हुये भी तारतम्य के विचार से अधिक स्थायी हैं। अस्थायी पदार्थों में यह तारतम्य क्यों? कल्पना और तारतम्य इसकी भी तो कुछ व्याख्या होनी चाहिये। क्या कपिल-कथित सांख्यदर्शन के इस सूत्र में कुछ सचाई है?

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात्

(सांख्य ६।५२)

जगत् सत्य हैं क्योंकि न तो यह दोष युक्त कारण से उत्पन्न हुआ है। न इसका बाध हो सकता है।

मेरे साथियों ने कहा, "चलिये चलिये, अंधेरा हो रहा है।" विचार धारा टूट गई और हम चल पड़े।

नोट—बिट्टा बीबी कौन थीं ? यह तो बताना ही भूल गया। यह क़स्बे के ज़मींदार की बहन थीं जिनका मकान हमारे मकान से सटा था। दोनों परिवारों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। मैंने अरुंधती दर्शन न्याय से बिट्टा बीबी का घर पूछा था।

———

बाबा का ऋण

"लाला जी, मैं एक टोपी लूँगा।"

"चलो दूकान पर ले दें।"

"अपने लिये नहीं।"

"तो किसके लिये ?"

"बाबा के लिये।"

"नहीं, नहीं ! बाबा के लिये कोई टोपी लेता है ?"

"मैं तो लूँगा ! देखो, जब बाबा मेले को जाते हैं तो मेरे लिये टोपी लाते हैं कि नहीं ? पिछली बार कैसी अच्छी टोपी लाये थे ! गोटे की ! लाल लाल ! आपको याद हैं ?"

"वह तो बाबा हैं। बाबा तो बच्चों की टोपी लाया ही करते हैं। कहीं बच्चे भी बाबा के लिये टोपी लाते है ?"

"क्या हुआ। मैं भी तो मेले में आया हूँ। बाबा कहेंगे तुम मेरे लिये क्या लाये तो मैं क्या कहूँगा ?"

मेरी आयु उस समय शायद छः साल की होगी। वह पहला ही अवसर था कि मैं अपने पिता जी के साथ अकेला गंगा-स्नान करने सोरों के मेले पर गया था। सोरों कासगंज से कुछ मील उत्तर की ओर गंगातट पर एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। इसको शूकर क्षेत्र भी कहते हैं। वाराह अवतार की पौराणिक कथा से इसका सम्बन्ध है। इसका ऐतिहासिक मूलाधार क्या है यह ज्ञात नहीं; परन्तु यहाँ अब भी गंगा स्नान का भारी मेला होता है। ज्ञात नहीं कि उस समय रेल निकली थी या नहीं। हम प्रायः बैलगाड़ियों पर जाया करते थे।

जिस वार्तालाप की ओर ऊपर संकेत किया गया है वह पुरानी स्मृति से मैंने आजकल की भाषा में लिख दिया है। मुझे उस समय कुछ भी ज्ञान न था कि ऋण किसको कहते हैं। पितृ-ऋण क्या होता है और पितृ-ऋण में बाबा का ऋण भी शामिल है या नहीं। या ऋण को किस प्रकार चुकाया जाता है। यों कहना चाहिये कि यह मेरी बाल्यावस्था की एक अनुकरण की कहानी है :—

महाजनो येन गतः स पन्था।

मार्ग वही है जिससे बड़े लोग चलें। बड़ों का अनुकरण सभी करते हैं। परन्तु जो परिस्थिति का विचार करके अनुकरण करें उन्हीं को बुद्धिमान् कहते हैं। मेरी इस अनुकरण की कथा से ही पाठकगण विचार कर सकेंगे कि मेरी बुद्धिमत्ता का स्तर उस समय कितना ऊँचा था।

मैं अड़ गया और मेरे पिता जी की बालहठ के समक्ष एक न चली। हम दोनों एक दुकान पर पहुँचे। टोपी वाले ने अनेक टोपियाँ दिखाईं। मेरे सिर के नाप कीं! परन्तु मैं उनका क्या करता? मुझे तो बाबा के लिये टोपी लेनी थी। बड़ी टोपी!

"लाला जी! यह टोपी बाबा के सिर पर नहीं आयेगी। उनका सिर तो बहुत बड़ा है!"

"ले भी लो! आ जायगी। ठीक है!"

"नहीं नहीं। बड़ी! बड़ी चाहिये। बड़ी! बाबा का सिर इतना बड़ा है!"

अन्य यात्री भी खड़े थे। हँसने लगे। मेरी समझ में नहीं आया कि वे क्यों हँसते हैं मैं तो कोई मूर्खता का काम नहीं कर रहा। क्या बाबा के लिये टोपी खरीदना मूर्खता है?

अन्त में पिता जी ने सोचा कि एक बड़ी टोपी ले चलें।

इसका हठ रह जाय और बाबा के काम में आ जाय! अतः एक बड़ी टोपी दिखाई गई। परन्तु वह न तो लाल थी न उस पर गोटा था। बाबा तो मेरे लिये लाल लाल गोटे की टोपी लाया करते थे। मेले से ले चलें और ऐसी भद्दी टोपी। यह नहीं हो सकता। बड़ी ननु नच रही। बालकों की खड़ी की गई समस्या का वृद्धों को भी कोई उपाय नहीं सूझता। अन्त को बहुत खींचातानी के पश्चात् एक कुछ बड़ी टोपी खरीदी गई। जिस पर गोटा भी लगा था और जो लाल भी थी। परन्तु मैं खुश था। बाबा के लिये टोपी खरीद कर ले चला था।

जब हम लोग लौटे तो बाबाजी अपनी बैठक में बैठे हुये थे। और उनके पास कुछ अन्य लोग भी थे। मैं उतरते ही उनके पास चला गया और टोपी लाने की खुशखबरी सुनाई। सब ने टोपी को देखा। बाबाजी हँस पड़े। मैंने आग्रह किया कि बाबाजी टोपी को सिर पर लगाकर देखें। बाबाजी टाल मटोल करते थे और मैं अपनी हठ पर डटा। अन्त में मेरी ही जीत हुई जैसी वृद्ध और बालों की लड़ाई में हुआ करती है। आजकल जब मैं कालिजों के सत्याग्रह और अधिकारियों के अनुशासन की परस्पर कलह की बात सुनता हूँ तो अपनी बाल हठ की याद आ जाती है। प्रश्न यह नहीं कि क्या उचित है क्या अनुचित! प्रश्न यह है कि बालकों को समझाया कैसे जाय!

बाबाजी बैठक में बैठे हुये हैं। और मेरी खातिर गोटे की लाल लाल टोपी दिये हैं। मैं प्रसन्न हो रहा हूँ कि आज मैंने बाबा का कर्ज़ा उतार दिया। जैसा वह मेरे लिये करते हैं। उसी प्रकार मैंने भी उनके लिये किया। यह एक सन्तोष की बात थी।

ऐसी ही एक और लड़कपन की बात मुझे याद है। होली

के दिन थे, होली में रंग बहुत खेला जाता है। बच्चों को एक दूसरे पर रंग फेंकते बहुत अच्छा लगता है। रंग तो रंग रेत फेंकने में भी एक विशेष आनन्द आता है। मैं बाबाजी के साथ अपने ग्राम में होली खेलने वालों के साथ बराबर फिरता रहा। लोगों ने एक दूसरे पर रंग डाला। लेकिन मुझ पर किसी ने रंग न छोड़ा। मेरे लिये यह असह्य था। घोर अपमान! क्या कारण है कि लोग मुझ पर रंग नहीं छोड़ते! मैं खिन्न मनस्क घर आया। बाबा ने बहला कर कहा, "नहीं, नहीं चिन्ता मत करो! हम तुम होली खेलेंगे। उन्होंने एक लोटा रंग भर कर मेरे ऊपर छोड़ दिया। परन्तु यह तो एकपक्षी होली थी। बाबा ने मेरे साथ होली खेली। मैंने तो बाबा के साथ होली नहीं खेली।"

"बाबा! तुम बैठ जाओ और मैं तुम्हारे सिर पर रंग डालूं" बाबा लोग पोतों के हाथ इस प्रकार नाचते हैं जैसे बन्दर कलन्दर के हाथ। बाबाजी बैठ गये और मैंने उनके ऊपर रंग डाल कर अपनी इच्छा पूर्ण की।

हमारे घर में एक अमरूद का वृक्ष था। उसी के नीचे होली खेली गई। इस बार जब मैं नदरयो गया तो उस सुन्सान भूमि में पुराने अमरूद की याद आ गई।

जब से मैंने होश संभाला है मुझे होली की वर्तमान प्रथा से घोर घृणा है। मैं शिष्टाचार के लिये भी उसमें सम्मिलित नहीं होता। मुझे होली की प्रथा अपनी भारतीय सभ्यता पर एक कलंक प्रतीत होती है। संभव है प्राचीन नव संवत्सर यज्ञ और नव सस्येष्टि यज्ञ की वैदिक प्रथा को वाममार्ग के समय बिगाड़ कर यह रूप दे दिया गया हो। भारतीय सभ्यता का उपासक होते हुये भी मुझे यह प्रिय नहीं कि जो हमारी

बुराइयाँ या कुत्सित प्रथायें हैं उन पर भी अभिमान करना देश-भक्ति का एक अंग समझा जाय।

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ?

अथवा

यद्यत्कृतं भ्रान्तिवशात्स्ववृद्धैः तत्तत्समग्रं करणीयमन्यैः।

पितृ-ऋण के विषय में मैंने कई व्याख्यान दिये हैं। जिनमें मैं अपनी ऊपर की टोपी वाली कहानी कह कर यह बताया करता था कि जो माता पिता ने हमारे लिये किया उसी को उसी प्रकार दुहराने का नाम पितृ-ऋण चुकाना नहीं है। जैसे हमारे माता पिता ने चम्मचों से हम को दूध पिलाया तो हमारा भी यह उचित बदला नहीं है कि हम भी उसी प्रकार माता पिता को गोद में बिठालकर चम्मच से दूध पिलावें। यह बात सिद्धान्तरूप से तो ठीक ही है। परन्तु हाल में ही एक ऐसी घटना हो गई जिनमें मुझे अपने उस दृष्टान्त की त्रुटि का स्मरण हो आया' मैं अभी थोड़े दिन हुये बहुत बीमार हो गया। तीन बार आपरेशन कराना पड़ा। ऐसी अवस्था भी आ गई कि मेरे पुत्र मुझे गोद में लेकर चम्मचों से दूध पिलाया करते थे। जब मैं अस्पताल में पड़ा था। और इस प्रकार खाद्य मेरे भीतर पहुँचाया जाता था तो मुझे अपने दृष्टान्त की त्रुटि को स्मरण करके हँसी आजाया करती थी। इससे सिद्धान्त में तो कोई भेद नहीं पड़ा परन्तु दृष्टान्त के रूप की सीमितता अवश्य विचारणीय हो गई।

यह कहानी बाल्यावस्था की है और पाठकगण उसको वहीं तक सीमित रक्खें।

———

८१५५६

पट्टी पुजाई

जिस युग की बात हम कह रहे हैं उस युग में बच्चे के विद्यारंभ संस्कार का नाम था पट्टी पुजाना। मेरे परिवार में यह प्रथा थी कि जब बच्चा पांच वर्ष पूरे कर लेता और छठे वर्ष में प्रवेश करता तो उसकी पट्टी पुजाई की रस्म की जाती थी।

हम लोग थे कुल-श्रेष्ठ कायस्थ। कायस्थ बहुत दिनों से भारतवर्ष की एक उच्च और शिक्षित जाति समझी जाती है। पौराणिक गाथा है कि कायस्थों के पूर्वज आदि—पुरुष चित्रगुप्त थे जो लेखनी के पुजारी अर्थात् बहुत विद्वान थे। शायद यह गाथा कायस्थों के शिक्षा प्रेमी होने के नाते बनाई गई हो। चित्रगुप्त कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या नहीं इसकी मैं ने कभी विवेचना नहीं की। कहा जाता है कि इनकी दो स्त्रियां थी। एक ब्राह्मण कन्या और दूसरी नाग कन्या। एक के आठ और दूसरी के चार पुत्र हुये। बारह पुत्रों की सन्तान बारह प्रकार के कायस्थ हुये जो मेरे आरंभ काल तक रोटी बेटी के सम्बन्ध में उसी प्रकार एक दूसरे से पृथक् थे जैसे अन्य हिन्दू जाति के लोग। एक ही आदि पुरुष के वंशज कहलाते हुये भी यह बारह उपजातियाँ व्यवहार की दृष्टि से बारह जातियाँ ही थीं। कुल-श्रेष्ठ भी इन्हीं में से एक उपजाति है। इसमें कुछ बातें अच्छी थीं। और कुछ को आप निकृष्ट कह सकते हैं। एक तो यह ग्रामों में अधिक रहते थे। दूसरे इनमें पढ़ने का रिवाज तो था परन्तु उच्च शिक्षा का कम। अच्छी बात यह थी कि यह न मांस खाते थे न शराब पीते थे। यहाँ तक कि प्याज लहसुन खाना

भी इसलिये वर्जित समझा जाता था कि यह मांसाहार से सम्बन्धित है। मेरे बाबा शायद हिन्दी ही पढ़े थे। परन्तु फिर भी थे तो कायस्थ। उन दिनों उर्दू फारसी का अधिक महत्व था। जो उर्दू नहीं जानता था उसकी गणना प्रायः अशिक्षितों में ही होती थी। मेरे घर में यदि कोई पत्र हिन्दी में आता तो उसको अपमान सूचक 'चिट्ठी' शब्द से पुकारते थे। उर्दू का पत्र शान के साथ "खत" बोला जाता था। मेरे परिवार के यह विचार थे उन दिनों जब मेरी पट्टी पुजाई गई। अर्थात् लगभग सन् १८८७ ई० में।

मुझे ज्ञात नहीं कि पट्टी पुजाई में क्या क्या कृत्य हुये। जहाँ तक याद है हवन तो हुआ नहीं। और न उन दिनों ऐसे संस्कारों में हवन की परिपाटी थी। मेरी समझ में नदरयी उन दिनों अन्य ग्रामों के समान स्लीपी हौलो (Sleepy Hollow) ही था अर्थात् देश या संसार में कौन सी प्रगतियाँ काम कर रही हैं उनसे उन भोले भाले लोगों का कोई सम्बन्ध न था। पुरानी लकीर के फकीर थे। मुझे कुछ कुछ याद है कि पंडित जी आये। उन्होंने एक पट्टी पर कुछ लिखा। शायद "श्री गणेशायनमः" लिखा गया था क्यों कि गजानन लम्बोदर गणेश जी महाराज ही विद्या के देवता समझे जाते थे। परन्तु यह समझ लिया गया कि एक बार पंडित जी के हाथों उस नमस्कृति को लिखना मात्र ही देवता को सन्तुष्ट करने के लिये पर्याप्त था। मुझे अ, आ भी सिखाया नहीं गया। दूसरे ही दिन मुझे एक मौलवी साहेब के पास पढ़ने बिठाल दिया गया। यह मौलवी साहेब ज़मींदार की ओर से उनके बच्चों को पढ़ाने के लिये रक्खे गये थे। मेरे परिवार की गिनती नगर के उच्च परिवारों में थी। अतः मैं भी वहीं बिठाल दिया गया।

मुझे ज्ञात नहीं कि सरकारी स्कूल कहाँ कहाँ थे। शायद

नदरयी में तो कोई स्कूल न था। जनता की शिक्षा प्रायः मौलवियों के हाथ में थी। गांव में सब तो पढ़ते न थे। हाँ कायस्थों के यहाँ यह प्रसिद्ध था कि "कायस्थ पढ़ा भला या मरा भला।" ब्राह्मण भीख माँग कर खालेगा। बनिया बंजी (वाणिज्य) कर लेगा अन्य लोग खेती बाड़ी कर लेंगे। कायस्थ क्या करेगा सिवाय नौकरी के? जमींदारों के कारिन्दे कायस्थ होते थे। पटवारी भी कायस्थ। गाँव के पत्रों को पढ़ देना या लिख देना भी उन्हीं का काम था। मौलवियों का मासिक वेतन शायद २ रुपये था। खाना ज़मींदार के घर से आता था। त्यौहारों पर 'ईदियां' सिखाई जाती थीं। मुसलमानों के विद्यारंभ संस्कारों को बिस्मिल्ला कहते थे। परन्तु हिन्दू भी पट्टी पुजाई की रसम हो जाने के पश्चात् बिस्मिल्लाह ही सीखते थे।

मैंने फारसी पढ़ना आरम्भ किया। जब तक नदरयी में रहा अर्थात् दो तीन वर्ष उस समय तक फारसी पढ़ता रहा सादी का करीमा, एक और सूफियों की पुस्तक मामुकीमां यह दोनों शायद बिना अर्थों के पढ़ाये गये। उस दिनों मैं शायद कौदन तालिबइल्म (मन्द-बुद्धि विद्यार्थी) न रहा हूँगा क्योंकि मैं इन पुस्तकों को पढ़ लेता था। उनकी शेरें मुझे अभी तक याद हैं। एक और किताब पढ़ाई गई थी 'दस्तूर सिबियां'। इसका अर्थ है "बालनीति माला"। इसका अर्थ भी हम को सिखाया गया था। एक और किताब थी 'खालिक़बारी' इसको पद्यात्मक फारसी कोश कहना चाहिये। उसका पहला पद्य यह था।

खालिक़ बारी सिरजन हार।
वाहिद एक बिधा करतार॥

अर्थात् 'खालिक बारी' का अर्थ है 'सिरजनहार' या सृष्टि कर्त्ता और 'वाहिद' का अर्थ है एक। 'विधा करतार' हिन्दी है।

विधाता और कर्तार अर्थात् ईश्वर अर्थ में यह शायद पाद-पूर्ति के लिये जोड़ा गया है। इसका नाम "खालिकबारी" इसलिये था कि पुस्तक इसी नाम से आरम्भ होती है। करीमा और मामुकीमां भी आदिम पद्य के आदिम शब्द हैं। करीमा का अर्थ है 'हे ईश्वर!' पुस्तक का नाम है 'पंदनामा' (शिक्षावली) और यह है।

करीमा बिबखशाये बरहालि मा।
कि हस्तं असीरे कमन्दे हवा॥

ईश्वर मेरे ऊपर दया करो। मैं विषयों के जाल में फँसा हुआ हूँ। शिक्षायें अच्छी थीं। यद्यपि मुसल्मानी ढंग की थीं। मामुकीमां का एक प्रसिद्ध पद्य यह है :—

कि बचश्माने दिल मुबीं जुज़ दोस्त।
हरचे बीनी बदां कि मज़हरे ओस्त॥

"हृदय की आँखों से सबके मित्र ईश्वर के सिवाय और किसी को मत देख। जो कुछ तुझे दिखाई देता है उसको यही समझ कि यह ईश्वर का प्रकाश है।"

सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।

शिक्षा अविकसित रूप की थी। जैसे संस्कृत पाठशालाओं में संस्कृत छोड़कर और कोई विषय नहीं पढ़ाये जाते उसी प्रकार इन मकतबों में भी सिवाय फार्सी के और कुछ विषय पढ़ाया नहीं जाता था। मुझे याद नहीं कि मैंने गणित कैसे सीखी। मेरे बाबा के मरने पर जब हम लोग मरथरा चले आये तो मुझको मरथरा के प्राइमरी स्कूल में प्रविष्ट करा दिया गया। वहाँ मुझे छोड़कर सब अन्य विद्यार्थी हिन्दी पढ़ते थे। वे सभी वैश्य जाति के थे। एक दो क्षत्रिय या ठाकुर थे। परन्तु ठाकुर लोग पढ़ने को अच्छा नहीं समझते थे। खेती करना और लाठी के बल पर

२

विश्वास रखना उनका काम था। मेरे बाबा के एक चचेरे भाई मुंशी अयोध्या प्रसाद जी डिप्टी कलक्टर थे। उनको उर्दू आती थी। अंगरेजी वह नहीं जानते थे। उन्होंने उर्दू में गणित की एक पुस्तक लिखी थी जो मेरे पास कुछ दिनों तक रही। इनके कोई पुत्र न था। उन्होंने अपने भतीजे को गोद रक्खा था, वे मेरे ताऊ होते थे। हम लोग 'ताऊ' को 'भाई' कहकर पुकारते थे। यही परिवार की रस्म थी। भाई अर्थात् भ्राता को 'दादा' कहते थे। भाई और दादा के अर्थ में यह भेद था। अपना बड़ा भाई 'दादा'। अपने बाप का बड़ा भाई 'भाई' या 'भाई जी'। बाप का छोटा भाई 'चचा'।

हाँ। हमारे भाई जी उर्दू पढ़े थे। अंगरेजी पढ़ाई गई परन्तु पढ़ी नहीं। हिन्दी पढ़ाई ही नहीं गई। वे बड़े जमींदार थे। उनके कारिन्दा थे एक मौलवी। वह उनके उस्ताद भी रह चुके थे। और वे हमारे भी उस्ताद रहे थे। मैं उनसे फारसी कुछ दिनों पढ़ता रहा। परन्तु बहुत कम। विशेष कर 'ईदियाँ' मुझे सिखाई गईं।

'ईदी' क्या चीज़ थी ? इसको बता देना मनोरंजक होगा। मुसलमानों में 'ईद' एक प्रसिद्ध त्योहार होता है। इसे सभी जानते हैं। उसी 'ईद' से 'ईदी' शब्द बना है। ईदी एक पद्य होती थी, जिसको घर में सुना कर त्यौहारों के अवसर पर विद्यार्थी लोग माता पिता से कुछ दक्षिणा ले जाकर मौलवी साहेब की भेंट किया करते थे। मौलवियों ने हिन्दू त्यौहारों की भी हिन्दुओं के मतानुसार ईदियाँ बना ली थीं। मुझे दो ईदियाँ अब तक याद हैं :—

एक बसन्त की है :—

लिबासे बसन्ती रंगावेंगे हम।
हथेली पै सरसों जमावेंगें हम।

कहो जाके क्या देवें उस्ताद को।
ईदी जो पहली सुनावेंगे हम!

दूसरी होली की है जो विचित्र है। ज्ञात नहीं कि हमारे निरामिष भोजी परिवार में उनका कैसे सहन हुआ। परन्तु उस समय शायद 'सह्य' 'असह्य' का प्रश्न न था। लोग अधिकतर रिवाज और रस्म का ही अनुकरण करते थे। ईदी यह है।

होली अय्याम वक्ते नादिर है।
जात कायथ बड़ी बहादुर है।
मांगती है शराब और कलिया।
देने वाला करीम कादिर है।

इसी प्रकार श्रावणी, दिवाली, दशहरे की भी ईदियाँ थीं जो मुझे याद नहीं हैं।

मेरे पिता जी जब तक जीवित रहे मुझे उर्दू पढ़ाते रहे। उन दिनों उर्दू के खत पढ़ सकना अच्छी योग्यता समझी जाती थी क्योंकि उर्दू की दो लिपियाँ थी। एक को नस्तालीक कहते थे जैसी किताबों की हैं। दूसरी का नाम था 'खत शकिस्त' जिसका शब्दार्थ है "टूटी हुई लिपि" इसमें जल्दी लिखने के लिये अक्षरों के डंडे छोड़ दिये जाते हैं। यह बहुत घसीट लिखी जाती है। खत पढ़ाने की एक विधि थी। भिन्न-भिन्न लोगों के लिखने का ढंग अलग-अलग था। अतः बहुत से खतों को गोंद से जोड़ लिया जाता था। उन्हीं के द्वारा मुझे खत पढ़ना सिखाया गया था। मैं आठ नौ वर्ष की अवस्था में घसीट पत्र पढ़ लेता था।

———

मा

कहते हैं कि महाकवि तुलसी दास ने एक दोहे का पूर्वार्द्ध लिखकर छोड़ दिया।

सुरतिय नरतिय नाग तिय, कष्ट सहें सब कोय।

महाकवि रहीम ने इस दोहे की इस प्रकार पूर्ति कर दी :—

गर्भ लिये हुलसी फिरे तुलसी सो सुत होय॥

यह घटना ऐतिहासिक है वा नहीं! यह मैं नहीं जानता। परन्तु यदि सत्य है तो दो महाकवियों की अपूर्व योग्यताओं का इसको अपूर्व मिश्रित-फल कह सकते हैं। इसमें दर्शन, मनोविज्ञान, आचार-शास्त्र, जीवन-शास्त्र, इतिहास-शास्त्र और समाज शास्त्र का अत्युतम मिश्रण है। पूरा दोहा यह है :—

सुरतिय नरतिय नागतिय, कष्ट सहें सब कोय।
गर्भ लिये हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय।

अर्थ—देव पत्नी देवियाँ, नरपत्नी नारियां, सर्प-पत्नी सांपिनें, सभी हर्ष के साथ प्रसव-काल का कष्ट सहती हैं। यह है प्राणि वर्ग का स्वभाव। यह वैयक्तिक घटना नहीं। केवल एक समाज की नहीं, केवल मनुष्य समाज की नहीं। केवल पशुओं की नहीं, केवल पक्षियों की नहीं। केवल कीड़े मकोड़ों की नहीं। समस्त-प्राणि वर्ग की है। अतः सांसर्गिक नहीं अपितु नैसर्गिक हैं स्वाभाविक है। सृष्टि क्रम का एक अंग है। एक कवि ने सृष्टि-नियम बताया और दूसरे कवि ने एक उदाहरण देकर

उसका स्पष्टीकरण कर दिया। अर्थात् जब तुलसी की माता हुलसी गर्भ के बोझ से पीड़ित थी तो उसको वह पीड़ा पीड़ा नहीं प्रतीत होती थी। उसको आनन्द हो रहा था कि इस पीड़ा के फलस्वरूप तुलसी जैसा महान् पुरुष जन्मेगा जो मानव मात्र के लिये उत्तम ग्रन्थ रच सकेगा। पता नहीं कि हुलसी को तुलसी दास की शुभ्रकृतियों की कुछ कल्पना थी या नहीं परन्तु नारी मात्र को माता बनकर बड़ा हर्ष और अभिमान होता है क्योंकि वह पुत्र-रत्न को जन्म देती है। इसलिये कवियों ने माता के महत्व पर अनेक भाव-पूर्ण कवितायें रची हैं। ऋग्वेद के एक मंत्र* में तो यहाँ तक कह दिया कि हे ईश्वर तू बाप से बड़ा है परन्तु मा के बराबर है। छोटा बालक ईश्वर को नहीं जानता। उसकी कृपाओं का अनुमान नहीं कर सकता परन्तु माता के प्रेम का तो साक्षात्कार करता है। माता से बढ़ कर उसके लिये कोई और सत्ता नहीं। ईश्वर परोक्ष है माता प्रत्यक्ष है। परोक्ष के समझने के लिये विकास चाहिये, तपस्या चाहिये। प्रत्यक्ष तो अविकसित से अविकसित प्राणी को भी उपलब्ध है। अतः "मातृमान्" पुरुष को धन्य माना गया है। और मुझे हर्ष है "मातृमत्व" मेरे भाग्य में लिखा था।

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि दश वर्ष की आयु में ही मैं पितृहीन हो चुका था परन्तु यह भी ईश्वर की अपार अनुकम्पा थी कि मैं मातृहीन न था। गाँवों की एक कहावत है कि माँ पिसनहारी हो वह भी अपने बालक को पाल लेती है और पिता

---

* वस्यां इन्द्रासि मे पितुः......
माता च मे छद यथः समा......
(ऋग्वेद मण्डल ८, सूक्त १, मन्त्र ६)

धनाढ्य भी नहीं पाल सकता । इस कहावत में दार्शनिक सत्यता है। मा की योग्यता और मा का प्रेम दोनों ही परम पुरुष, जगत्कलाकार की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। पिताओं को ईश्वर ने यह उत्कृष्ट देन नहीं दी। शायद वे इनके अधिकारी नहीं हैं।

महाकवि तुलसीदास मानवी भावनाओं के मर्मज्ञ थे, उनके ग्रन्थों में बहुत सी अनिरुक्त और अनिर्वचनीय सूक्ष्म भावनाओं का अच्छा विवरण मिलता है। परन्तु मुझे सन्देह है कि उन्होंने कभी अपनी माता हुलसी के मानसरोवर में डुबकी लगा कर उसकी भी थाह लेने की चेष्टा की थी या नहीं।

मेरी माता को मरे हुये तिहाई शताब्दी बीत चुकी। मैं संसार के व्यवहार में लिप्त हूँ। परन्तु मेरी माता की याद अब भी मेरे हृदय में कसक उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती। नैपोलियन आदि कई महान् पुरुषों ने अपने महत्व का श्रेय अपनी माता को दिया है। परन्तु मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि मेरी माता न केवल मेरी माता ही थी अपितु निर्माता भी। जिस प्रकार उन्होंने तर्क शून्य और भावपूर्ण कौशल से नौ मास अपने गर्भ में मुझे पाला उसी प्रकार लगभग चालीस वर्ष तक अपनी गोद में।

आती है तेरी याद मुझे तेरे बाद मा !
है याद में भी दूध का पहला सा स्वाद मा !

मेरी माता का नाम गोविन्दी था। वे रेजुआ निवासी लाला छेदा लाल पटवारी की लड़की थीं। रेजुआ जलेसर से लगभग ६ मील दूर है। 'वे निरक्षर थीं। परन्तु निरक्षर भट नहीं। बुद्धि कुशाग्र थी। लड़कियों के पढ़ाने की चाल होती तो

वह अवश्य विदुषी हो गई होतीं। वे भी छोटी ही अवस्था में पितृहीन हो चुकी थीं। और उनकी माता ने ही उनको पाला था। मुझे अपनी नानी की अच्छी याद है। यह एक दैवी घटना है कि मैं दो माताओं की एकाकिनी स्नेह-सरणी का प्रति फल हूँ। अतः मेरी प्रकृति में मातृ प्रेम का अधिक पुट है।

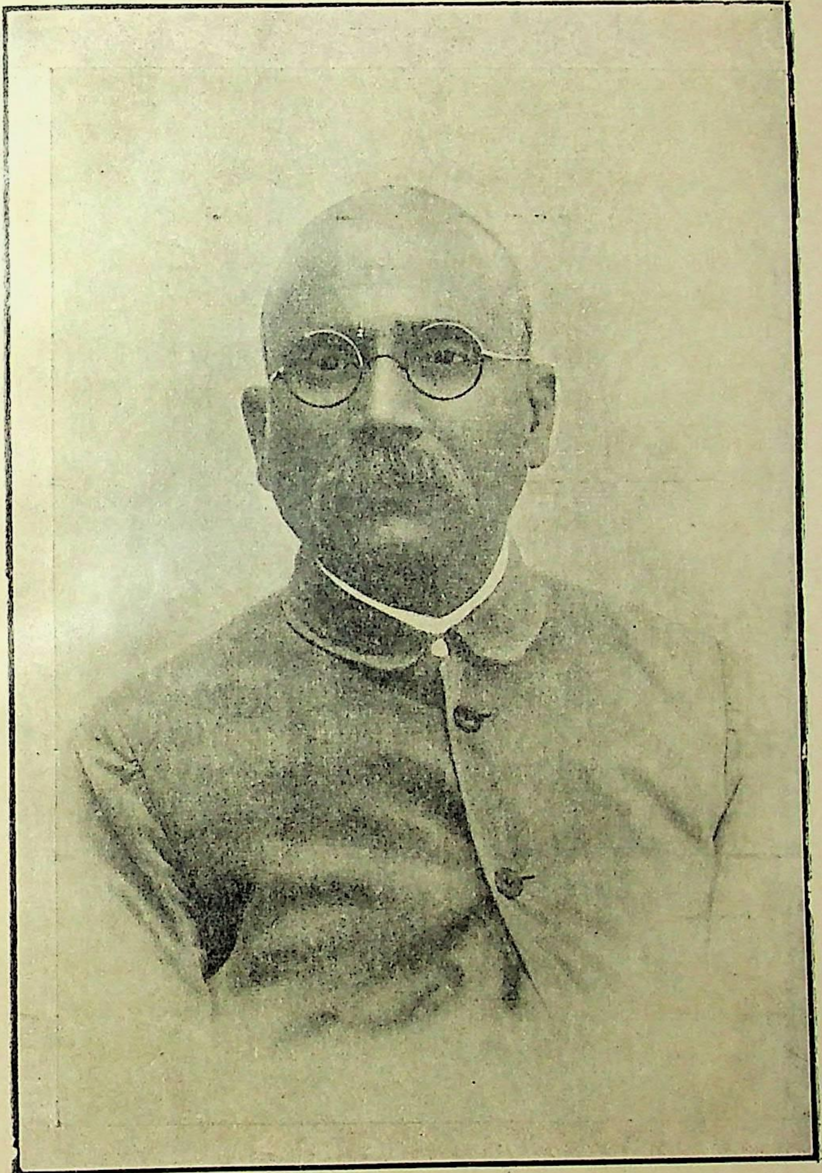
एक आकस्मिक घटना का भी वर्णन अनुचित न होगा। मेरे पिता जी का नाम था कुंज विहारी और माता जी का गोविन्दी (गोविन्द की पत्नी)। मुझे बचपन में कृष्ण मुरारी लाल कहते थे। जो उपयुक्त ही था। परन्तु पंडित जी ने मकर राषि का विचार कर 'गंगाप्रसाद' नाम रख कर आकाश की बात सोची। कई वर्ष तक मेरा कृष्णमुरारीलाल ही नाम रहा। परन्तु जब लोगों ने अच्छे शब्द को बिगाड़ कर मुझे "मुरारी" "मुरारी" कहना आरम्भ किया तो मेरे आत्म-सम्मान ने विरोध किया और मैंने अपना पहला ही नाम स्वयं लिख लिया।

शिक्षित और अशिक्षित माताओं में शायद एक भेद है। कम से कम आजकल की शिक्षित माताओं में तो उसकी झलक पाता हूँ। अशिक्षिता माताओं में प्रेम और त्याग की मात्रा अधिक होती है। यदि शिक्षा वस्तुतः इस प्रेम और त्याग भाव को कम कर देती है तो यह शिक्षा का अवगुण ही मानना पड़ेगा। परन्तु संभव है यह फल शिक्षा का न होकर वातावरण का हो। अभी जब मैं यह पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। मेरे कान में एक सिनेमा के विज्ञापन की घोषणा आ रही है जिसमें कई तारागण (सिनेमा स्टारों) और कलाकारों का नाम घोषित किया जा रहा है। मैं सोच रहा हूँ कि यह देवियाँ अधिक कलाकार हैं या मेरी मा जिसकी कला का नमूना मैं स्वयं हूँ।

मैं यहाँ एक उदाहरण देता हूँ। एक बार मेरी आँखें दुखने आ गईं और एक मास तक अच्छी नहीं हुईं। वैद्य ने कहा "माता को नमक खाना बन्द कर देना चाहिये। इससे दूध में कसक उत्पन्न होती है।" मेरी मा ने एक मास तक बिना नमक के रोटी खाई। क्या मैं भी आज किसी के लिये ऐसा कर सकूँगा? यह एक प्रश्न है। आजकल की मातायें तो बीमार बच्चों को नौकरों पर छोड़कर सिनेमा देखने चल देती हैं। उन्हें ज्ञात नहीं कि सब कलाओं से उत्कृष्ट कला मातृकला है जो जननियों को देवी बना देती हैं।

मेरी माता में आत्म-गौरव और स्वातंत्र्य प्रेम बहुत था। उन्होंने अपने वैधव्य और मेरे बालपन में इसका अच्छा परिचय दिया। मेरे पिता तीन भाई थे। वे तीनों अलग-अलग रहते थे। पिता की मृत्यु पर यह प्रस्ताव किया गया कि परिवार फिर संयुक्त कर दिये जायं। इसके लिये पर्य्याप्त युक्तियाँ दी गईं जो निराधार न थीं। बार-बार के सुझाव के पश्चात् एक दिन मेरी मा राजी हो गईं। उस दिन दोपहर को समस्त परिवार का खाना एक ही स्थान पर बना। परन्तु तीन चार घण्टों में ही मेरी मा ने बरसों पीछे आने वाली परिस्थिति ताड़ ली। सायं-काल को हम लोग पूर्ववत् अपने घर में आ गये। बहुत दिनों पीछे उन्होंने समस्त भेद बताया, "मुझे अपना चूल्हा ठण्डा देखकर बड़ा दुःख हुआ। मैं अपनी स्वतंत्रता दूसरों के हाथ में नहीं दे सकती और न अपने बच्चों के भविष्य को दूसरों का ऋणी बनाकर बिगाड़ सकती हूँ। जैसे बनेगा मैं अपने बच्चों को स्वयं पालूँगी।"

पाठक वर्ग भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति के अनुसार इस पर टिप्पणी करेंगे। मुझे याद नहीं कि मेरे परिवार में उस समय क्या प्रतिक्रिया हुई। परन्तु आज मैं कह सकता हूँ कि मेरी माता



श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय एम० ए०

[सन् १९२८



श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय एम० ए०

[सन् १९३१

का निश्चय अत्यन्त बुद्धिमत्ता, त्याग-भाव और साहस से परिपूरित था।

इसी प्रकार एक दूसरी घटना है। जब से मेरे पिता का देहान्त हुआ मेरे मामा लोग अपनी बहन और उसके बच्चों से अधिक स्नेह करने लगे थे। वे यथाशक्ति हमारी सहायता करने के लिये उत्सुक रहते थे। हमारी नानी भी स्वभावतः इस पर ज़ोर देती थीं। मेरी बहन के विवाह का भी प्रश्न था। यह भी संकेत किया गया था कि हम लोग मामा के घर जाकर रहें और मेरी बहन का विवाह भी वहीं से हो। परन्तु मेरी मा ने उसी स्वतंत्रता को स्थित रखने के लिये अपनी 'देहरी छोड़ना' उचित न समझा।

एक और घटना का वर्णन करके इस कहानी को समाप्त करना चाहिये। मनुष्य के जीवन में निर्धनता से बुरी कोई विपत्ति नहीं है। मेरे घर में कोई कमाने वाला नहीं था। थोड़ी सी भूमि थी। उसका लगान आता था। मालूम नहीं क्या विपत्तियाँ आ उपस्थित हुईं कि मेरी मा ने कुए में गिरकर जीवन यात्रा समाप्त करने की ठान ली। हमारा मकान बड़ा था। एक बड़ा सा फाटक था। जो अब भी है। उसमें हौदा समेत हाथी जा सकता था। हमारे बाबा ने उसे इसी शान के लिये बनवाया था। उसकी सांकर बड़ो भारी थी। प्रायः रात को हम लोग खिड़की में होकर आया जाया करते थे, मा ने मकान छोड़ा और फाटक तक आईं। फिर सोचा और पैर आगे को न पड़े। सोचने लगीं "मैं विधवा हूँ, मेरी आयु कम है। मेरे मरने पर गांव भर में चरचा होगी। भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न टिप्पणियाँ करेंगे। मेरे बच्चों का मुँह काला होगा। यदि ईश्वर ने विपत्ति दी है तो इसको सहन करने की शक्ति भी देगा।"

किसी को यह भेद ज्ञात न हुआ। और शायद मेरे सिवाय इसको और कोई नहीं जानता।

हम लोग अपनी मा को "जिया" कहकर पुकारते थे। जिया में साहस बहुत था। इतने बड़े मकान में हम तीनों बच्चों को लिये पड़ी रहती थीं। मकान बहुत बड़ा ऊँचा और कच्चा था। वर्षा में उसके गिरने का डर रहता था। पैसे भी पास न थे। वे स्वयं सिर पर मिट्टी ढोकर छत की मरम्मत कर आती थीं। बाहर वालों को पता भी न चलता था। कुछ लोगों को भ्रम था कि हमारे पास धन है। यह सर्वथा अतथ्य था। कई बार चोर भी आये। जिया जाग पड़ीं। चोरी न हुई। होती तो चोर के हाथ क्या लगता। हाँ हमारी कठिनाइयाँ बढ़ जातीं।

एक बात और कह दूँ जो मेरे अभिमान को बढ़ाती है। माता पिता का सदाचारी होना सन्तान के सदाचार पर बड़ा प्रभाव डालता है। भारतीय स्त्रियां पातिव्रत धर्म के लिये जग द्विख्यात हैं। परन्तु भारतीय पुरुषों के लिये पत्नीव्रत धर्म कोई अर्थ नहीं रखता। हमारे कवियों ने अपने चरित्र-नायकों की प्रशंसा में अनेक रानियों का उल्लेख किया है। राजा दशरथ के तीन रानियां थी। कालिदास ने महाराजा दिलीप के सुदक्षिणा प्रेम का उल्लेख करते हुये "अवरोधे महत्यपितु" की ओर संकेत करना अनुचित नहीं समझा। परन्तु मैं कह सकता हूँ कि मेरे पिता जी पत्नीव्रत थे। पाठक शायद आश्चर्य से पूछें कि मुझे इसका क्या पता ? एक घटना सुनाता हूँ :—

एक दिन हम लोग मेले को जा रहे थे। गाँव के निकट ही मील दो मील पर कोई जगह थी। नाम याद नहीं है। मैं भी साथ था। मेरी आयु आठ वर्ष की हो या नौ की। पिता जी के साथ कई समवस्यक युवक भी थे। शायद बालक मैं अकेला ही था। अपनी आयु के अनुसार न जाने क्या बातें करते जा

रहे थे। प्रसङ्ग क्या था यह भी ज्ञात नहीं। मेरे पिता बोले, "देखो भाई मैं कह सकता हूँ कि मैंने अभी तक पर-स्त्री का मुँह नहीं देखा"।

यह शब्द मुझे अब तक याद हैं। उस समय मैं इन शब्दों के अर्थ नहीं समझता था। बचपन में हम बहुत से वाक्य सुना करते हैं जिनकी स्मृति मनः पटल पर रह जाती है और समय आने पर ही उनके अर्थों का ज्ञान होता है। परन्तु बालक अपना आचार केवल माता पिता के ऊपरी व्यवहारों से नहीं बनाता। माता पिता के वास्तविक आचार का फोटो तो बच्चे के लिङ्ग शरीर पर पड़ता है और वही उसके भावी आचार की आधार शिला बनती है। जो बात बहुत से आचार शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त करनी कठिन होती है वह परिवार की परम्परा और पैतृक अदृष्ट प्रभाव से सुगम हो जाती है।

यदि मैं ऐसे पितृ देव के आवश्यक संरक्षण से वंचित रहा तो यह सन्तोष की बात है कि मेरी माता ने मेरी इस कमी को पूरा कर दिया। मेरी माता ही मेरी मा भी थीं और बाप भी।

———

विद्याकाल का पूर्वार्द्ध

मैं फारसी के अध्ययन का कुछ हाल लिख चुका हूँ। दो वर्ष मरथरा के आरंभिक स्कूल में भी पढ़ा। परन्तु मैं पढ़ता था उर्दू और स्कूल के अन्य विद्यार्थी थे हिन्दी पढ़ने वाले। पिता जी की मृत्यु के पश्चात् समस्या कठिन हो गई। माता जी चिंतित थीं। अचानक एक सम्बन्धी आ गये उनके परामर्शानुसार मैं एटे के टाउन स्कूल में भरती हो गया। इस स्कूल में उर्दू और हिन्दी दोनों में मिडिल तक की पढ़ाई होती थी। इसका नाम था तहसीली स्कूल। एक जिला स्कूल भी था जहाँ अंगरेजी पढ़ाई जाती थी। परन्तु उस समय गाँव में किसी ने अंगरेजी की ऊँची शिक्षा दिलाने का विचार तक नहीं किया। मेरे लिये इतना भी बहुत था।

उस समय मेरी अवस्था ग्यारह वर्ष की थी। वह सम्बन्धी शायद कानून गो थे। उनका नाम था श्री ज्योतिः प्रसाद। वे मुझे बोर्डिंग हाउस में भरती कर आये। एक तो उर्दू स्कूल दूसरे उस स्कूल का छात्रावास। आजकल तो उस व्यवस्था को देखकर लोग हँसेंगे। एक कच्चा सा बड़ा कमरा। जिसमें बीस पचीस लड़के रहते थे। एक कोठरी में भोजनशाला थी। उसमें एक कहार केवल एक रुपये मासिक पर चौका बर्तन करने के लिये था। शेष लड़के ही अपना चौका आप करते, अपनी खाने की थाली आप मांजते और अपने दैनिक उपयोग के लिये कुंए से पानी आप खींचते थे। स्कूल प्रातः काल से लेकर दो घण्टे रात तक होता था। दोपहर और सायंकाल को दो दो घण्टे की

छुट्टी होती थी। खेल कूद या कसरत का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। हम लोग तोते की भांति दिन भर रटा करते थे। भोजन की भी अच्छी व्यवस्था नहीं थी। दोपहर को केवल एक दाल और सूखी रोटी। शाम को केवल एक शाक। और दोपहर की रक्खी हुई रोटियां। वह भी यदि दोपहर से बच जातीं तो बराबर बराबर बांट दी जातीं। स्वाद और पसन्द का तो कोई प्रश्न ही न था। न घी और दूध का। कभी कभी हम लोग बाजार से एक पैसे का घी ले आते थे जो शायद आधी छटांक आता था। वही हमारा विशेष भोजन था। इस भोजन में दो रुपये के लगभग मासिक व्यय होता था। आठ आने फीस लगती थी। हमारी माता हम को लगभग साढ़े तीन रुपये मासिक देती थीं। वह भी अत्यन्त कठिन था। जब पैसा न होता तो जो कुछ जेवर था उसको गिर्वी रख आते थे जिसमें दस रुपये की चीज के ५) ही मिलते थे। माता समझती थीं कि किसी दिन जेवर छुड़ा लेंगे। परन्तु ब्याज इतनी बढ़ जाती थी कि जिसके पास दैनिक आवश्यकताओं के लिये धन न हो वह गिरवीं रक्खा जेवर कैसे छुड़ा सकता था। शनैः शनैः हमारा समस्त जेवर एक पंडित जी के घर पहुँच गया जो लेन देन भी करते थे और पंडिताई भी। परन्तु मेरे पढ़ने में बाधा नहीं हुई। न मुझे कोई कष्ट ही अनुभव हुआ। लड़कपन था। पढ़ने की धुन थी। पढ़ते थे और मौज करते थे।

शनिवार के सायंकाल को प्रायः घर आते थे, छः मील पैदल। कभी कभी तो सामान सिर पर लिये हुये। सोमवार को प्रातःकाल ही अकेले चल पड़ते थे। साथ जाने के लिये कौन था? कभी कभी तो इतने अंधेरे में चल देते थे कि प्रातःकाल स्कूल लगने से पूर्व ही एटे पहुँच जाते थे। जब दुबारा लौटकर घर आते तो माता जी कहतीं "अरे। जब तुम गये इतना अंधेरा था कि मैं

बार बार बाहर आकर हाथ देखती तो मन में कुढ़ती कि मुझे तो हाथ भी नहीं दीखता। लड़के को मार्ग कैसे दीखता होगा?" मैं हँस जाता और कहता, "जिया! मुझे तो पता नहीं मैं तो सीधा चला जाता हूँ। मुझे डर नहीं लगता।"

एक बार मेरी मा बीमार हो गईं। मुझे सूचना मिली। मैं एटे से दौड़ा आया। गाँव में आकर अपने ताऊ जी (भाई जी) के पास गया। वह हिकमत भी करते थे बिना फीस के। उर्दू में नुसखे लिख देते थे। उन्होंने नाड़ी देखी। नुसखा लिखा और कहा "इसको पिलाओ। आराम हो जायगा।" गाँव में दवा कहाँ से मिलती? मैं एटे गया, दवा खरीदी। और लौटकर दवा बनाकर पिला दो। शायद तीन घण्टे लगे हों। दोपहर से पहले ही भाई जी मिले और कहने लगे, "अरे तुम अभी यहीं खेलते हो! दवा लेने नहीं गये।" मैंने उत्तर दिया "दवा तो पिला भी दी गई।" "कहाँ से?" "मैं एटे गया और ले आया था।" "छः मील गये और छः मील लौट आये?" "हाँ। करता भी क्या! आवश्यक था?" मेरे ताऊजी को आश्चर्य हुआ परन्तु मेरी मा अच्छी हो गईं।

मैं एटे के तहसीली स्कूल में १८९२ ई० में प्रविष्ट हुआ और १८९५ ई० के अन्त तक पढ़ा। मिडिल की परीक्षा में मैं प्रान्त भर में चौथे नम्बर पर आया। उस समय मेरी अवस्था १४ वर्ष से कुछ अधिक थी। आजकल इस अवस्था में लोग इन्टर में पहुँचते हैं। परन्तु परिस्थिति को देखते हुये यह भी क्या कम था। स्कूल की पढ़ाई के अतिरिक्त एक और भी पढ़ाई है जो चरित्रनिर्माण के लिये आवश्यक हैं उसका नाम है "विपत्तियों की पाठशाला" (The School of Difficulties) जहाँ विपत्तियों से लड़ना और कष्टों का तिरस्कार करना सिखाया जाता है। यह वह भट्टी हैं जहाँ यमनियम के शस्त्र ढला

करते हैं। परन्तु मैं कह सकता हूँ कि मुझे उन अनुभवों की कटुता प्रतीत नहीं हुई। वह दिन हँसते खेलते ही कट गये और आनन्द से कटे। उनका स्मरण आज भी स्फूर्ति देता है।

मुझे दो विषयों में अधिक रुचि थी। गणित और उर्दू साहित्य। बीजगणित हमारे पाठ्यक्रम का भाग न थी। अंक-गणित रेखा गणित और माप या (Mensuration) का विशेष अध्ययन होता था। रेखागणित के प्रश्नों को निकालने में रातों बीत जाती थीं। नये से नये प्रश्न उपस्थित किये जाते थे। किसी कोण के तीन बराबर भाग कैसे किये जायं। यह एक ऐसा प्रश्न है जो साधारण विद्यार्थी से लेकर बड़े-बड़े गणितज्ञों को चिंता में डालता रहा है। मुझे भी इसने पर्य्याप्त कठिनाई में डाला। परन्तु साहस था। असंभव को संभव बनाने का भी यत्न किया जाता था। उर्दू के काव्यों से भी शौक था। आतिश, मीर, गालिब, जौक आदि के दीवान मेरे साथ रहते थे। मंगाये तो चंदा करके थे। परन्तु अधिक उपयोग मैं ही करता था। हिन्दी का अक्षराभ्यास तो था परन्तु साहित्य से परिचित न थे। अपने निज पत्र व्यवहार में गालिब की नकल करने का बहुत शौक था। उचित अनुचित का कुछ ज्ञान नहीं था।

मनुष्य के भविष्य निर्माण में ईश्वर की अदृष्ट शक्ति का भी बड़ा हाथ होता है। परदे के पीछे क्या हो रहा है यह किसी को पता नहीं। "मनुष्य सोचता है और ईश्वर कर डालता है"। (Man proposes and God disposes) यह कहावत ठीक ही है और नास्तिकों की समस्त युक्तियां इनके सम्मुख परास्त हो जाती हैं। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मिडिल की परीक्षा देकर जो घर आया तो मेरे मामा जी आ गये। वह थे पटवारी। आगे पढ़ने के लिये तो प्रश्न ही नहीं था। मुझसे पटवारी-

परीक्षा के लिये प्रार्थना पत्र दिला दिया। अच्छा हुआ कि आज्ञा की स्वीकृति देर से मिली। मैंने कोर्स पढ़ा न था। अतः मैं परीक्षा में नहीं बैठा। तीन रुपया फीस भी लगती थी। इसका भी प्रश्न था। फीस भी बची और मैं भी पटवारी होते होते बचा। जीवन-चक्र तो इसी को कहते हैं।

अचानक एक अदृष्ट और आशा-शून्य स्थान से सहायता आ गई!

करम उसको करते नहीं लगती बार!
न हो उससे नौमीद उम्मेदवार!

ईश्वर देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। मेरे एक ताऊ के लड़के थे। परिवार एक था। परन्तु शाखा दूर की थी। वह रहते भी थे दूर के गाँव में। आने जाने की रस्म भी बहुत कम थीं। पत्र व्यवहार तो था ही नहीं, उन्होंने अंगरेजी में इंट्रेंसे (उस समय का मैट्रीक्यूलेशन) पास किया था और अभी दो तीन साल पहले ही बुलन्दशहर की कलक्टरी में कापीनवीस हुये थे। वह एक सहृदय युवक थे। एक दिन एटे आये। मेरे पिता जी के देहान्त का हाल सुन चुके थे। उन्हें मेरे विषय में जानने की उत्कण्ठा हुई। स्कूल में आये, मिले और स्नेह प्रकट किया।

जब मिडिल की परीक्षा देकर मैं घर लौटा अर्थात् जनवरी १८९६ में, तो मुझे उनका पत्र मिला जिसमें लिखा था, "मेरी उत्कट इच्छा है कि तुम्हें पढ़ाऊँ। तुम मेरे पास चले आओ"। "मेरी बड़ी ख्वाहिश है" यह वाक्य मुझे अब तक याद है। आज ५७ वर्ष में भी मैं भूला नहीं। भूलता कैसे! यह तो मेरे जीवन का परिवर्तन विन्दु (turning point) था। मैंने आग्रह किया। मेरी माता राजी हो गईं। मैं कुछ पैसे लेकर सत्तू बाँधकर अकेला चल पड़ा। और बुलन्दशहर जा पहुँचा। इनका शुभ

नाम था बाबू राधा दामोदर। इन्होंने मुझे इतने प्यार से रक्खा और पढ़ाया जितना कोई पिता भी न करेगा। मेरी अंगरेजी की पढ़ाई आरम्भ हो गई।

जब परीक्षा का फल निकला और मुझे वजीफा मिलने के लिये सरकारी विज्ञप्ति हुई तो मैं अलीगढ़ के हाई स्कूल में दाखिल हो गया। यहाँ मुझे आरम्भ में दो वर्ष तक कुछ सहायता अलीगढ़ के दो प्रसिद्ध कुलश्रेष्ठ वकीलों से मिलती रही जिनका नाम था श्री तोताराम जी और श्री मुन्नीलाल जी। इनका मैं आभारी हूँ।

सारांश यह है कि मेरी शिक्षा का छकड़ा चल पड़ा और १९०१ ई० में मैंने फारसी लेकर इंट्रेंस पास कर लिया।

यह था मेरी शिक्षा का पहला युग!

———

नई ज्योति

किसी यूनानी विद्वान् ने मनुष्य जाति के दो भाग किये हैं। एक पार्थिव मनुष्य (Men of Clay) और दूसरे आग्नेय मनुष्य (Men of Fire)। पार्थिव मनुष्य वह हैं जो बेल के समान बढ़ते और फैलते हैं। परन्तु रहते पृथ्वी पर ही हैं। जैसे कद्दू की बेल, लौकी की बेल, तोरई की बेल। यह बेलें बड़ी लम्बी लम्बी होती हैं। किसी किसी के पत्ते भी बड़े होते हैं। उन पर फल भी बड़े-बड़े लगते हैं, उनमें कुछ मीठे होते हैं कुछ कड़वे भी। परन्तु बेलें पृथ्वी से ऊपर नहीं उठतीं। यदि उनको वृक्ष का सहारा भी मिलता है और उनको उस पर चढ़ा दिया जाता है तो भी उनकी गति सदा नीचे की ही ओर होती है। वे अवसर पाकर फिर भूमि की ओर ही बढ़ने लगती हैं। इसका कारण क्या है? यही कि उनमें ऊर्ध्वगति की शक्ति नहीं। अग्नि की सब से प्रथम पहचान यह है कि वह ऊपर को उठती है। उसकी गति नीचे की ओर कर दीजिये तब भी लौ ऊपर को ही उठेगी। पार्थिव मनुष्य खाते-पीते, अच्छे अच्छे मकानों में रहते और जीवन के अनेक सुखों का उपभोग करते हुये भी अपने पार्थिव शरीर के ही चारों ओर चक्कर लगाया करते हैं उनका आदर्श ऊँचा नहीं होता। आग्नेय पुरुष सदा ऊर्ध्वगति की ही चेष्टा किया करते हैं। दरिद्र हों, निर्धन हों, नंगे हों, भूखे हों, पीडित हों या अनादृत हों वह सोचते सदैव उच्च उद्देश्यों की बात हैं चाहे उनको सफलता मिल सके या न मिले।

मैं अपने जीवन पर विचार करता हूँ तो सन् १८८१ ई० से

लेकर १८९८ ई० तक १७ वर्ष मेरा जीवन नितान्त पार्थिव था। पढ़ता भी था तो इस उद्देश्य से कि खाना पीना चल सके। इस के अतिरिक्त मेरे समक्ष कोई उच्च उद्देश्य नहीं रक्खा गया था। मरथरा के निवास में तो नितान्त बाल्य काल ही था। उस समय यदि कोई इच्छा भी होती थी तो केवल इतनी कि कहीं नौकरी मिल जाय और घर का खाना चलने लगे। जब बुलन्दशहर भाई राधा दामोदर जी की शरण में आया तो आदर्श कुछ बढ़ा अर्थात् यदि मैं भी कापी नवीस हो जाऊँ तो घर के जीवन का भौतिक स्तर कुछ ऊँचा हो जाय। जब अलीगढ़ के हाई स्कूल में प्रविष्ट हुआ और अपने आश्रयदाता वकील महोदयों पर दृष्टि गई तो सोचा कि यदि मैं भी वकील हो जाऊँ तो अच्छे मकानों में रहने लगूँ और इनके समान मैं भी बग्घी पर चढ़ने लगूँ। यह सब पार्थिव विचार थे। बेल बढ़ रही थी। पत्ते भी बड़े-बड़े लगने लगे थे परन्तु उसका फैलाव पृथ्वी से हाथ भर ऊँचा भी नहीं हुआ था। यदि विचार जाता भी था तो खाने पीने की वस्तुओं तक!

इसी बीच में अचानक ऐसा प्रतीत हुआ मानों अँधेरी रात समाप्त हो गई और उषा देवी की किरणें निकलने वाली हैं। ग्रामीण भाषा में इसको कहते हैं पौ फटना। मुझे कहना चाहिये कि मेरे जीवन की रात्रि में यह पौ सी फटी और समस्त संसार के प्रति मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया।

सन् १८९८ ई० का आरम्भ था। मैं आठवें दर्जे में पढ़ता था। लगभग १७ वर्ष की आयु थी। मुझे उन दिनों भी पूजा पाठ की आदत थी। जब मैं घर पर होता था तो खड़ाऊँ पहन कर अपने ताऊ जी के कुँयें पर नहाने जाता और उनके बगीचे से गेंदें के फूल तोड़कर लाता। मेरे घर में गणेश जी की एक पीतल की मूर्ति और एक गंगाजलि रहती थी। मैंने अपने पिता

जी को उसकी पूजा करते देखा था। मैंने कुछ-कुछ उस प्रथा को जारी रक्खा। मैं उसका कोई अर्थ नहीं समझता था। परन्तु पीतल की मूर्ति के अनेक छिद्रों में गेंदे के फूलों को लगाने और मूर्ति को सुसज्जित करने से मुझे आनन्द मिलता था। कभी-कभी मैं रविवार को उपवास भी रखता था। परन्तु केवल अनुकरण मात्र! मुझे कुछ पता न था कि धर्म क्या है? ईश्वर क्या है? ईश्वर पूजा का आचार से क्या सम्बन्ध है? जब अलीगढ़ में आया तो अचलेश्वर महादेव के दर्शन करने, हनुमान चालीसा पढ़ने और शायद मंगल को उपवास रखने की प्रथा चल पड़ी। उन्हीं दिनों बोर्डिंग हाउस में बेलौन के पंडों के कुछ लड़के दाखिल हुये। बेलौन बुलन्दशहर के जिले में गंगा के तट पर एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। कर्णवास भी वहाँ से निकट है। इन स्थानों का स्वामी दयानन्द के जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। बेलौन के कई पंडे स्वामी दयानन्द के बड़े पक्के भक्त हो गये थे और उन्होंने मूर्ति पूजा सर्वथा त्याग दी थी। मैंने इससे पूर्व स्वामी दयानन्द का नाम भी नहीं सुना था। जब इन बेलौन के लड़कों ने मुझे और कुछ मेरे अन्य साथियों को अचलेश्वर महादेव के दर्शन करने के लिये जाते देखा तो उन्होंने हम लोगों की हँसी उड़ानी आरम्भ की। "यह कैसे मूर्ख हैं कि पत्थर को ईश्वर समझकर उसके समक्ष सिर झुकाते हैं। क्या मनुष्य की बनाई मूर्ति जगत का बनाने वाला ईश्वर हो सकती है" इत्यादि इत्यादि! हमारी उनकी रात दिन की बैठक। एक ही कमरे में रहते थे। हम में से दो एक पर उनकी बात का प्रभाव पड़ गया। और विशेष कर मेरे ऊपर। सबसे पहली बात जो मैंने उनसे सीखी यह थी कि प्रत्येक कार्य्य को समझ सोचकर करना चाहिये। केवल भेड़ों के समान किसी प्रथा का अनुकरण मात्र करना मनुष्य का काम नहीं है। इस प्रवृत्ति ने मेरे मस्तिष्क में एक प्रकार की रोशनी

सी भर दी। मैं अपने हर काम के विषय में सोचने लगा। मेरी आयु तो अधिक न थी। न विद्या का स्तर ही ऊँचा था। परन्तु मेरी गति का कोण बदल गया। शनैः-शनैः 'सत्यार्थ प्रकाश' भी मंगाया गया और नित्य उसका पाठ तथा बोर्डिंग हाउस के अन्य विद्यार्थियों से शंकासमाधान तथा विचार विनिमय भी होने लगा। कुछ ऐसे विद्यार्थी भी थे जिनको नये विचारों से घोर विरोध था। वह हमारी हर बात का खण्डन करते और नई-नई युक्तियाँ पुरानी रूढियों की पुष्टि में देते थे। हम भी ऊहापोह करके सत्य को खोजने और उसको स्थापित करने का यत्न करते थे। हमारा परिश्रम केवल बातों तक ही सीमित नहीं था अपितु अपने आचार-व्यवहार के सुधारने पर भी ध्यान दिया जाता था।

उन दिनों मुझे हुक्का पीने की आदत पड़ गई थी। यह आदत घर से आरम्भ हुई थी। मेरे पिता जी और सभी गुरुजन हुक्का पीते थे। हुक्का पीना शान समझा जाता था। बालक हुक्का नहीं पीते थे। और जो दर्जे में छोटे थे वह बड़ों के सामने नहीं पीते थे। अतिथियों के सत्कार का एक मात्र रूप हुक्का था। घर की स्त्रियाँ हुक्का नहीं पीती थीं। परन्तु मेरी दो बड़ी बुआ जो मेरे पिता जी से बहुत बड़ी थीं हुक्का पिया करती थीं। जब वह अपनी ससुराल से आया करतीं तो हुक्का उनके साथ-साथ आया करता। मेरे पिता जी के देहान्त के पश्चात् मेरे घर में कोई ऐसा पुरुष न रहा जो आये गये को हुक्का भी पिला सकता। मेरी माता को यह बहुत अखरता था। मैंने उनका संकेत पाकर हुक्का पीना आरम्भ कर दिया और जब मैं सामने हुक्का रख कर गुड़गुड़ाने लगता तो मुझे ऐसा प्रतीत होता मानों मेरी शान बढ़ गई है। एक बार मेरे मामा ने देख लिया। मैं डरा परन्तु मामा जी कहने लगे, "पीते

हो तो पियो। खाने पीने की चीज में क्या शरम ?" अब क्या था, जो कुछ रही-सही झिझक थी, वह भी जाती रही। जब अलीगढ़ के हाई स्कूल में आया तो देखा कि जाटों के प्रायः सभी लड़के जो बीस-बीस, बाईस वर्ष के थे हुक्का पीते थे। और बोर्डिङ्ग हाउस में हुक्के की रोक-टोक न थी। यही नहीं हम लोग कुछ ऐसे शरीर हो गये कि जो नया लड़का आता उसको हुक्का सिखाये बिना नहीं रहते। बोर्डिङ्ग हाउस के सुप्रिन्टेन्डेन्ट (अध्यक्ष) सीधे मनुष्य थे। वे अधिक छानबीन नहीं करते थे। जब उनके आने का समय होता तो हुक्कों को चारपाई के नीचे छिपा दिया जाता था।

परन्तु जब आर्य समाज का प्रकाश हमारे मस्तिष्कों में पड़ा और सन्ध्या सीखी तो यह भी प्रस्ताव हुआ कि हुक्का भी छोड़ना चाहिये। पहले तो प्रस्ताव हुआ कि पान खाने लगो। हुक्का छूट जायगा। परन्तु अनुभव यह हुआ कि एक के स्थान में दो लतें लग गईं। एक दिन अचानक मैं बाजार से तमाखू लाया। एक लड़के ने आकर हँसी में कहा, "मुझे दे दो।" मैंने उसको तमाखू दे दी और उस दिन से तमाखू पीना बन्द हो गया। हमारे कई साथियों ने हुक्के तोड़ दिये। हवन करना आरम्भ किया। दिवाली के अवसर पर बोर्डिङ्ग हाउस में एक बड़ा हवन किया गया। अलीगढ़ में एक प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् वैद्य कल्याणदत्त जी रहते थे। वे हवन में आये और मेरा यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। स्वभावतः अन्य विद्यार्थियों ने हँसी भी उड़ाई, विरोध भी किया परन्तु हम लोगों की दृढ़ता में कोई कमी नहीं आई। किसी-किसी अंश में विरोध बहुत बढ़ा। परन्तु उस विरोध ने हमको दृढ़ बना दिया। इसका प्रसङ्गानुसार आगे उल्लेख किया जायगा।

———

आदर्श और उद्देश्य

अंधेरे में मनुष्य टटोल कर चलता है। प्रकाश में मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगता है। गड्ढों और मार्ग में विवेक उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य गड्ढों को छोड़ता और मार्ग पर चलने का यत्न करता है।

मेरे समक्ष अब तक जो आदर्श थे अपने सम्बन्धियों के अथवा बाहर वालों के। वे सब अंधेरे में टटोलने के समान थे। जो चमकीली वस्तु देखी उसी ने आकर्षित कर लिया। आदर्शों के समकक्ष ही उद्देश्य भी थे। क्योंकि जीवन का उद्देश्य तो कोई था ही नहीं। परन्तु अब विचार धारा बदली। हर बात में सोच विचार और तर्क होने लगा। कुछ ऐसी घटनायें सामने आईं कि वकालत की ओर से घृणा हो गई। और वकीलों का आदर्श छूट गया। नौकरी के भिन्न-भिन्न रूपों की तुलनात्मक समीक्षा की जाने लगी। किस काम में असत्य कम और सत्य अधिक सुरक्षित रह सकता है? थे तो लड़के और मिडिल कक्षा के विद्यार्थी, परन्तु उड़ान मारते थे आकाश की। निर्धन भी थे और घर की रोटी की भी चिन्ता थी। परन्तु इस चिन्ता का रूप बदल गया था। धर्म भाव ने धन-इच्छा को दबा दिया था। कुछ तो कठिनाई सहन करने की आदत थी। कुछ उद्देश्यों के बदलने से और बढ़ गई। अन्त में निश्चय किया कि किसी प्रकार बी० ए० तक पढ़ना चाहिये। योग्यता बढ़ेगी तो धर्म-अधर्म का विवेक भी हो सकेगा।

दृष्टि-कोण में एक और भी परिवर्तन हुआ। उस युग में

बाल विवाह की कुप्रथा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। यदि मेरे पिता जी जीवित होते तो बारहवीं वर्ष गाँठ से पहले ही विवाह का गठ-बन्धन हो गया होता। पितृहीन बालक का विवाह भी कौन करता ? माता जी को इसका विशेष दुःख था। जिसका विवाह पंद्रह वर्ष से पूर्व न होता उसका मरणपर्यन्त कोई विवाह न करता। "कोई खोट होगी तभी तो इतना बड़ा हो गया और किसी ने विवाह नहीं किया।" मेरी माता जी बड़ी बुद्धिमती थीं। परन्तु यह निर्बलता उनमें भी पर्याप्त थी। कई बार नाई देखने आया। आजकल तो "नाई देखने आया है" इस वाक्य का कोई अर्थ भी नहीं समझता। परन्तु मेरे बाल्य-काल में इस वाक्य का विशेष अर्थ था। लड़की के पिता विवाह से पूर्व वर को देखना भी पाप समझते थे। वर खोजने का काम कुल के नाई या पुरोहित के हाथ में था। जब घर वालों को सूचना मिलती कि नाई देखने आया है तो बालकों को सजा कर बाहर निकालते थे। "मुँह धोलो। बाल काढ़लो ! नये कपड़े पहन लो। नाई देखने आया है"। मैं इन सब परीक्षाओं से बचा रहा क्योंकि जब कभी कोई नाई आता तो पड़ोसी बहका देते, "अरे। इनके घर में तो मुंजी भांग भी नहीं है। अपने जिजमान की लड़की को क्यों कुओं में डालते हो ?" इस प्रकार न जाने कितनी लड़कियाँ हमारे परिवार रूपी कुयें से बच गईं परन्तु हमारी माता जी का खेद उतना ही दिन दूना बढ़ता गया। न जाने उन दिनों उन्होंने कितने देवी देवताओं की मानता की होगी।

परन्तु एक बार बिल्ली के भागों छींका टूट ही पड़ा। एक सज्जन अलीगढ़ बोर्डिङ्ग हाउस में आये। मुझे देखा। और कुछ बातचीत भी की। उनको न जाने मुझ गरीब की क्या अदा पसन्द आई कि उन्होंने सम्बन्ध पक्का कर लिया। विवाह का

तो सम्प्रति प्रश्न ही न था। मेरी माता जी ने सन्तोष का श्वास लिया। पक्की हो गई है तो विवाह भी किसी दिन हो ही जायगा। इन के बहकने की भी आशा कम थीं क्योंकि यह मेरे मामा के मित्र थे।

मेरे सहपाठी अधिकतर विवाहित थे। और मुझे भी विवाहित होने की चाह थी। यह सोच नहीं था कि जो नया व्यक्ति आयेगा वह क्या खायेगा। यह चिन्ता न मुझे थी न मेरी माता को। माता ने अपने जेवरों में से किसी न किसी प्रकार एक दो छिपा कर रख छोड़े थे पुत्रवधू को पहनाने की ममता में। जब मैं पाँच छः वर्ष का था तो बहुधा अपने बाबा से कहा करता था, "बाबा। अब तो तुम जैसी रोटी मिले खालो। मेरी सेठानी आयेंगी तो वह अच्छी-अच्छी रोटी बनाकर खिलाया करेंगी"। बाबाजी "पगला" कहकर हँस दिया करते थे। बाबाजी तो क्या, मेरे पिता जी को भी उस शुश्रुषा का अवसर न मिला। माताजी को जब कुछ आशा बंधी तो मेरे विचार बदल गये। सत्यार्थ प्रकाश में तो लिखा था कि पच्चीस वर्ष से पूर्व विवाह ही न करना चाहिये। आर्य्य सहपाठियों में यह चर्चा जोर पकड़ गई। आर्य्य समाज के व्याख्यानों मे भी यही सुनाया जाता था। विवाह करने और सेठानी जी को बुलाने की सब बातें कपूर बनकर उड़ गईं।

यदि उस समय विवाह की पक्की न हो गई होती तो पता नहीं जीवन का प्रोग्राम क्या बनता। परन्तु पक्की हो चुकी थी। कुछ बात समझ में नहीं आती थी। कोई अनुभवी वृद्ध पुरुष समझाने वाला भी न था।

उधर मेरी माता जी के कान भरने वाले बहुत थे। आर्य्य समाज गाँव भर के लिये एक नई चीज़ थी। मैं हवन किया करता था। यह बात मेरी मा को अच्छी लगती थी। जब लोग

कहते कि तुम्हारा लड़का बिगड़ रहा है तो उनको विश्वास न होता था। परन्तु मेरे कुछ सम्बन्धियों ने जब ऐसी कहानियाँ सुनाना आरम्भ कीं कि "अमुक आर्य हो गया था उसका सर्वनाश हो गया।" "अमुक आर्य हो गया तो उसके घर वाले मर गये" तो उनको कभी-कभी शंकित हो जाना पड़ा। मैं घर बहुत कम जाया करता था। महीनों में एक दो दिन के लिये। जब वह पूछती थीं तो मैं कुछ समझा देता था।

इधर मेरी पक्की हुये कई वर्ष बीत चुके थे। मेरे श्वसुर ने आग्रह किया तो मा ने विवाह की तिथि नियत कर दी। मुझे बुलाया गया। मैं उस समय वैदिकाश्रम अलीगढ़ में रहता था। इसका उल्लेख आगे करूँगा। यह निश्चय हुआ कि यदि विवाह टल न सके तो कम से कम वैदिक रीति (स्वामी दयानन्द कृत संस्कार विधि) के अनुसार तो हो। अलीगढ़ से ही एक आदमी मेरे श्वसुर के पास भेजा गया और अपनी शर्तें लिख दी गई। साथ में संस्कारविधि भी भेजी गई। ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ था कि लड़का अपने विवाह की शर्तें स्वयं निश्चित करे। गाँव भर में शोर मच गया। परन्तु मेरे श्वसुर जी ने कहा, "लड़का है। बाहर रहता है। किसी के बहकाने में आ गया है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि इसकी बात मान ली जाय।" मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, मैं घर आया। लगुन (अर्थात् तिलक) के दिन मैं घर पहुँचा। वहाँ देखा तो तूफान मचा हुआ था। मेरे मामा जी बहुत बिगड़े। वह इसीलिये मेरे घर आये थे। मेरे चाचाओं ने भी विरोध करना आरम्भ किया। अनेक प्रकार के दबाव डाले गये। मेरे चाचा ने कहा "हम बारात न जायंगे।" मैंने कहा, "न जाइये।" इस पर उन्होंने कहा, "हम घर में भी नहीं रहेंगे"। मेरे मामा जी ने कहा, "इस प्रकार विवाह नहीं हो सकता।" मैं बहुत प्रसन्न हो गया कि अच्छा सगाई तोड़ दो। मुझे विवाह करना

स्वीकार नहीं है। तिलक क्या था दुःखद प्रसङ्ग था। माता जी रो रही थीं। घर की स्त्रियां मुझे समझा रही थीं। मैं अकेला था। अन्त को किसी ने झूठ-मूठ सूचना दी और यह शायद मेरे मामा जी की प्रेरणा का प्रतिफल था कि मेरे श्वसुर कहते हैं कि जिस लड़की की सगाई छूट जाय उसको घर में कैसे रक्खा जा सकता है। ऐसी दुर्भागिनी को तो मार डालना ही पड़ेगा।

मेरा जी काँप गया। मैं ने विरोध के हत्यार डाल दिये। मैं किसी प्रकार भी इस भीषण परिणाम का उत्तरदातृत्व अपने ऊपर लेने के लिये उद्यत न था। विवाह की तैयारियां होने लगीं। मुझे प्रत्येक छोटी बड़ी पौराणिक रस्म करनी पड़ी। मेरी आत्मा को बहुत पीड़ा होती थी। मुझे विवाह की कुछ भी खुशी न थी। परन्तु घर भर खुश था। सिवाय मेरी माता जी के जिनको मेरी आन्तरिक पीड़ा क्लेश दिये बिना नहीं रहती थी। वह पुत्र-बधू चाहती थीं। उनको किसी विशेष रीति की चिंता न थीं! परन्तु कोई उपाय न था। दो तीन सप्ताह यही कलह रही। उन दिनों विवाहों में वेश्याओं के नृत्य की बहुत बुरी प्रथा थी। जिस बारात में वेश्या न हो या बढ़िया वेश्या न हो उसको गाँव वाले बहुत तंग करते थे। क्योंकि बारातें ही उनके मनोविनोद का साधन थीं। मेरी शादी में भी वेश्या का नृत्य हुआ। मैं उसमें शामिल नहीं हुआ। पंडित जी ने संस्कार के समय मेरे आंसू पोंछने के लिये संस्कार विधि के कुछ मंत्र भी पढ़ दिये। परन्तु मैं कुछ इतना आगे बढ़ चुका था कि इसको उपहास मात्र ही समझता था। अन्त को विवाह हो गया। मैं विवाह के दो तीन दिन पीछे ही अलीगढ़ चला गया। न वर ने बधू देखी, न बधू ने वर। हमारे परिवार में ऐसी ही प्रथा थी।

अलीगढ़ का वैदिकाश्रम

अलीगढ़ के पुराने भाग के उत्तर की ओर रेलवे लायन के पार अतरौली को जाने वाली सड़क के पूर्वी किनारे पर एक नया मुहल्ला बस गया है जिसको विष्णुपुरी कहते हैं। विष्णु पुरी से मिला हुआ ही गान्धी-नेत्र-चिकित्सालय का विशाल भवन है जो डाक्टर मोहन लाल का आँख का हस्पताल कहलाता है। इसके कुछ आगे एक टूटी सी बिल्डिंग दिखाई देगी जिसमें नाम मात्र दो चार विद्यार्थी रहते हैं। यह है अलीगढ़ का वैदिकाश्रम।

वैदिकाश्रम का मेरे जीवन से विशेष सम्बन्ध है। सांसारिक जीवन में प्रविष्ट होने से पहले मुझे जो लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं वह वैदिकाश्रम की छत्र-छाया में ही। मैंने आध्यात्म की जो शिक्षा प्राप्त की वह वैदिकाश्रम में ही। मुझे अधार्मिक शक्तियों से लड़ने की शिक्षा यहीं दी गई। मेरे जीवन-चक्र का मुख्य आरम्भ यहीं से होता है। मैं उन दो विद्यार्थियों में से एक था जो सब से पहले आश्रम में प्रविष्ट हुये और जिनके कारण ही आश्रम खोला गया। आर्य समाज अलीगढ़ के विकास में भी वैदिकाश्रम का बहुत कुछ हाथ है जो आजकल अलीगढ़ निवासियों को ज्ञात नहीं है।

आरम्भ इस प्रकार से हुआ। पहले लिखा जा चुका है कि मैं अलीगढ़ के सरकारी हाई स्कूल के छात्रावास में रहता था। हम में कई आर्य्य समाजी विचारों के हो गये थे। खण्डन मण्डन का बाजार गर्म था। हमारी मंडली के नेता थे दो। मैं दूसरे

(आजकल का नवाँ) दर्जे का विद्यार्थी था। और रोशन सिंह जी प्रथम दर्जे (आजकल का दसवाँ) के। कुछ हमारे साथी भी थे जो अधकचरे थे। विरोधियों का दल भी प्रबल था। शनैः-शनैः बात बढ़ती गई। नगर में सनातन धर्म के एक प्रचारक आये स्वामी हंस स्वरूप। उनके आर्य्य समाज के विरोध में सात व्याख्यान हुये। सहस्रों जनता इकट्ठी होती थी। हम भी जाया करते थे। और बोर्डिंग हाउस में भी तर्क वितर्क हुआ करता था। हैड मास्टर थे सिस्टर कैसेबिन एक ईसाई। यह भले आदमी थे। इन्होंने यह कोलाहल सुना तो अनुशासन का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। हम लोग बिना आज्ञा के ही व्याख्यानों में जाया करते थे। एक दिन हम दोनों ने विचार किया कि चोर की तरह छिप कर व्याख्यानों में नहीं जाना चाहिये। क्यों न हैड मास्टर से आज्ञा लेकर जायें। स्वामी हंस स्वरूप के उत्तर में आर्य्य समाज ने चम्पाबाग में व्याख्यानों की आयोजना की थी। समाज का कोई अपना भवन न था। हम आज्ञा मांगने हैड मास्टर साहेब के पास गये तो उन्होंने आज्ञा न दी। हम उस दिन व्याख्यान में न गये। परन्तु आर्य्य समाजी नेताओं के समक्ष यह प्रश्न रख दिया गया। उस समय आर्य्य समाज में दो विशेष जोशीले नेता थे। श्री छोटेलाल जी भार्गव बी० ए० जो सायंस मास्टर थे और दूसरे दतावली के रहने वाले मुंशी कृष्ण लाल जी। हमारी शिकायत पर आर्य्य समाज में जोश फैला। निश्चय हुआ कि वैदिकाश्रम अर्थात् छात्रावास खोल देना चाहिये। तदनुसार १८९९ के अगस्त या सितम्बर में वैदिकाश्रम दानपुर वालों की किराये की कोठी में खोल दिया गया। और हम दोनों बोर्डिंग हाउस से भाग कर आश्रम में प्रविष्ट हो गये।

इसमें हम दोनों का दोष था। हैड मास्टर महोदय मुझसे

बहुत प्रसन्न रहते क्योंकि मैं कक्षा में प्रथम रहता। उन्होंने ट्रांसलेशन प्रथम कक्षा के साथ करने को मुझे आज्ञा दे रक्खी थीं। हम दोनों निर्धन थे। घर से कुछ पैसा न ला सकते थे। चार रुपये वजीफा मिलता था। फीस से मुक्त थे। यदि नियमानुसार आज्ञा लेकर छात्रावास छोड़ते तो साधारण सी बात थी। परन्तु हमने अनुशासन का भङ्ग किया। कुछ यह भी अर्थ निकाला गया कि सरकारी छात्रावास के विरोध में एक नया आश्रम खुल रहा है। हैडमास्टर हम दोनों से अप्रसन्न हो गये, अनुशासन के भंग करने का अपराध लगाया गया। हम दोनों जोश में थे। जोश में होश को स्थान नहीं मिलता। अन्त को हम पर फीस लगा दी गई। श्री रोशन सिंह तो चार मास तक कठिनाई झेल कर उसी वर्ष इन्ट्रेंस पास हो गये। मैं एक कक्षा नीचे था। अतः मुझे अभी १६ मास काटने थे। इसी बीच में मेरे विवाह का प्रश्न उपस्थित हुआ था जिसका वर्णन पीछे हो चुका है। हम दोनों ट्यूशन किया करते थे। अर्थात् स्कूल से आकर शाम को लड़कों को घर पर पढ़ाया करते थे। उसी से व्यय चलता था। वैदिक आश्रम के अधिकारी हम को शहीद समझ कर हमारे ऊपर भर सक दया करते थे। हम भी मस्तमौला थे। जोश में कठिनाइयाँ भी सह्य हो जाती हैं। हमारा आन्तरिक भाव यह था कि हम यह सब त्याग धर्मार्थ कर रहे हैं। थी तो वस्तुतः ऐसी ही बात! हम ने जान बूझ कर कठिनाई को निमंत्रण दिया था। इससे शारीरिक कठिनाइयाँ तो हुईं परन्तु मन में आत्म-गौरव का ही राज रहा। वैदिकाश्रम के आवास से आध्यात्मिक लाभ बहुत हुआ। मुंशी कृष्ण लाल जी आश्रम के अवैतनिक अध्यक्ष बने। श्री छोटे लाल जी भार्गव ने घर छोड़कर केवल शिक्षार्थ आश्रम में रहना आरम्भ किया। प्रातः काल चार बजे ही हम को उठाया जाता था। निकटवर्ती बाग के

कुंए पर स्वयं जल खींच कर स्नान करते। छोटे-छोटे विद्यार्थियों को बड़े विद्यार्थी स्नान कराते। तत्पश्चात् संध्या और हवन होता। वास्तविक तपस्या का जीवन था। आश्रम के पास न धन था न घर। अतः नौकर भी दो थे एक पाचक और दूसरा कहार। यह भी कभी-कभी धोखा दे जाते। सरकारी होस्टल और इस छात्रावास में आकाश पाताल का भेद था। परन्तु संरक्षक और संरक्षित दोनों में पूर्ण सहयोग था। अतः शिकायत का कोई स्थान नहीं था। सायंकाल को एक घण्टे के लगभग 'धार्मिकक्लास' होती थी। श्री छोटेलाल जी भार्गव का उपदेश हुआ करता था। यह बड़े जोशीले और व्युत्पन्न बुद्धि के आर्य्य थे। 'सत्यार्थ प्रकाश' का अध्ययन और अध्यापन बड़ी कुशलता से होता था। अलीगढ़ ज़िले के आर्य्य विद्यार्थी अब अधिकतर आश्रम में ही रहने लगे। ज़िले के प्रसिद्ध आर्य्यगण भी आया करते और वहाँ ठहरते। छलेसर, बरौठा, हरदुआगंज आदि के कई विद्यार्थी इसी आश्रम के पुराने छात्र थे। उस समय के आर्य्य नेताओं में अतरौली के श्री कालीचरण जी, बरौठा के खमानसिंह जी, जलाली के श्री हीरामणि जी के नाम मुझे इस समय याद पड़ते हैं।

बाहर के भी जो बड़े-बड़े उपदेशक और विद्वान अलीगढ़ में आते उनका आतिथ्य सत्कार भी आश्रम द्वारा ही होता था। श्री पं० कृपाराम शर्मा जगरानवी जो पीछे से स्वामी दर्शनानन्द जी के नाम से प्रसिद्ध हुये उन दिनों बुलन्दशहर में रहते थे और उनका अलीगढ़ आना जाना बना रहता था। वे हमको न्यायदर्शन के सूत्र समझाया करते थे। श्री पं० गणपति शर्मा, श्री पं० नन्दकिशोर देवशर्मा आदि अन्य विद्वानों की बातें सुनने का भी नित्य अवसर मिला करता था। जीवन में स्वातंत्र्य भी था और कठोरता भी। यदि कभी झूठ मुँह से निकल जाता तो प्रायश्चित्त करते थे। एक समय खाना न खाते या गायत्री

का जाप करते। कुछ विद्यार्थी शिथिल भी थे परन्तु उनको भी अधिक जोशीले छात्रों से सहारा मिलता था। हम लोग एक दूसरे के निरीक्षक थे। अपने भी और गुरुजनों के भी। एक दिन मुझे याद है कि श्री कृष्णलाल जी के ऊपर एक केस हो गया। हम लोग बाग से संध्या स्नान आदि करके आ रहे थे। पुलिस का आदमी आया था या तहसील का। ठीक याद नहीं। चातुर्य चाहता था कि मुँशीजी छिप जाते। परन्तु इस अतथ्य-व्यवहार का प्रभाव हम पर बुरा पड़ता। बड़े विद्यार्थियों में काना-फूसी होने लगी। "हमको प्रतिदिन सत्याचरण का उपदेश दिया जाता है। देखें आज मुँशीजी क्या करते हैं।" मुँशीजी के चेहरे पर चिन्ता की छाया स्पष्टतया दीखने लगी। परन्तु उन्होंने परिस्थिति को ताड़ लिया और सत्य की चातुर्य पर विजय हुई। उन्होंने छिपने का कोई प्रयास नहीं किया।

हम लोगों ने आश्रम में बालार्य समाज खोला हुआ था। श्री रोशनसिंह जी प्रधान थे और मैं मंत्री। हिन्दी लिखने का अभ्यास मुझे वहीं से पड़ा क्योंकि साप्ताहिक उत्सव का विवरण हिन्दी में लिखा जाता था। व्याख्यान देना भी वहीं से सीखा। व्याख्यानों के पश्चात् श्री छोटेलाल जी त्रुटियाँ बताया करते थे। हम लोग बाजार में भी प्रचार करने जाया करते थे और बाहर जलसों पर भी। गर्मियों की छुट्टियों में मैंने पं० लेखराम जी आर्य्य मुसाफिर की तकजीब बुराहीन अहमदिया, नुसखा खब्त अहमदिया, पं० इन्द्रमणि की इन्द्रबज्र और सौलतुल् हिन्द, एक पादरी की लिखी हुई उम्महातुल मौमिनीन, प्रोफेसर मैक्समूलर की "इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस" आदि पुस्तकें पढ़ डाली थी। अष्टाध्यायी का भी थोड़ा सा भाग रटा था। मेरी उन दिनों की यह कमाई आज भी काम दे रही है। कभी तो

मुँह से अनायास निकल जाता है :—

ते नो दिवसा गताः।

भारत में गालियों का बड़ा रिवाज है। नित्य वार्तालाप में साले, सुसरे शब्दों का प्रयोग होता है। हमने अंगरेजी रीडरों में पढ़ा था "Banish bad language," अर्थात् गाली गलौज को व्यवहार में नहीं लाना चाहिये। परन्तु मैंने बड़े-बड़े सुशिक्षित वकीलों, जजों, उपदेशकों, पडितों, प्रोफेसरों को उन्हीं कुत्सित शब्दों का प्रयोग करते देखा है! देवियाँ भी अपने पतियों के मुख से अपने बाप और भाई के अपमान जनक शब्दों को सुन कर कुछ बुरा नहीं मानतीं। यह तो नित्य की बात हो गई है। वैदिक आश्रम में हम से वह बुराई सर्वथा छुड़ा दी गई। हर बात पर टोका जाता था। अब तो मुझे शिक्षित सभ्य मनुष्यों के मुख से अपशब्द सुनते ही ग्लानि सी हो जाती है। मेरी पत्नी जी तो इस प्रकार के शब्दों का घोर प्रतिरोध करती हैं।

वैदिकाश्रम की शिक्षा का प्रभाव मेरे अन्य आचारों पर भी पड़ा। इसके दो उदाहरण ही देने पर्य्याप्त होंगे :—

मेरे पास एक बाग था। उसकी आय से घर का गुजारा चलता था। वह बाग था मेरे बाबा का। उन पर किसी का ऋण था। उसने बाग नीलाम कराया। मेरे पिता जी उन दिनों कहीं नौकरी करते थे। उन्होंने मेरे चाचाओं से कहा, "देखो! बाग हाथ से जाता है। अगर तुम राजी हो जाओ तो मैं अपनी कमाई के रुपये से इसे अपने लड़के के नाम खरीद लूँ।" उनके भाइयों ने उत्तर दिया कि "हमारे हाथ से तो यह जाना ही है, किसी और ने लिया तो क्या, और तुम ने लिया तो क्या? हमारे लिये दोनों बातें एक सी हैं।"

बाग ले लिया गया। मेरे नाम पर। मैं नाबालिग था।

मेरे पिता जी वली थे। कई वर्ष इस प्रकार गुजरे। पिता जी की मृत्यु के पश्चात् लगभग दस साल तक हम पूर्ववत् उसका लगान खाते रहे। सन् १९०१ में हमारे जिले का बन्दोबस्त हुआ। हमारे चाचाओं ने पटवारी से मिलकर मेरे ऊपर दावा कर दिया कि यह संयुक्त परिवार की जायदाद है। हमको हमारा भाग मिलना चाहिये। गाँव में मेरी मा अकेली थीं। वह भी पर्दा करती थीं। एक पड़ोसी के द्वारा मेरे पास तार पहुँचा। मैं अलीगढ़ से दौड़ा आया। चाचाओं की सेवा में मैंने निवेदन किया कि आप बड़े हैं। उनका एक मात्र उत्तर यह था, "हिसाब जौ जौ। बखशिश सौसौ।" इस वाक्य के दूसरे भाग को परखने का तो मुझे अपने जीवन भर कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। पहला भाग मेरे सिर पर आ पड़ा। पड़ोसियों ने परामर्श दिया कि मुकदमा लड़ना चाहिये। सहायता देने का भी वचन दिया गया। कानूनी दावपेच भी समझाये गये। मैं कचहरी में पेश हुआ।

अदालत में पहुँचते ही मुझे अपने स्वयं दिये हुये व्याख्यान स्मरण आ गये, जिनमें राम और भरत के राज्य को फुटबाल बना कर खेलने के दृष्टान्त सुनाये जाते थे। आजकल के आर्य समाज के मंत्र के व्याख्यानों में कुछ भिन्नता है। उस समय अधिक बल आत्म सुधार पर ही दिया जाया करता था। व्याख्यानों की स्मृति ने मुझे लज्जित कर दिया। समस्त कानूनी बल बेकार हो गया। शाम को घर आकर मैंने हथियार डाल दिये। दावा छोड़ दिया। मेरी माता को उस दिन अत्यन्त दुःख हुआ। पड़ोसी मुकद्दमे-बाजों ने मुझे बहुत खरी-खरी सुनाई "भूमि वह है जिसके एक-एक इंच पर लोग प्राण दे देते हैं।" परन्तु मेरे ऊपर कुछ प्रभाव नहीं हुआ।

बाग का बहुत सा भाग मेरे हाथ से निकल गया। परन्तु

एक लाभ हुआ। पारिवारिक वैमनस्य जो मुद्दत से कई कारणों से चला आरहा था समाप्त हो गया।

एक और घटना है। वह भी एक बाग की! मेरे बाबा जी पर अवागढ़ के राजा का कुछ ऋण था। उसके बदले बहुत दिनों पहले उनका एक बाग नीलाम होकर अवागढ़ के स्वत्व में पहुँच चुका था। अवागढ़ बड़ी रियासत है। हमारे गाँव में उनकी कुछ भी जायदाद न थी। सिवाय उस बाग के। राजा के कर्मचारियों की असावधानी से पटवारी के कागजों में कुछ त्रुटि रह गई। मेरे चाचाओं को यह बात मालूम पड़ गई। उन्होंने उस बाग पर कब्जा कर लिया। वह मेरी मा से बोले, "इस पर मुकद्दमा लड़ना पड़ेगा। कुछ थोड़ा सा व्यय होगा। बाग तो हमारे हाथ आ ही गया है यदि तुम तिहाई व्यय देना चाहो तो तुम्हारा भी इसमें भाग हो जाय।" मेरी मा लोभ में आ गई और स्वीकृति दे दी।

इन बातों में मेरे दो ही उपदेष्टा थे एक सत्यार्थ प्रकाश और दूसरा बाबू छोटे लाल जी। मैंने समस्या उनके समक्ष उपस्थित की। "बाग तो आ ही गया है प्रश्न केवल इतना है कि मैं लूं या न लूं। धर्मानुसार तो वह हमारा नहीं। परन्तु कानून आज्ञा देता है।" मास्टर जी का केवल एक उत्तर था। "यदि कोई चोरी का माल लावे तो क्या तुम उसमें केवल इसलिये साझा कर लोगे कि तुम कानून की पकड़ में नहीं आते?"

मेरी समस्या का समाधान हो गया। मैं घर आया तो देखा कि उस बाग के आमों की आँगन में ढेरी लगी हुई है। मैंने वह सब आम चाचा जी के घर भिजवा दिये और स्पष्ट कह दिया "मैं किसी प्रकार इस अधर्म के सौदे में साझीदार नहीं बन सकता। आप स्वयं जो चाहें सो करें?"

आई हुई लक्ष्मी को घर से निकलते देखकर मेरी माता जी को अत्यन्त दुःख हुआ। परन्तु यह स्वाभाविक था। मैंने अधिक चिन्ता न की।

इसका परिणाम भी बहुत अच्छा हुआ। अवागढ़ के राजा को किसी ने सूचना दे दी। उसने अपने कर्मचारियों को लताड़ा। और मुक़द्दमा छिड़ गया। मेरे चाचे इतने बड़े आदमी का सामना न कर सके। उनको कई साल तक बीसियों झंझटों में फँसना पड़ा। छबे क्या दुबे भी न रहे। मैं बच गया। और मेरी बुद्धिमत्ता की धाक मेरी माता जी के हृदय पटल पर जम गई। उस दिन से मेरी माता जी हर बात में मेरे ऊपर श्रद्धा करने लगीं।

वैदिकाश्रम का यह काम कुछ वर्षों तक अच्छा चलता रहा। हम लोग तितर बितर हो गये। बा० छोटे लाल जी भी हैड-मास्टरी पर अन्यत्र चले गये। प्रबन्ध दूसरों के हाथ में आया। ज़मीन खरीदकर नया भवन (वर्तमान भवन) बनाया गया। परन्तु प्रबन्ध में शिथिलता आ गई। शनैः २ आश्रम राज-विद्रोहियों का अड्डा हो गया। १९०७ या १९०८ में कई पुरुष जेल भेज दिये गये। छात्रावास के विद्यार्थियों को सरकारी स्कूल में स्थान न मिला। अंगरेज हैडमास्टर ने बहुत सख्ती शुरू की। आश्रम और आश्रम के प्रबन्ध को आघात पहुँचा। अब आश्रम का टूटा सा भवन और थोड़ा सा इतिहास रह गया है। उसके भी जानकार विद्यमान नहीं हैं। न बाबू छोटेलाल जी भार्गव हैं न मुँशी कृष्णलाल जी। मैं रह गया हूँ जो कभी-कभी पुराना मर्सिया पढ़ लेता हूँ।

बड़ियाँ बनाना

इस विचित्र शीर्षक को समझाना पड़ेगा। इसको सुज्ञेय बनाने के लिये कुछ विवेचना की आवश्यकता है।

मेरा विश्वास है कि संसार में सबसे दुखदायी वस्तु है "अन्ध-विश्वास।" 'वस्तु' शब्द का मैं यहाँ दार्शनिक प्रयोग नहीं कर रहा। अन्धविश्वास काल्पनिक भय उत्पन्न कर देता है। संसार में हमको डराने के लिये वैसे ही कुछ कम सत्तायें नहीं हैं। भेड़िये, शेर, साँप, बिच्छू, आग, विष, इनसे लोग भयभीत रहते हैं। परन्तु जिन चीजों की सत्ता है उनसे बचना कुछ सुगम है। आप जंगलों में न फिरें शेर से बचे रहेंगे। अंधेरे में घास पर न चलें साँप के काटने की सम्भावना कम होगी। परन्तु जब आप काल्पनिक वस्तुओं से डरने लगें तो उनसे बचने का कोई उपाय है ही नहीं। यही कारण है कि बड़े बड़े सूरमा भूत चुड़ेल आदि काल्पनिक वस्तुओं के समक्ष काँपने लगते हैं। इन अन्धविश्वासों को कई भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे—

(१) कुछ दैवी घटनायें। जैसे लाल लाल बादलों को देखकर यह कल्पना कर लेना कि अवश्य ही कोई अनिष्ट होने वाला है। या किसी नवीन सितारे का असमय या कुसमय आकाश में दिखाई पड़ना और उससे यह तर्क करना कि दैव ने इस अद्भुत दृश्य को इसलिये दिखाया है कि आगे कोई विपत्ति आने वाली है। उसी की यह सूचना है।

(२) किसी पशु-पक्षी या मनुष्य का अनिष्ट व्यवहार। जैसे

गाड़ी के सामने से मार्ग काटकर हिरण का निकल जाना। या चलते समय कुत्ते का कान फटफटाना। या किसी पनहारी का खाली घड़े लेकर निकलना। या किसी का छींकना।

(३) स्वयं मनुष्य के अपने शरीर में कोई ऐसी क्रिया होना जिसके साथ अनिष्ट का काल्पनिक सम्बन्ध हो जैसे दाहिनी आँख फड़कना।

(४) कोई ऐसा काम कर बैठना जिसके करने पर भूतकाल में कोई दुर्घटना हो गई हो।

इन सब प्रकारों की इतनी शाखायें या उपशाखायें हैं कि यदि मनुष्य सावधान न रहे तो उसके कार्य्यों में नित्य प्रति बाधा पड़ती रहती है। प्रत्येक परिवार में यह अन्धविश्वास सम्बन्धी रूढ़ियाँ नित्य तंग किया करती हैं। और यह उन्हीं को तंग करती हैं जिनको इनका अधिक ज्ञान है। अतः मेरा सदा विचार रहा है कि यदि परिवार में सुख और शान्ति चाहते हो तो अन्धविश्वास को दूर करते रहो।

अन्ध विश्वास का कारण है अविद्या और यह अविद्या किंवदन्तियों द्वारा अधिक फैलती है। घर और पड़ोस के स्त्री पुरुष नौकर-चाकर अपने अपने अनुभवों की कहानियाँ सुनाकर डराया करते हैं। इस भय से बचाने के लिये कुछ धूर्त्त और स्वार्थी लोगों ने काल्पनिक उपाय भी रच रक्खे हैं। इस प्रकार अपनी अविद्या और दूसरों की ठगी यह दोनों मिलकर अन्ध-विश्वास को मिटने नहीं देते।

मैंने जब से सत्यार्थ प्रकाश पढ़ना आरम्भ किया तभी से अन्धविश्वास से बचने की कोशिश करता रहा। जब वैदिकाश्रम में रहता था और हम छात्र लोग मुंशी श्री कृष्णलाल जी के साथ नगर के बाहर टहलने जाते तो वे प्रायः हमको कबरस्तान में होकर ले जाते। और कहा करते "ऐसा करने से डर छूट जाता

है। जो जीवित पुरुषों से नहीं डरता वह उनकी सड़ी-गली मिट्टी से क्यों डरे ?"

मैं घरों के अन्धविश्वास पर विचार किया करता और हमारे नित्य के व्यवहारों में इनसे क्या बाधा पड़ती है इस पर भी विचार करता था। मैं ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि आर्य्य समाजी बनने के लिये घरों से अन्धविश्वास को नष्ट करने की भी आवश्यकता है। इसके दो ही उपाय थे। इनके मूल तत्वों को समझाना और अपने व्यवहार से इनकी अतथ्यता सिद्ध करना। दर्शन का सिद्धान्त है कि अतथ्य वही है जिसका बाध दिखाया जा सके।

मैं अलीगढ़ से अध्यापन-शास्त्र के अध्ययनार्थ प्रयागस्थ अध्यापन-विद्यालय (Teachers' Training College) में चला आया। दो वर्ष के अध्ययन के पश्चात् अन्तिम परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होने के फल स्वरूप मुझे बिजनौर हाई स्कूल का तृतीय अध्यापक नियुक्त किया गया। यह जुलाई सन् १९०४ की बात है। नियुक्ति होने पर मैं अपनी माता जी को साथ ले गया। मेरी सब से पहली धारणा यह हुई कि माताजी के अन्धविश्वासों को दूर किया जाय। तब तक मेरा गौना नहीं हुआ था। मुझे भय था कि यदि पत्नी के मस्तिष्क में भी अन्धविश्वास की जड़ जम गई तो आयु भर मुझे संग्राम करना पड़ेगा। अतः मैंने माता जी से ही कार्य का आरम्भ किया। घर में हम दो ही प्राणी थे—मैं और मेरी माता जी। मेरा महीनों तक यह कार्य्य-क्रम रहा कि सायंकाल को भोजन के उपरान्त मैं माता जी की गोद में बैठ जाता और उनको भौगोलिक या अन्य ऐसी बातें सुनाया करता जिससे उनको भूमि के गोल होने, चन्द्र और सूर्यग्रहण के पड़ने आदि के कारण ज्ञात हो जावें। स्कूल से अटलसें लाकर भी दिखाया करता था।

माता जी को बहुत सी बातों पर आश्चर्य होता था। वह मेरी डिक्शनरी (कोश) देखतीं और पूछतीं "क्या तुमने इस समस्त पुस्तक को पढ़ लिया है ?" ऐसे प्रश्नों का समाधान करना कठिन हो जाता। मैं उनको अन्त तक यह निश्चय नहीं करा पाया कि ज़मीन घूमती है। वह यही कहा करतीं, "हमारा दरवाज़ा तो सदा एक ही ओर रहता है।" फिर भी मेरे आचरणों और वचनों पर उनको श्रद्धा हो गई थी। और वह कहा करतीं, "तुम जो कहते हो ठीक होगा।"

बिजनौर के आवास में पहली बार चन्द्रग्रहण पड़ा। वह बोलीं, "आज खाना जल्दी खालो।"

मैंने पूछा "क्यों ?"

"आज ग्रहण जो पड़ेगा ?"

"तो फिर ? ग्रहण तो आकाश में पड़ेगा। चन्द्र ग्रहण है मनुष्य ग्रहण तो नहीं ?"

"तो क्या तुम ग्रहण के समय भोजन कर लेते हो ? इसमें पाप तो नहीं लगता ?"

"नहीं माता जी। पाप कैसा ? मैंने उस दिन तुमको अटलस में दिखाया था कि पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है। और चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर। जब कभी इनकी नियत चालों के कारण पृथ्वी सूर्य्य और चाँद के बीच में आ जाती है तो सूर्य्य की किरणें चाँद पर नहीं पड़तीं और चाँद छिप जाता है।"

"राहु और केतु चाँद को नहीं डसते ?"

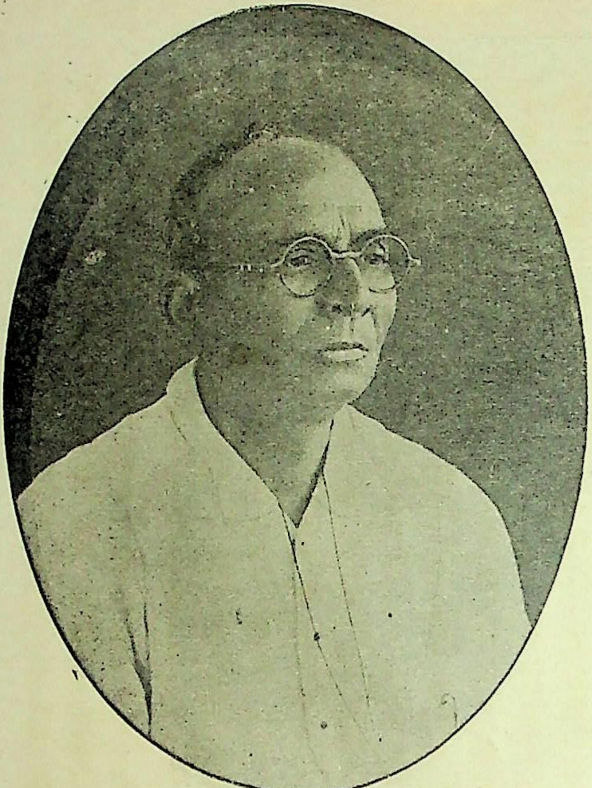
"नहीं माता जी ! डसते तो कभी के डस गये होते। यह सब कहानियाँ हैं। झूठी। और लोगों को डराने के लिये।"

मैंने उस दिन ग्रहण के समय ही खाना खाया। माता जी शायद यही मनाती रहीं कि कहीं अनिष्ट न हो। परन्तु धीरे-धीरे अन्धविश्वास-जनित भय जाता रहा।



श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

[सन् १९३५





१९३८] श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय [१९४१

इसी प्रकार का अन्धविश्वास बड़ियों से सम्बन्ध रखता है। बड़ियाँ उर्द या मूँग की दाल की बनाई जाती हैं। पहले दाल भिगो देते हैं। जब गल जाती है तो छिलका अलग करके पत्थर पर पीस डालते हैं। और मसाले मिलाकर उनको छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़कर धूप में सुखा लेते हैं। पीछे से दाल की भांति इनको पकाकर रोटी के साथ खाते है। बड़ियों से भारत के सभी लोग परिचित हैं। हम लोग भी बड़ियों को बहुत खाते थे। परन्तु दूसरों के घरों की बनी हुई। समस्त कुलश्रेष्ठ जाति में बड़ियाँ घर बनाना अनिष्ट समझा जाता था।

एक दिन मैंने माता जी से कहा, "बहुत दिनों से बड़ियाँ नहीं खाईं। एक दिन बनाओ न !"

माता जी बोलीं, "पहले तो कोई न कोई भेज देता था। यहाँ कहाँ से आवें ?"

"तो बना डालो ?"

"नहीं। बेटा। हम लोगों के घरों में बड़ियाँ नहीं बना करतीं ?"

"क्यों ? क्यों ?"

"हमारी बिरादरी में बड़ियाँ बनाना छजता नहीं। ("सहता नहीं" अर्थात् ऐसा करने से कोई अनिष्ट हो जाता है।)"

"खाना छज जाता है और बनाना नहीं छजता ?"

"हाँ हाँ ऐसा ही है !"

"नहीं। माता जी यह सब झूठ है। तुम बनाओ ! देख लेना कुछ नहीं होने का।"

"ना। ना ! बेटा ! ऐसा नहीं होता। किसी ने एक बार बड़ियाँ बनाने के लिये दाल पीस कर रक्खी तो उसका रुधिर हो गया। समझते हो ! किसी मित्र से कह दो वहाँ से आ जायँ।"

"यदि दूसरों के यहाँ दाल की पिट्ठी खून नहीं बनती तो हमारे घर में क्यों बनेगी ? क्या सृष्टि के नियम हमारे लिये और हैं और दूसरों के लिये और ? तुम मेरा कहना मानो और आज ही दाल भिगो दो।"

दाल भिगो दी गई। माता जी के हाथ काँपते थे। उनके मन में भय था। मैं उसी भय को निकालना चाहता था। मैं ने उस दिन उस व्यापार में पर्य्याप्त भाग लिया। मानो यह बड़ा मुख्य काम था। और मेरी दृष्टि में तो मुख्य ही था। विद्या का अर्थ साक्षरता ही नहीं है। अन्धविश्वास यदि बने रहें तो विद्या कैसी ?

दाल भीगी। कुछ नहीं हुआ ? दाल धोई गई। कुछ नहीं हुआ। दाल पीसी गई। कुछ नहीं हुआ। मैं बार-बार देखता और दिखाता कि खून का लव-लेश भी नहीं है। माता जी का भय कुछ कम हुआ। परन्तु कुछ ही कम। अदृष्ट और अज्ञात "कुछ" उनको डराता रहा। रात में भी मैंने कई बार पिट्ठी देखी और दिखाई और उनके मिथ्या भय पर कुछ हंसी भी की। माता जी का साहस बढ़ता गया। दूसरे दिन बड़ियाँ तोड़ीं गईं। सुखाई गईं और पका कर खाईं भी गईं। किसी अवस्था में भी कोई दुष्परिणाम नहीं निकला।

माता जी साल भर तक शंकित रहीं, परन्तु उस दिन से बड़ियाँ न बनाने का अन्धविश्वास मेरे घर से भाग गया।

इस बात में मेरी पत्नी जी का भी पूरा सहयोग मुझे प्राप्त रहा है। बिजनौर पहुँचने के थोड़े दिनों पीछे ही मेरा गौना हो गया था। पत्नी थीं तो निरक्षरा। परन्तु वह यह जानती थीं कि एक आर्य्य परिवार में जा रही हूँ। उन्होंने विवाह पर और विवाह के पश्चात् पांच वर्ष तक आर्यों के विषय में अनेक अशुभ और भ्रान्ति पूर्ण गाथायें सुनी थीं। वह कहा

करती हैं कि मैं जब ऐसी बातें सुना करती तो कोठे में अकेले जाकर रोया करती! जब लोग उनके पिता जी के सामने आर्यों के दुर्व्यवहार की बातें करते तो वह कह दिया करते "जैसा भाग्य में होगा वह होकर रहेगा।"

जब यह मेरे साथ आईं तो सब से पहला करवाचौथ का त्यौहार पड़ा। स्त्रियों के लिये यह बेढ़व त्यौहार है। इसको सुहाग का त्यौहार कहते हैं। पत्नी अपने पति के कल्याण के लिये उस दिन उपवास रखती है। उनको अपने घर में यह त्यौहार मनाना पड़ा था। मैंने उनको इसकी अतथ्यता समझाई। वह मान गईं। आरम्भ में उनकी ऐसी बातों में एक ही युक्ति थी। वह कहा करती थीं कि मेरे पति आर्य्य समाजी हैं। आर्य्य समाज में इनका मान है। मैं कोई ऐसी बात न करूँगी जिससे आर्य्य लोगों में इनकी प्रतिष्ठा कम हो।"

मैंने कई बार प्रतिपदा, चतुर्दशी, बुध आदि वारों को यात्रा करके उनको निश्चय करा दिया था कि इनके साथ अनिष्ट का सम्बन्ध जोड़ना मूर्खता है। ईश्वर पापों का दण्ड देता है। ऐसी छोटी बातों का नहीं।

बड़ियाँ बनवाकर मैंने शकुन और अशकुन की समस्त समस्या का एक बार में समाधान कर दिया। और मुझे कभी कोई कठिनाई नहीं पड़ी।

परन्तु में १९५४ ई० में प्रयाग के सुशिक्षित वर्ग में रहता हुआ भी देखता हूँ कि बड़े-बड़े लोग इन भ्रान्तियों के शिकार हैं। अभी हाल की घटना है। एक सुयोग्य प्रोफेसर महोदय को तार मिला कि उनकी पुत्री का देहान्त हो गया। वह घर दौड़े गये। देखा कि लड़की स्वस्थ है। फिर तार का क्या अर्थ?

बात यह थी कि उस लड़की के सिर पर कौआ बैठ गया।

इससे लड़की की मृत्यु अवश्यम्भावी थी। केवल एक ही उपाय था कि झूठ-मूठ उड़ा दिया जाय कि लड़की मर गई।

मैंने जब यह बात सुनी तो मुझे ऐसे उच्च घरानों के अन्ध-विश्वास पर खेद हुआ और प्रयाग के 'लीडर' दैनिक में मैंने एक 'नोट' छपवा दिया कि ऐसी निस्सार भ्रान्तियों से बचना चाहिये। मुझे आश्चर्य हुआ जब एक बैरिस्टर साहेब ने उस अन्धविश्वास की पुष्टि की।

इस पर 'लीडर' पत्र में मेरे और कई उच्च-शिक्षा प्राप्त सज्जनों के बीच शास्त्रार्थ चलता रहा।

मेरा कहना है कि क्या कौए के शरीर में कोई ऐसी रोगोत्पादक वस्तु है जिससे उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाय जिसके सिर पर वह बैठ जाय। अथवा क्या ईश्वर की ओर से कौआ भविष्य-वाणी के समान किसी अनिष्ट का सूचक है। और यदि इनमें से कोई बात भी ठीक है तो झूठी खबर उड़ा देने से उसका निराकरण कैसे हो सकता है? परन्तु मैं देखता हूँ कि अन्धविश्वास और भ्रान्त-दृश (Superstition) का जनता में बड़ा प्राबल्य है और उनके निराकरण का कोई उपाय नहीं किया जाता। यह कहकर टाल दिया जाता है कि मनुष्य अल्पज्ञ है "खुदा की बातें खुदा ही जानें" मेरा कहना है कि यह तो मनुष्य की मूर्खता की बातें हैं। इनका निराकरण मनुष्य को ही करना चाहिये। खुदा विचारे को दोष देना व्यर्थ है।

स्त्री और यज्ञोपवीत

सम्वत् १९६१ के कार्तिक मास (सन् १९०४ का नवम्बर) में एक दिन प्रातःकाल आर्य नर-नारियों का मेरे घर में समारोह आरम्भ हुआ। सब के मुखों पर उल्लास, उत्साह, मनों में आनन्द और एक नये प्रकार का औत्सुक्य था। नहटौर के चौधरी शेरसिंह, नगीने के बाबू हरलाल जो आर्य समाज बिजनौर के संचालकों में प्रमुख समझे जाते थे। बाबू जियालाल एक होनहार नवयुवक, पंडित जयनारायण आदि आदि सभी सज्जन आ उपस्थित हुये। उनके परिवार ने भी आने की कृपा की। आर्य समाज के बाहर के भी लोग थे।

मैं बिजनौर में तीन चार मास पहले ही आया था। अपरिचित और अज्ञात। कोई पोजीशन भी नहीं। हाई स्कूल का एक साधारण थर्ड मास्टर। घर भी बहुत छोटा। बिजनौर की तहसील के निकट एक छोटी सी गली में। एक पक्का छोटा-सा कमरा। सामने दालान और कच्चा आँगन जिसमें मकान के स्वामी लाला भगवानदास की गाय भी बंधा करती थी। थोड़ी देर में मकान भर गया। केवल एक सज्जन नहीं आये। वे थे बाबू धरणीधर दास, बिजनौर के इञ्जीनियर और बिजनौर आर्य समाज के प्रधान। यह आवश्यक न था कि वे मेरे घर पर आते ही। परन्तु नोट करने की विशेष बात यह थी कि जिस कारण से और लोग आये उसी कारण से वह न आ सके।

मैं अभी गौना करके लाया था। विवाह के ठीक पाँच वर्ष पीछे। उस समय मेरे मन में एक प्रश्न उठा। मेरा यज्ञोपवीत हो

चुका है। मैं द्विज हूँ। मेरी पत्नी का यज्ञोपवीत नहीं हुआ। अतः वह शूद्र है। आर्य्य समाज और वैदिक संस्कृति के अनुसार द्विज और शूद्र की यही पहचान है, द्विज और शूद्रा की सन्तान तो वर्णसङ्कर ही होगी। अतः क्यों न स्त्री का भी उपनयन संस्कार करके द्विज बनाया जाय।

स्वामी दयानन्द से पूर्व ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य किसी जाति में यज्ञोपवीत की प्रथा न थी। ब्राह्मणों में भी स्त्रियाँ अनुपनीत ही रहती थीं। स्मृतियों में उपनीता और अनुपनीता स्त्रियों का कहीं-कहीं उल्लेख है। परन्तु हिन्दू ब्राह्मण स्त्री और शूद्र को एक कोटि में रखकर न स्त्री को यज्ञोपवीत देता, न वेद पढ़ाता, न गायत्री का जाप करने देता। ऋषि दयानन्द ने यह परिपाटी तोड़ी और अन्य जातियों में भी यज्ञोपवीत होने लगे। इलाहाबाद के प्रसिद्ध नागरिक मुँशी काली प्रसाद जी ने कायस्थों को द्विज बनाने का आन्दोलन चलाया। उन्होंने सिद्ध किया कि कायस्थ क्षत्रिय हैं उनको यज्ञोपवीत का अधिकार है। जब मैं इलाहाबाद में पढ़ता था तो एक बार श्रावणी पर कुछ कायस्थ सज्जन मुझे निमंत्रण देने आये। शायद त्रिवेणी पर कायस्थों को जनेऊ पहनाना था। मैंने कहा 'मैं तो जन्म से जाति मानता नहीं। कायस्थ क्षत्री भी हो सकता है, ब्राह्मण भी वैश्य भी और शूद्र भी। जनेऊ कराइये परन्तु जन्म के आधार पर नहीं।

आर्य समाज में यज्ञोपवीत की प्रथा चल पड़ी। परन्तु स्त्रियों के लिये नहीं। कम से कम बिजनौर और हमारे इस प्रान्त के लिये तो सर्वथा यह नई बात थी। मेरे घर में मेरे पिता का भी यज्ञोपवीत नहीं हुआ था और न मेरी माता का। अतः मेरे वर्ण सङ्कर होने का तो प्रश्न ही न था। हाँ जन्म से मुझे शूद्र कह

सकते हैं, और यह तो स्मृतियों में भी लिखा है कि—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।

अतः मैं समस्त मनुष्यों के समान जन्म से शूद्र था। संस्कार से मुझे द्विज बना लिया गया था। वही संस्कार मैं अपनी पत्नी का कराना चाहता था।

नवयुवकों को नई बात प्यारी लगती है। वृद्ध सोच विचार में पड़ जाते हैं। उनको चालू सड़क पर चलना ही अच्छा लगता है। यही कारण था कि मेरी पत्नी के यज्ञोपवीत संस्कार में भीड़ लग गई। नई बात थी। मेरे घर वालों के लिये भी। घर में था ही और कौन ? केवल मेरी माता जी। उनको भी उत्सुकता थी। पत्नी को भी। दूसरों को भी कि स्त्रियों के जनेऊ में क्या होता है। स्त्री जनेऊ पहन कर कैसी लगती है, इत्यादि इत्यादि !

संस्कार आरम्भ हुआ। आचार्य का काम पं० चतुर्भुज ने कराया जो समाज के उपप्रधान और किसी दफ्तर में हैडक्लर्क थे यथानाम तथा गुण। मेरी पत्नी उपनीता हो गई। अब वह द्विजों की श्रेणी में आ गई। बात नगर भर में फैल गई। किसने क्या टिप्पणी की, ज्ञात नहीं। तमाशा अच्छा रहा।

परन्तु अगले सप्ताह लाहौर के अंगरेजी समाचार-साप्ताहिक "आर्य्य पत्रिका" में धरणीधर बाबू की ओर से एक लेख निकला, जिसका आशय यह था कि आर्य्य समाज बिजनौर के एक कायस्थ सभासद ने अपनी स्त्री का यज्ञोपवीत संस्कार कराया है। यह अनुचित जान पड़ता है। स्त्रियाँ प्रति मास रजस्वला होती हैं। वे यज्ञोपवीत को पवित्र नहीं रख सकतीं। इत्यादि।

लोग समाचार पत्र मेरे पास लाये। मैंने एक लम्बा सा लेख लिखा। अंगरेजी में लेख लिखने का मुझे अधिक अभ्यास नहीं

था। प्रयाग से एक दो लेख आर्य्य पत्रिका को लिखे थे। लेख छपा। मैंने उसमें प्रमाणों सहित सिद्ध किया कि :—

(१) ऋषि दयानन्द ने स्त्रियों का यज्ञोपवीत शास्त्रोक्त माना है।

(२) पुरानी स्मृतियों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) वाणभट्ट की कादम्बरी में भी लिखा है देवी "महाश्वेता" यज्ञोपवीत पहने थी।

अयुग्मलोचनसकाशात् प्रसादलब्धेन चूडामणिचन्द्रमयूख-जालेन मण्डलीकृतेन ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतका याम्।

---

(४) सोलह संस्कार स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान हैं।

(५) स्त्री का रजस्वला होना यज्ञोपवीत का बाधक नहीं है। पुरुष भी तो शौचादि जाते तथा कई इस प्रकार के काम करते हैं जिनको अशुद्ध कहा जा सकता है।

इस लेख की मित्र मण्डल में धूम मच गई। मेरी प्रतिष्ठा को चार चांद लग गये। मैं समाज का मंत्री हो गया। श्री धरणीधर बाबू ने समाज में आना छोड़ दिया। इसके कुछ अन्य कारण भी थे जिनमें मैं आज सोचता हूँ कि समाज वालों की गलती थी। क्योंकि श्री धरणीधर दास जी पहले बंगाली थे जिनको आर्य्य समाज से हित था। वे सदाचारी, धर्मनिष्ठ और संस्कृति-प्रिय वृद्ध पुरुष थे। वे थे कायस्थ और बगाली कायस्थों को खुल्लम खुल्ला शूद्र समझा जाता था। बङ्गाल में आर्य्य समाज का प्रभाव भी शून्य के ही बराबर था।

यद्यपि ऋषि दयानन्द ने अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि स्त्री और पुरुष के सामाजिक अधिकार समान है, परन्तु स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्राप्त करने में बहुत देर लगी है। एक-एक इंच पर विरोध का सामना करना पड़ा है।

यह विरोध अब भी सर्वथा नष्ट नहीं हो गया। किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है। अंगरेजी की कहावत हैं :—

Superstitions die hard.

अर्थात् अन्ध-विश्वास कठिनता से जाते हैं।

सन् १९०४ से लेकर १९१७ तक बिजनौर में किसी अन्य स्त्री का यज्ञोपवीत नहीं हुआ। १९१७ में पं० जयनारायण जी को अपनी कन्या चन्द्रावती को यज्ञोपवीत देने की इच्छा हुई। उन दिनों मैं प्रतापगढ़ हाई स्कूल में टीचर था। उन्होंने मुझे निमंत्रण देते हुये लिखा कि १३ वर्ष पूर्व तुम्हीं ने स्त्रियों के यज्ञोपवीत की प्रथा आरम्भ की थी। अब तुम्हीं आओ और मेरी पुत्री का यज्ञोपवीत कराओ।" फलतः मैं बिजनौर गया और अपने मित्र की पुत्री का यज्ञोपवीत कराया। मुझे हर्ष है कि वह कन्या आज "चन्द्रावती लखन पाल" नाम से प्रसिद्ध हैं। और भारतीय संसद् की एक सुयोग्य सदस्या (M. P.) हैं।

इलाहाबाद में मैं १९१८ में दयानन्द हाई स्कूल का हैडमास्टर होकर आया तो मेरी पुत्री सुदक्षिणा की आयु ८ वर्ष की थी। थोड़े ही दिन पीछे मैंने उस पुत्री का यज्ञोपवीत कराया था। उस दिन भी आर्य्य भाई बहनों की भीड़ लग गई थी। क्योंकि प्रयाग में उस समय तक लड़कियों के यज्ञोपवीत की प्रथा नहीं पड़ी थी।

मुझे सन्तोष है कि मेरी पुत्र बधुओं का भी यज्ञोपवीत हो गया है। परन्तु विवाह से पूर्व नहीं।

परन्तु अब एक प्रतिक्रिया देखने में आ रही है। शिक्षित आर्य्य युवक भी यज्ञोपवीत के महत्व पर श्रद्धा नहीं रखते और यह रोग शिक्षित महिलाओं में भी घर करता जाता है। यह तो ठीक है कि 'न लिङ्गं धर्मकारणम्' अर्थात् केवल जनेऊ पहनने से कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता। सूत के तीन धागे तो

सूत ही हैं। उनमें कोई ऐसी नैसर्गिक शक्ति नहीं जो उनके पहनने वाले को बलात् पुण्यात्मा बना सके। परन्तु संस्कारों की अपनी विशेष महत्ता और पवित्रता है। इनका लाभ है। यह कुप्रथाओं को रोकने में सहायक होते हैं। भारतीय संस्कृति की रक्षा में यज्ञोपवीत संस्कार का बड़ा महत्व रहा है। यज्ञोपवीत है तो लिङ्ग मात्र ही। और वह धर्म का कारण भी नहीं। तथापि वह धर्म का प्रेरक और मान मर्यादा का रक्षक है। आज उच्च और नीच, शिक्षित और अशिक्षित में भेद करने के लिये अनेक प्रकार के वाह्य लिङ्ग स्थापित किये जाते हैं जो आडम्बर-पूर्ण है। यज्ञोपवीत जैसे सरल, सुगम, आडम्बर-शून्य आवश्यक लिङ्ग की प्रथा चलाना प्राचीन ऋषियों के उच्च विचार और सरल जीवन (Plain living and high thinking) की सूचना देता है। हमारे जिन कई प्रसिद्ध नेताओं ने कुछ कल्पित आधारों पर जनेऊ तोड़ डाले और नवयुवकों के समक्ष एक नया उदाहरण रक्खा वह सब विदेशीय विचारों के प्रसरण का फल था। हम को इस पर गंभीरता से विचार करना है। सुधार करना है परन्तु ऐसा सुधार कि अनिष्ट घास कट जाय इष्ट पौधे उखड़ने न पावें। बाग उजड़ जाय तो "निराने" का क्या लाभ।

———

विलायती चीनी

सन् १९०७ ई० भारत के लिये कई कारणों से एक चिन्तनीय वर्ष था ! आज ४७ वर्ष पीछे हम उन घटनाओं का मूल्य नहीं आँक सकते जो १९०७ में घटित हुई। मेरे जीवन की भी एक घटना है जो है तो अत्यन्त क्षुद्र। परन्तु है वह जाति मात्र की समस्त घटना का एक अंश, इसीलिये उसका उल्लेख आवश्यक जान पड़ा।

इस साल से ठीक पचास वर्ष पूर्व १८५७ ई० का वह प्रसिद्ध विप्लव हुआ था जो उन दिनों की भाषा में ग़दर और १९५४ ई० की भाषा में "स्वतंत्रता की पहली लड़ाई" कहा जाता है। दोनों शब्द भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति और भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के सूचक हैं। मेरे विचार में तो इसको न ग़दर कह सकते हैं न स्वतंत्रता का 'युद्ध'। 'ग़दर' इसलिये नहीं कि विदेशी शासकों को मार भगाने का प्रयास था, जिसको किसी आचार शास्त्र में दूषित नहीं माना गया। "स्वतंत्रता की लड़ाई" इसलिये नहीं कि उस समय भारतीय जनता में स्वातंत्र्य-जागृति थी ही नहीं। आन्दोलन उस शासक वर्ग की ओर से था जिसके अधिकार छीन लिये गये थे। भारत में न तो सार्वजनिक भावों का उत्थान था। न किसी प्रकार का संगठन। शासक वर्ग की मनोवृत्ति स्वार्थ पूर्ण थी। और एक शासक दूसरे शासक का विध्वंस कराना अपने हित का संरक्षण समझता था। झाँसी की रानी के इतिहास से यह बात सुगमता से समझ में आ सकती है। झाँसी के पड़ोसियों ने षड्यंत्र रचकर झाँसी की रानी को अंगरेजों से

लड़वा दिया। और जब वह प्रवीरा महिला विदेशियों को पराजित करने के लिये तलवार लेकर मैदान में निकली तो उसको अकेला छोड़कर उसी को उकसाने वाले अपनी-अपनी स्वार्थ सिद्धि में लग गये। १८५७ ई० की असफलता का यही कारण था। अंगरेज़ जम गये। उन्होंने बुद्धिमत्ता और सावधानी से काम लिया। और बीसवीं शताब्दि के आरम्भ होने तक अंगरेजी शासन अत्यन्त प्रबल और सुदृढ़ हो गया।

१९०७ ई० में १८५७ को ठीक पचास वर्ष होते थे। यद्यपि पचास और 'सौ' शब्द गणित के दशमलव विधि का एक कल्पित अंक हैं तथापि परम्परा ने इन शब्दों में कुछ विशेष आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। सौ वर्ष या पचास वर्ष का दार्शनिक महत्त्व क्या है यह कहना कठिन है। इसको भूगोल शास्त्र या खगोल शास्त्र नहीं बता सकता। परन्तु मनोविज्ञान के पण्डितों के लिये यह विशेषतया विचारणीय है।

१९०७ ई० के आरम्भ होते ही अंगरेज चौकन्ने हो गये थे। उनको भय था कि चाहे कितना ही सुदृढ़ शासन क्यों न हो, हैं तो हम विदेशी हों। एक जाति का दूसरी जाति पर शासन करना स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ग़दर १० मई १८५७ को आरम्भ हुआ था, कहते हैं कि लाहौर का प्रत्येक अंगरेज १० मई १९०७ को लाहौर के क़िले में इकट्ठा हो गया था और रात भर उन्होंने चिन्ता में काटी, उन्हें खटका था कि भारतीय लोग कहीं १८५७ की ५०वीं वर्षगाँठ न मना बैठें। उस तिथि के थोड़े ही दिनों पूर्व पंजाब केसरी लाला लाजपतराय जी और अजीत सिंह जी गिरफ्तार करके मांडले के किले में भेज दिये गये थे। पंजाब में उन दिनों राजनैतिक जागृति विशेषतया दृष्टिगोचर होती थी। कई नये उर्दू पत्र निकलते थे जो जनता को उत्तेजित और

प्रोत्साहित करते रहते थे। इसका प्रभाव समस्त भारत पर पड़ता था।

उन्हीं दिनों देशी और विदेशी खाँड का भी प्रश्न उठ खड़ा हुआ। आर्य गजट में एक लेख निकला जिसमें बताया गया कि विदेशी खाँड में जानवरों की हड्डी पड़ती है। यह आन्दोलन इतना बढ़ा कि लोगों ने विदेशी चीनी खानी बन्द कर दी। देशी चीनी को उत्साहित करने के लिये कई वैधानिक उपायों का भी प्रचार किया गया। १९०५ ई० में वंगविच्छेद के समय वंगदेश में स्वदेशी आन्दोलन बहुत गर्म हो चुका था। सरकार छोटी-छोटी बातों को भी बड़ी सावधानी से परखती थी।

आर्य ग़जट के लेख ने मेरे मन में भी विदेशी चीनी की ओर से घृणा उत्पन्न कर दी। मेरे घर में गुड़ का प्रयोग होने लगा। मुझे याद है कि सन् १९०७ की जनवरी में जब मेरे दूसरे पुत्र विश्वप्रकाश का जन्म हुआ तो नामकरण संस्कार के समय लड्डू न बाँट कर छुआरे और किशमिश से अतिथियों का सत्कार किया गया था, क्योंकि हड्डी मिली चीनी का आना हमारे घर में वर्जित था। मैंने गंगा के मेले पर विदेशी चीनी के विरुद्ध व्याख्यान भी दिये थे। इतनी बात तो साधारण थी। परन्तु मैंने बिजनौर के 'सहीफा' नामी पत्र में अपना नाम देकर एक लेख छपवा दिया जिसमें लोगों को विलायती चीनी खाने के लिये मना किया गया था।

इसका पता बिजनौर के कलक्टर को लग गया। वह थे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन। अंगरेज। नाम के वाइल्ड (Wilde)। हम थे सरकारी नौकर। हमारा स्कूल साक्षात् डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्वत्व में था। सरकारी स्कूल का थर्ड मास्टर और विलायती चीजों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ करे। यह कैसे सहन हो सकता था? मेरा लेख राजनैतिक आधार पर न

था। मैंने केवल धर्म और अहिंसा का ही सहारा लिया था। परन्तु इससे क्या ? था तो विलायती और गैर विलायती का प्रश्न।

मुझसे झट उत्तर माँग लिया गया। और वह भी बहुत कड़ाई के साथ। हैडमास्टर थे पंडित कृष्णराव, महाराष्ट्र ब्राह्मण, विचारों में थियोसोफिष्ट, मरहठा केसरी के पढ़ने वाले, साधु प्रकृति के और सज्जन। उन्होंने मेरे उत्तर के साथ में एक नोट चढ़ा दिया कि इन्होंने कोई बात बुरे भाव से नहीं लिखी। कलक्टर महोदय ने इसको भी अप्रसन्नता की दृष्टि से देखा। सम्भव है उनकी दृष्टि लोकमान्य तिलक तक पहुँची हो। मैंने अपने लेख की पुष्टि में 'आर्य गजट' का हवाला दिया। उस पर कलक्टर महोदय ने लिखा कि "वर्नाक्यूलर पेपर्स" (Vernacular Papers) अर्थात् उर्दू के समाचार पत्रों पर विश्वास करना मूर्खता है। उन दिनों मैंने इस विषय में बहुत विवेचना की। मुझे यह तो बुरा लगा कि उर्दू अखबारों के विषय में लोगों का ऐसा अविश्वास का विचार क्यों है ? परन्तु खोज करने पर मुझे ज्ञात हो गया कि कलक्टर साहेब की यह टिप्पणी अतथ्य नहीं थी। मुझसे कहा गया कि मैं उसी 'सहीफा' अखबार में यह प्रकाशित करा दूँ कि विलायती शब्द से मेरा आश्रय अँगरेजों या इङ्गलैण्ड से नहीं है। इङ्गलैण्ड से चीनी भारत में नहीं आती। जावा और मौरीशस से आती है। यद्यपि उसको शोधने में पशुओं की हड्डियों का चूरा डाला जाता है। मुझे इतना लिखने में कोई आपत्ति न थी। क्योंकि 'विलायती' शब्द से मेरा तात्पर्य केवल "हड्डियों से शुद्ध होने वाली विदेशी खाँड" से था। यह लेख कलक्टर महोदय की स्वीकृति के लिये भी भेजा गया। और मैं स्वयं भी उनसे मिला। वह उस समय दौरे पर नगीना में था। मैं वहीं गया। कलक्टर

ने मुझसे कुछ बात न की। केवल लेख सुना और कहा, "इसमें इतना और लिखो कि तुम्हारी सम्मति में ऐसी चीनी खाना ठीक नहीं है।" मैंने इतना लिख दिया और चुपचाप चला आया। न मैंने कुछ कहा न उन्होंने। लेख 'सहीफा' में छप गया। इस झगड़े में कई मास लग गये। मुझे यह लगा कि नौकरी गई। कभी-कभी चिन्तित हो जाता था। परन्तु फिर ईश्वर-विश्वास पर साहस बढ़ जाता था। यदि नौकरी चली जाती तो मेरे लिये कोई अन्य साधन भी नहीं था। अब तो परिवार भी था। मेरी युवती पत्नी मेरी चिन्ता में मेरी साझीदार थीं। मेरी माता जी को इसकी सूचना भी नहीं हुई। चिंता तो निराधार न न थी परन्तु आज जो याद करता हूँ तो समझता हूँ कि न तो चिंता में कोई आतिशय्य था न उसने मुझे किसी अनुचित बात के करने पर बाधित किया। मुझे कोई आर्थिक वा अन्य प्रकार का दण्ड नहीं दिया गया। केवल सर्विस बुक (सेवा-आचार-पत्र) को मँगा कर कलक्टर ने लिख दिया, "इसने ऐसा गर्हित लेख छपवाया। मैं इसको इस योग्य नहीं समझता कि बालकों की शिक्षा का काम इसको दिया जाय।" वर्ष के अन्त में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से शिक्षा विभाग के डायरैक्टर के पास जो विवरण भेजा जाता है उसमें भी कलक्टर ने अपने हाथ से इसका उल्लेख कर दिया था। परन्तु इसका कोई प्रभाव मेरी नौकरी पर नहीं पड़ा। अवसर आया तो वेतनोन्नति करके बाराबंकी को बदल दिया गया। बला आई थी परन्तु टल गई। इस घटना के १० वर्ष पीछे तक मैं भिन्न २ पदों पर स्कूल की अध्यापकी करता रहा और जब अवसर आया वेतनोन्नति होती रही। दो बार सब डिप्टी इन्सपेक्टरी के लिये भी पूछा गया परन्तु मैंने दौरे की नौकरी स्वीकार नहीं की। एक बार यू० पी० गवर्नमेण्ट ने "पब्लीसिटी" विभाग में एक पद पर नियुक्त

करने के लिये भी पूछा। परन्तु वेतन इतना न था कि प्रयाग में सुविधा से रह सकता। वेतन वृद्धि की आशा अवश्य थी। परन्तु पास इतने पैसे भी न थे कि स्थानान्तर में जाने का व्यय सह सकता। अतः वहाँ जाने से भी मैंने इनकार कर दिया। हैडमास्टर लोग मुझसे प्रायः प्रसन्न ही रहते थे। जनता से भी मेरे सम्बन्ध अच्छे थे। अतः गाड़ी कहीं अटकी नहीं। आर्य्य समाज से मेरा सम्बन्ध हर स्थान पर घनिष्टतम रहा। एक बार एक कट्टर सनातनी हैडमास्टर ने कुछ थोड़ी सी छेड़-छाड़ की। परन्तु मैंने साहस के साथ उनको जो उत्तर दिया तो वह बिना किसी प्रयास के ही चुप हो गये।

एक बार एक ईसाई हैडमास्टर भी आये। मुझे भय हुआ कि शायद कोई उनसे मेरा मनमुटाव करा दे। जिस दिन वे आये उसके दूसरे ही दिन मैं उनके पास गया। और उनसे कह दिया कि मैं आर्य्य समाजी हूँ। जो कोई बात हो आप मुझसे सीधी "पूछ लें।" उन्होंने मुझे पूर्ण आश्वासन दिया। उसी बीच में बाराबंकी के गिरजे में मेरा और पादरी ज्वालासिंह का शास्त्रार्थ भी हो गया जिसको सुनने के लिये सारा बाज़ार जमा हो गया। परन्तु हैडमास्टर साहेब ने मुझसे कोई बात भी नहीं पूछी। यही नहीं, उचित अवसरों पर वह मुझसे छात्रों के बीच में व्याख्यान कराया करते थे। उनको विश्वास था कि मेरे व्याख्यानों का बालकों के आचार पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

ईश्वर सुनता है !

स शृणोत्यकर्णः। (उपनिषद्)
सुने विनु काना। (तुलसीदास)

ईश्वर के कान नहीं। पर सुनता है। कैसे ? मालूम नहीं।

फिर क्या कारण है कि मनुष्य प्रार्थना करते हैं और उनकी कामनायें पूरी नहीं होतीं ? जब इंग्लैण्ड के सम्राट् सातवें एडवर्ड बीमार हुये तो समस्त प्रजा की ओर से उनके लम्बे जीवन के लिये प्रार्थना की गई। सभी मन्दिरों, सभी गिरजाघरों सभी मस्जिदों में करोड़ों मनुष्यों ने अपनी प्रार्थनाओं के तार ईश्वर की सेवा में उपस्थित किये परन्तु इंग्लैण्ड का सम्राट् मृत्यु से न बच सका। लातीनी भाषा का एक वाक्य है 'वौक्स पौपूलाई, वौक्स डी आई' (Vox populi, Vox deii) अर्थात् मनुष्यों की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ है। इसकी सत्यता में सन्देह किया जा सकता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो बादशाहों की मृत्यु तो असम्भव हो जाती और विशेषकर दयालु और शीलवान बादशाहों की।

परन्तु मेरा विश्वास है कि ईश्वर सुनता है और अवश्य सुनता है। अभी सन् १९५१ की घटना है। मैं सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली का मंत्री था। मेरे बक्स में ५६०) रु० थे। मैं और मेरी पत्नी बक्स को दिल्ली में कमरे में बन्द करके प्रचारार्थ बाहर चले गये। बीस दिन के पीछे लौटे तो कमरा बन्द मिला परन्तु तीसरी मंज़िल पर पीछे की ओर किसी ने चढ़कर दरवाजा खोल लिया और सब रुपये निकाल लिये।

एक धनी मित्र ने सुना। फोन पर कहा, "सुना है कि तुम्हारे रुपये चले गये ?"

"हाँ बात तो ठीक है।"

"फिर ?"

"फिर क्या ?"

"मैं सोच रहा हूँ कि ५००) की थैली तुमको भेंट कर दी जाय। १००) मैंने देने का निश्चय किया है। अमुक मित्र ने २००)। केवल २००) की कसर है।"

"आपको धन्यवाद है। परन्तु मैं रुपया नहीं लूँगा। मुझे रुपये की ज़रूरत होती है तो ईश्वर से माँग लेता हूँ, किसी मनुष्य के समक्ष हाथ नहीं फैलाता।"

"इसीलिये ईश्वर आपको दे भी देता है ?"

मैंने इस अन्तिम वाक्य का जो उत्तर दिया उस पर पाठकवर्ग विचार करें। मैंने कहा, "यह ठीक है कि मैं ईश्वर से माँगता हूँ। ईश्वर सुनता है। अवश्य सुनता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह सदा मेरी प्रार्थना स्वीकार ही करे। जब सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर भी मेरी कामनायें सिद्ध नहीं होतीं तो मैं समझ लेता हूँ कि मेरी कामनाओं की असिद्धि में ही मेरा हित था। ईश्वर सुनता अवश्य है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि मान भी ले। मैं प्रार्थना करता हूँ। आज्ञा तो नहीं देता।"

ईश्वर सुनता है और सहायता करता है। इस सम्बन्ध में मैं अपने जीवन की एक घटना सुनाता हूँ। वह भी बिजनौर की है। सन् १९०७ के अन्त की।

मेरा वेतन ४५) रु० था। मैंने बीमा भी कराया था जिसमें ५ रुपये ११ आने ८ पाई प्रति मास कट जाते थे। घर ३९) लाता था। घर में मैं था, मेरी पत्नी, मेरी माता, एक मेरे भाई सत्यव्रत, एक मेरी पत्नी के भाई विद्याभूषण। यह दोनों

हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। दो बच्चे थे। बड़ा सत्यप्रकाश ढाई वर्ष का। छोटा विश्वप्रकाश आठ नौ मास का। मैं बी० ए० की प्राइवेट परीक्षा की तैयारी कर रहा था। संस्कृत ली थी। एक पंडित जी को ट्यूशन पर रक्खा हुआ था। और कोई आय न थी। १९०७ में अकस्मात् अकाल पड़ गया। गेहूँ पहले रुपये के १३ या १४ सेर आते थे। अब इतने घटे कि ६ सेर से भी नीचे गिर गये। कुछ दिनों में मेरे ऊपर ऋण बढ़ गया। था तो मित्रों का ही, परन्तु था तो ऋण। यदि ऋण लेते जाओ और चुकाते भी जाओ तो कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु यदि ऋण लिया ही जाय और चुकाने का नाम भी न लिया जाय तो मित्रों में भी कुछ न कुछ भ्रान्ति की संभावना हो जाती है। फार्सी में कहते हैं कि "कर्ज मिकराजे मुहब्बत" है। अर्थात् ऋण से प्रेम की हत्या हो जाती हैं।

सर्वेषमस्तिा शस्त्राणा, मृणच्छूरी भयङ्करा।
छिनत्ति क्षणमात्रेण, प्रेम पाशं चिरन्तम्॥

एक दिन मैंने हिसाब लगाया तो १५०) रु० ऋण हो गया। आय गहुँओं के लिय भी पर्याप्त न होती थी। एक दिन वेतन मिला तो २६) रु० के गेहूँ लाया। शष १३) में क्या करता? चिंता अधिक हो गई। मेरी स्त्री खाना पकाती थीं। अपनी चिंताओं को हम दोनों ही अकेले में भोग लेते थे। किसी से कुछ कहते न थे। मैंने अपने सब खर्चे पर दृष्टि डाली। मेरी झुंझलाहट यदि समाप्त होती थी तो पत्नी पर। और सुनने वाला भी कौन था?

"इतना अनाज कैसे खर्च हो जाता है?"

"क्या बताऊँ? कैसे? हो तो जाता ही है। कोई बाहर का तो ले नहीं जाता।"

"यदि छब्बीस छब्बीस रुपये के गेहूँ खालेंगे तो कैसे काम चलेगा ?"

"तुम कहते तो ठीक हो परन्तु मैं भी क्या करूँ ?"

"कल से आटा तोलकर साना करो।"

"ऐसा ही करूँगी।"

परन्तु इसका कुछ अच्छा परिणाम न निकला। आज मैं उस सब बात का स्मरण करता हूँ तो पश्चाताप होता है। मेरी अवस्था थी २७ वर्ष की। मेरी पत्नी की २१ वर्ष की। यह वह आयु है जिसमें नव-दम्पती खेलने खाने और मजे उड़ाने की सोचते हैं। यहाँ सर मुंडाते ही ओले पड़े। करें तो क्या करें। कोई बात समझ में नहीं आई। उलझन बढ़ती गई। हम दोनों के लिये। बराबर बराबर! हिसाब लगाता तो सोचता कि यदि १) रु० मासिक भी ऋण चुकाया जाय तो बारह वर्ष लगें। और एक रुपया भी कैसे चुके ?

ऋण बढ़ने की संभावना है। घटने की नहीं। ऋण भी आगे कौन देगा ? समाज का साधारण चन्दा देना भी भारी हो गया। मेरा उन दिनों सम्बन्धियों के विवाहों में जाना भी बन्द था क्योंकि जाने आने के लिये धन चाहियें।

अब केवल एक ही साधन था। वह था ईश्वर से प्रार्थना। जब प्रातः सायं संध्या करने बैठता तो नित्य ईश्वर से प्रार्थना करता कि "नाथ! कुछ भी विपत्ति दो। ऋण चुकाने का कोई साधन भेज दो।" एक मास बीत गया। न साधन दृष्टि में आया न प्रार्थना करना ही बन्द हुआ। प्रार्थना की सत्यता और तीव्रता बढ़ती गई। उसमें कोई कमी नहीं आई।

एक दिन एक आकस्मिक घटना हुई। उर्दू टीचर ने छुट्टी ली। हैड मास्टर महोदय का परवाना आया कि तुम अमुक

अवकाश के अन्तर में अमुक कक्षा को पढ़ा दो। मैं चला गया। लड़कों से पूछा।

"क्या पढ़ते हो ?"

एक ने कहा "उर्दू क़वायद।"

"मुझे एक कापी दो। मैं पढ़ाऊँ।"

मैं पुस्तक लेकर पढ़ाने लगा। वह पुस्तक नये ढंग की थी जिसमें उर्दू के व्याकरण को अंगरेजी व्याकरण से मिलान करके लिखा गया था। इण्डियन प्रेस की छपी हुई थी। मैंने ऐसा व्याकरण पहले कभी देखा नहीं था। मेरा उर्दू और हिन्दी की शिक्षा से कोई सम्बन्ध भी न था।

मेरे मन में कुछ विचार उत्पन्न हुआ। झट से जेब से कार्ड निकाल कर इण्डियन प्रेस इलाहाबाद को लिखा।

"क्या आप इस प्रकार का हिन्दी व्याकरण भी छापेंगे ?" दो तीन दिन के पीछे उत्तर आया, "पुस्तक लिखी हो तो भेज दो हम छापने को उद्यत हैं। क्या तुमने कोई पुस्तक कभी लिखी है ?"

मैंने इससे पहले कोई पुस्तक नहीं लिखी थी। क्या उत्तर देता ?

मैंने व्याकरण लिखना भी आरम्भ नहीं किया था। विना किसी आशा के एक कार्ड लिख दिया था। मैंने उत्तर में गोल माल लिखा कि "कुछ पत्रों को लेख तो लिखता रहा हूँ। पुस्तक कोई नहीं लिखी। आप मेरा लिखा व्याकरण ही देख लें। और यह भी लिखें कि क्या रायल्टी देंगे।"

इधर तो पत्र डाला और उधर लिखने बैठा। प्रातःकाल से लेकर रात को सोते समय तक लिखता। दस दिन बराबर मेरी लेखनी चलती ही रही। नहीं मालूम कि खाना भी मजे से

खाया या नहीं। स्कूल अवश्य जाता परन्तु अवकाश के अनुसार वहाँ भी लिखता ही रहा।

इण्डियन प्रेस से उत्तर आया, "हम रायल्टी नहीं देते। पुस्तक देखकर बता सकेंगे कि क्या दे सकते हैं।"

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्य वेत्ता श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा मेरे मित्र थे। एक दिन वे बिजनौर में आये। मैंने उनसे व्याकरण की चरचा की और पूछा कि मुझे उसका क्या मांगना चाहिये। वह इन बातों से अपरिचित से प्रतीत हुये। उन्होंने कहा "पुस्तक भेज दो और मूल्य उन्हीं लोगों के निश्चय पर छोड़ दो।"

यदि मुझे उस पुस्तक के बीस रुपये भी मिल जाते तो मैं सन्तुष्ट हो जाता। न होने से कुछ होना अच्छा है। मुझे जानता ही कौन था और मैंने ऐसा काम ही क्या किया था जिसके आधार पर कुछ साहस करता?

पुस्तक रजिष्ट्री करके भेज दी गई, ईश्वर से प्रार्थना जारी रही। यह ज्ञात नहीं कि कुछ आशा की आभा दिखाई दी या नहीं। यह भी ठीक-ठीक पता नहीं कि मानसिक अवस्था कैसी थी? तीसरे ही दिन लौटती डाक से उत्तर आया :—

"हमारे पास इसी ढंग की एक पुस्तक आई है जिसका हमने १५०) रुपया दिया है। तुम्हारी पुस्तक उससे बहुत अच्छी है अतः तुम को हम २००) दे सकते हैं। १००) अभी और १००) प्रकाशित होने पर।"

आप समझ सकते हैं कि मेरा दिल कितना न उछला होगा। दो सौ रुपये! कर्ज तो १५०) रुपये ही है। ईश्वर ने मेरी टेर सुन लीं।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देख दिनन का फेर।
जब नीके दिन आइहैं बनत न लगिहै बेर।

मैं फूला न समाया। उस खुशी में स्कूल के बरांडे से नीचे उतरा तो ऐसी असावधानी से पैर रक्खा कि पैर में मोंच आ गई। परन्तु मन की प्रसन्नता तो सैकड़ों मोंचों की पीडा से भी कहीं अधिक थी। स्कूल में ही इण्डियन प्रेस को उत्तर लिखा।

"मुझे स्वीकार है। परन्तु १५०) रु० अभी दीजिये। ५०) छपने पर"। तीसरे दिन इण्डियन प्रेस से १५०) के करेंसी नोट बीमा द्वारा आ गये। मैंने उसी दिन पूरा ऋण चुका दिया। मेरा मुख उज्वल हो गया। किसी को पता न चला कि यह रुपया कहाँ से आया। जब कष्ट दूर हो जाता है तो कष्ट की स्मृति पर हँसी आती है।

उस दिन से मेरी श्रद्धा ईश्वर प्रार्थना पर बढ़ गई है। जब कभी मेरे पास कोई अपना दुःख लाता है तो मैं उसे यही परामर्श देता हूँ कि श्रम करो और सच्चे दिल से ईश्वर से प्रार्थना करो। इलाहाबाद के प्रसिद्ध नागरिक थे रायबहादुर लाला सीता राम। वह हिन्दी भाषा के प्रभावशाली विद्वान थे। उनकी एक बात मुझे याद है। वह कहते थे कि यह लोकोक्ति अधूरी है कि ईश्वर उनकी मदद करता है जो अपनी मदद आप करते हैं। (God helps those who help themselves)। जो अपनी मदद आप कर सकता है ईश्वर उसकी मदद क्यों करने लगा ? जो बच्चा अपने हाथों दूध पी सकता है उसे माता दूध नहीं पिलाती। जो दौड़ सकता है उसे गोद में नहीं लिया करती। ऐसी सहायता की न किसी को आवश्यकता है न ईश्वर ऐसों की सहायता करता है। इस लोकोक्ति में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है।

God helps those who cannot help themselves.

ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप

करने में असमर्थ सिद्ध हो चुके हैं। जो बच्चा यत्न करने पर भी नहीं उठ सकता और अपनी भोली आँखों द्वारा माता से सहायता की याचना करता है। माता उस पर अवश्य ही दया करती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि आप ईश्वर से हर एक चीज माँगने लगें और ईश्वर आपको सब कुछ भेजता रहे। ऐसी सहायता तो प्राणी का उत्थान नहीं करती। मैं अपनी ही बात कहता हूँ। जब मुझे दस दिन के परिश्रम से २००) मिल गये तो मैंने समझा कि इस प्रकार तो मैं शीघ्र ही धनाड्य हो जाऊँगा। परन्तु अब मेरी प्रार्थना में वह बल नहीं रहा था और न आवश्यकता ही ऐसी थी। अतः फिर मुझे ऐसी सहायता नहीं मिली। मैंने भी समझा कि यदि कुछ भौतिक लाभ न हो और केवल ईश्वर-विश्वास ही दृढ़ हो जाय तो वह संसार के सभी और लाभों से बढ़कर है।

मेरे जीवन में एक बार और ऐसी घटना आई है। वह थी १९२४ ई० की बात। मैं इसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई में पड़ गया था। जहाँ जहाँ से आशा थी वहाँ वहाँ निराशा हो गई। मैं चिन्तित हो उठा। अन्त को कोई उपाय न देखकर मैंने वही पुराना उपाय सोचा, "जिसका कोई न हो उसका ईश्वर है" मैंने उसी प्रकार प्रार्थना करनी आरम्भ की।

कई दिनों के पश्चात् एक आकस्मिक घटना हुई। मैं प्रयाग में रहता था। मेरे एक मित्र हैं बाबू हरप्रसाद। यह आजकल तो कई सौ रुपये पेंशन पाते हैं। उन दिनों उनको शायद ३५) मासिक वेतन मिलता था। वह मेरे पास चार बजे प्रातःकाल लालटेन लेकर संस्कृत पढ़ने आया करते थे। एक दिन पूर्ववत् वह पढ़ने आये तो कुछ घरेलू बातचीत चल पड़ी। मुझे आवश्यकता थी २०००) दो सहस्र रुपये की। मैं व्याज पर ऋण लेने को तैय्यार था। परन्तु ऋण भी नहीं मिलता था। वे बोले,

"आपका तो प्रयाग में मान है। कई धनाड्य मित्र हैं। २०००) तो कोई दे देगा।" मेरे मुँह से निकला, "भाई। धनाड्य होना या मित्र होना दूसरी बात है ! और ऋण मिलना दूसरी बात।" वह बोले, "मेरा सेविंग बैंक में ६०० रुपया है। मैं निकाल दूँ। आप पीछे से देते रहना।" मैंने कहा, "यदि आवश्यक हुआ तो कहूँगा।" जब वह चले गये तो मैं जी में कहने लगा कि यह विचारा ३५) पाने वाला अपनी पसीने की कमाई के ६००) मुझे देने को उद्यत हैं। विना किसी विशेष आशा के। ऐसा व्यवहार तो मेरे लखपती मित्रों ने भी नहीं किया।

उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों मेरे हृदय के ऊपर से एक बोझ सा उतर गया क्योंकि ५००) रुपयों में भी उस समय की बला टल सकती थी। अब उत्साह के साथ मैं एक ऐसे सज्जन के पास गया जिनसे मुझे अगले वर्ष कुछ रुपया मिलना था। अब मेरे चेहरे पर उदासी न थी। न गिड़गिड़ी। गिड़गिड़ाया तो मैं अब तक किसी के समक्ष नहीं। मैंने उनसे मिल कर साधारणतया कहा, "क्यों जी आप मुझे इस समय ५००) रुपये क्यों नहीं दे देते ?" उन्होंने कहा, "दे सकते हैं। परसों भेज देंगे।" जब उनके यहाँ से ५००) आ गये तो मैंने बाबू हर प्रसाद जी से ५००) निकलवा लिये और १०००) में काम चल गया। मैंने ६ मास में यह ५००) उनको लौटा दिये।

मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी भी है और लोभी भी। और मैं भी काम, क्रोध, लोभ, मोह के दुरित-चतुष्टय से मुक्त नहीं हूँ। मनुष्य सदा ९९ के फेर में रहता है। परन्तु मुझे अत्यावश्यक अर्थ की कठिनाई केवल दो बार हुई है। और ईश्वर ने वहाँ से सहायता भेजी है जहाँ से सहायता मिलने का किसी को दूर का अनुमान भी नहीं हो सकता।

———

दासत्व मोचन

प्रतापगढ़ (अवध) में एक रात्रि को बच्चे सो गये थे। मैं और पत्नी घर गृहस्थी की बातें कर रहे थे। मेरी माता जी बाराबंकी में मेरे भाई पं० सत्यव्रत जी के साथ थीं। वार्तालाप के बीच में मेरे मुँह से अकस्मात् यह शब्द निकले, "क्या मृत्यु गवर्मेंट की नौकरी में ही होगी ?"

मेरी पत्नी जी बोलीं, "मुझे तुम्हारी इस प्रकार की बातें अच्छी नहीं लगतीं। जब तुम मृत्यु का नाम लेते हो तो मेरी छाती पर साँप लोट जाता है। मेरा हृदय काँप उठता है। मैं ऐसी बातों को सहन नहीं कर सकती। यदि सरकारी नौकरी ऐसी ही बुरी लगती हैं तो छोड़ क्यों नहीं देते ?"

"छोड़ कैसे दूँ ? बाल बच्चों की भी तो चिन्ता है। यदि कल को विपत्ति आई तो तुम्हीं को शिकायत होगी।"

"मुझे क्यों व्यर्थ दोष देते हो ? मैंने क्या कभी कोई शिकायत की है ? क्या कभी कोई ऐसी चीज मांगी है जिसको लाने में तुमको असुविधा हुई हो ? मैंने कभी तुम से जेवर के लिये नहीं कहा। न कपड़े के लिये। न खाने पीने के लिये और न मेले जाने के लिये। मैं तो उसी में राजी हूँ जिसमें तुम राजी हो। यदि तुम को सरकारी नौकरी में मरना बुरा लगता है तो बिना सोच विचार के छोड़ दो।"

"फिर यदि भूखा रहना पड़े तो शिकायत मत करना।"

"शिकायत क्यों करूँगी ? जो विपत्ति तुम झेलोगे उसको झेलने में मुझे क्या आपत्ति है ?"

"अच्छा तो कल ही मैं प्रयाग के डी० ए० वी० स्कूल के मैनेजर को लिखता हूँ कि यदि तुम चाहो तो मैं त्याग-पत्र देकर आ जाऊँ।"

"लिख दो। मुझे मंजूर है।"

इस वार्तालाप की पृष्ठ भूमि बताने की आवश्यकता है। बात यह है कि १९०१ ई० में जब मैं हाई स्कूल अलीगढ़ में अध्यापक हुआ तो मेरा प्रयोजन केवल इतना था कि मै बी० ए० पास कर लूँ। मैं इंट्रेंस पास हो चुका था। आगे पढ़ने के लिये साधन न थे। उन दिनों वकालत की परीक्षा के लिये केवल इंट्रेंस पास करना पर्याप्त समझा जाता था। यदि मैं बाबू तोताराम या बाबू मुन्नीलाल की शरण लेता जिन्होंने मुझे आरम्भ में सहायता दी थी तो वकील बन सकता था। परन्तु ऋषि दयानन्द की शिक्षा ने वकालत से मेरा मुँह फेर दिया था। और विशेषकर महात्मा मुंशी राम जी (स्वा० श्रद्धानन्द) के दृष्टान्त ने जिन्होंने आध्यात्मिक कारणों से वकालत छोड़ी थी और जिसका विस्तृत वृत्त मैंने "सद्धर्म प्रचारक" में पढ़ा था। बाबू तोता राम तथा बाबू मुन्नीलाल आर्य्य समाज के घोर विरोधी थे। बाबू तोता राम जी के एक गुरू थे जिनसे और स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ हुआ था। बाबू जी की स्वभावतः अपने गुरु जी पर श्रद्धा थी और वह सहृदय और अच्छी प्रकृति के होते हुये भी सुधार के सर्वथा विरोधी थे। हिन्दी की उन्नति में अवश्य ही उन्होंने अच्छा काम किया था और हिन्दी के आरम्भिक संपोषकों में उनका विशेष स्थान है। जब यू० पी० प्रान्त के गवर्नर थे मैकडानल महोदय और श्री मदन मोहन मालवीय जी ने हिन्दी के सरकारी दफ्तरों में चालू करने का आन्दोलन आरम्भ किया था, उस समय बाबू तोताराम जी ने भी बहुत

कुछ भाग लिया था। उनका एक हिन्दी प्रेस भी था और शायद कोई पत्र भी निकलता था। परन्तु उन दिनों केवल यह सुनकर ही कि वे आर्य्य समाज के विरोधी हैं अपनी ओर से ही मैंने उनके पास जाना या उनसे कुछ परामर्श करना बन्द कर दिया था। यदि मैं उनसे सम्बन्ध बनाये रखता तो शायद वह मुझको आर्य्य समाज की प्रेरणा न करते। वह बड़े थे और मैं था एक कच्चा नवयुवक। मैंने तो यही अच्छा समझा कि न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

हाई स्कूल अलीगढ़ के हैडमास्टर थे मिस्टर कूपर (Mr. Cooper) जो अभी थोड़े ही दिन हुये इंग्लैण्ड से आये थे। वह मुझ पर कृपा करते थे। उन्होंने बिना प्रार्थना-पत्र दिये ही अपनी ओर से मुझे हाई स्कूल में टीचर रख लिया। और मैं इण्टर पास करने की कुछ-कुछ तैय्यारी करने लगा।

१९०२ जुलाई में सरकारी आदेश मिला कि इलाहाबाद के ट्रेनिंग कालेज में उन सबको जाने के लिये बाधित किया जाय जिनकी सेवायें तीन वर्ष से कम की हैं। मेरे दो साथियों ने तो अध्यापकी छोड़कर अन्यत्र नौकरी कर ली। परन्तु मैं प्रयाग जाने के लिये राजी हो गया। श्री बाबू छोटेलाल जी भार्गव जो वैदिकाश्रम में रहते थे इलाहाबाद के निवासी थे। उन्होंने मुझे अपने परिवार से परिचय करा दिया और ५ जुलाई १९०५ ई० को शनिवार के दिन मैं ट्रेनिंग कालेज में प्रविष्ट हो गया।

यह मैं कह दूँ कि बी० ए० पास करना भी मैं इसलिये चाहता था कि आर्य्य समाज की सेवा कर सकूँ। वैदिक आश्रम में उससे कुछ दिन पूर्व आर्य्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री कुँवर हुक्मसिंह जी और मुँशी नारायण प्रसाद जी (श्री महात्मा नारायण स्वामी जी) आये थे। उन्होंने मुझ में कुछ उत्साह देखकर यह प्रस्ताव किया कि मैं सभा में उपदेशक हो जाऊँ। परन्तु मुझे

यह प्रस्ताव प्रिय न लगा। मैंने कहा, "आर्य्य समाज का काम वेतन लेकर न करूँगा।" ट्रेनिंग कालेज पास करने के उपरान्त मेरी बिजनौर में नियुक्ति हुई। १९०८ के दिसम्बर में मैं बाराबंकी आया और सितम्बर १९१७ में प्रतापगढ़। इसमें मेरा शिक्षा सम्बन्धी प्रयोजन तो सिद्ध हो चुका था। १९०५ में मैंने इण्टर पास किया। १९०८ में बी० ए० संस्कृत और फिलासफी लेकर। १९१२ में अँगरेजी लेकर एम० ए०।

इस बीच में कई बार आर्य्य समाज की सेवा के लिये नौकरी छोड़ने का प्रसङ्ग आया। 'विलायती चीनी' के झगड़े के समय भी कुछ मित्रों ने संकेत किया था। परन्तु नालायक़ करके निकाला जाकर आर्य्य समाज में जीविका के लिये आना मुझे प्रिय न था। यदि उस समय नौकरी छूट जाती तो मैं कुछ भी कर लेता आर्य्य समाज की शरण न लेता। मेरा पूर्व से ही यह दृढ़ विश्वास रहा है कि सार्वजनिक सेवा उन लोगों से नहीं बन सकती जो कहीं अन्यत्र काम न मिलने पर किसी संस्था की शरण लेते हैं। यदि भूखा मरने की नौबत आजाय तो मैं किसी अपरिचित स्थान पर अपने भाग्य आजमाऊँगा न तो किसी रिश्तेदार के पास जाऊँगा न इष्ट मित्रों के और न उन संस्थाओं में जहाँ आत्म-सम्मान को रखकर ही कार्य किया जा सकता है। मैंने बचपन में उर्दू के महाकवि ग़ालिब की यह पंक्तियाँ पढ़ी थीं जिनका मुझ को प्रायः स्मरण हो जाता है :—

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो।
हम सखुन कोई न हो और हम ज़बां कोई न हो।
पड़िये गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार।
और अगर मर जाइये तो नोहाख्वां कोई न हो।

१९०८ ई० में मेरे एक मित्र श्री कान्तिप्रसाद जी डी० ए० वी० हाई स्कूल देहरादून के हैड मास्टर हो गये थे। उन्होंने प्रस्ताव किया कि मैं सरकारी नौकरी छोड़कर देहरादून स्कूल में अपनी सेवायें अर्पण कर दूँ। कुछ पत्र व्यवहार भी हुआ और मैं बिल्कुल तैयार हो गया। परन्तु अन्त में मेरी नियमानुसार नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ ऐसा उत्तर आया कि एक कार्ड में मैंने उस योजना का अन्त कर दिया और बंधे बिस्तर खोल डाले। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि नौकरी करनी हो तो केवल सरकारी। अन्यत्र अनुदारता की संभावना अधिक थी। आर्य्य समाज का साधारण काम करने में कोई रुकावट भी न थी। प्रश्न भावुकता का था।

सन् १९१२ में जब मैं एम० ए० का सर्टीफिकेट लेने इलाहाबाद आया तो दीक्षान्त संस्कार के अवसर पर आर्य्य समाज की ओर से मेयोहाल में ग्रेजुयेट लोगों में प्रचारार्थ एक उत्सव किया गया। श्री मदन मोहनजी सेठ जो उस समय प्रतिनिधि सभा के मंत्री थे, श्री घीसू लाल जी और पंडित अखिलानन्द को लेकर प्रयाग आये। घीसू लाल जी का अंगरेजी में और पं० अखिलानन्द का संस्कृत में व्याख्यान हुआ। ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद के प्रोफेसर श्री लाला कृष्णचन्द्र जी मेरे गुरु थे। उस समय गुरुकुल बृन्दावन का आरम्भ ही हुआ था। उन्होंने सेठ जी से प्रस्ताव किया कि इनको ले जाओ। परन्तु मुझे गुरुकुल इतना ऊँचा दृष्टि पड़ता था कि मैं अपने को गुरुकुल के अयोग्य समझता था। जाना वहाँ चाहिये जहाँ अच्छी तरह काम हो सके। ऐसा काम लेना जो सिद्ध न हो सके मुझे प्रिय नहीं। अनुचित मनुष्य अनुचित स्थान पर (Wrong man in the wrong place) सदा विपत्ति का कारण होता है। वह बात भी टल गई।

१९१६ ई० में कुछ मित्रों ने अलीगढ़ की डी० ए० वी० पाठशाला में जाने की प्रेरणा की। अलीगढ़ में मेरे कई मित्र थे। परन्तु कुछ मित्रों ने ही मुझे वहाँ जाने का परामर्श नहीं दिया। उन्हीं दिनों डी० ए० वी० स्कूल इलाहाबाद भी हाई स्कूल हो गया। बड़े जोश से काम आरम्भ हुआ। इलाहाबाद के मित्रों ने मेरे आने का प्रस्ताव किया। वे चाहते थे कि मैं दो वर्ष की छुट्टी लेकर आजाऊँ। मैं इसके लिये तैय्यार था। बा० रमाकान्त जी स्कूल के मैनेजर थे। मेरा उनका परिचय न था। बा० रमाकान्त जी अत्यन्त कोमल प्रकृति के और सद्हृदय मनुष्य थे। उन्होंने सोचा कि किसी ऐसे मनुष्य को जो सरकारी 'पेंशनेबिल पोस्ट' पर हो ऐसे स्कूल में बुलाना ठीक नहीं है जिसके पास वेतन देने के लिये भी धन नहीं, अतः उन्होंने मेरे हित में मुझे काँटों में डालना पसन्द नहीं किया। मैं किसी काम के लिये जब इलाहाबाद आया तो वह मुझे मिले और मुझे सम्पूर्ण परिस्थिति समझा दी।

यह थी वार्तालाप की पृष्ठ-भूमि जो हम दम्पती के बीच उस दिन प्रतापगढ़ में हुआ था। मैंने दूसरे ही दिन इलाहाबाद वालों को कहला भेजा कि मैं नौकरी छोड़कर भी आने को उद्यत हूँ यदि वे चाहें। शर्तें निश्चित हुईं। मैंने यह शर्त अपनी ओर से पेश की कि १२५) रु० आरम्भ में दिये जाँय, प्रति वर्ष १०) की वेतन वृद्धि हो और २५०) पर अन्त हो। स्कूल वालों ने तुरन्त शर्तें स्वीकार कर लीं। उन दिनों श्री कर्मचन्द भल्ला मैनेजर थे। इनका स्टार प्रेस चलता था। यह आस्ट्रेलिया और न्यूजीलेण्ड आदि स्थानों में रहकर आये थे। यह मुझे प्रतापगढ़ में मिले। मैं सार्वजनिक संस्थाओं की कार्य प्रणाली व साधारण लोगों की मनोवृत्ति को जानता था। मैंने उनको कहा, "आप पहले डायरेक्टर महोदय से मिलिये और पूछिये कि वह मेरे विषय में

क्या विचार रखते हैं। यदि वे मेरी प्रशंसा करें तो आप मुझे लेवें। यदि वह मेरे काम से सन्तुष्ट न हों तो मैं आपके यहाँ कभी आने को तैयार नहीं हूँ।" कुछ ऐसे कारण हो गये थे कि श्री डी० ला० फोस जो डायरेक्टर थे मुझे जान गये थे। अतः जब भल्ला जी उनके पास गये और मेरा नाम लिया तो उन्होंने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। जब मैंने एक निज पत्र में उन पर अपना विचार प्रकट किया कि मैं एक धार्मिक और जातीय संस्था में काम करने जाना चाहता हूँ तो उन्होंने नैनीताल से मुझे एक शिष्टाचार का पत्र लिखा कि इस विषय में मैं क्या सम्मति दूँ। यदि तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा कर लो।

बात पक्की हो गई। मैं जुलाई १९१८ से नौकरी छोड़कर जाने को राजी हो गया। मैंने कोई नियमानुसार प्रार्थना पत्र नहीं भेजा था। इंस्पेक्टर थे हार्डी महोदय। वह स्कूल वालों से बिगड़े हुये थे। उन्होने लिखा कि इनकी अर्जी मेरे पास देखने के लिये भेज दो। ज्ञात नहीं कि उन्होंने ऐसा क्यों लिखा। मैं यदि अर्जी भेजता तो शिक्षा विभाग के द्वारा भेजनी चाहिये थी। जब बाबू रमाकान्त ने मुझे प्रार्थना-पत्र के लिये लिखा तो मैंने एक कार्ड में दो पंक्तियाँ लिख दीं। वह यह थीं :—

I never applied. You offered & I accepted it.

अर्थात् मैंने कभी प्रार्थना नहीं की थी। आपने प्रार्थना की और मैंने स्वीकार कर ली। भल्ला जी हर बात पर श्री डैलाफोस से परामर्श किया करते थे। अतः अन्त में सब कुछ निश्चित हो गया। मैंने जून में नियमानुसार सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और १६ जुलाई १९१८ से दयानन्द हाई स्कूल इलाहाबाद की मुख्याध्यापिकी का काम संभालने में लग गया। यहाँ से मेरे जीवन का नया युग आरम्भ हुआ।

———

अतीत-आलोचन

जब मैं इलाहाबाद में हैडमास्टर होकर आया तो मेरी अवस्था ३७ वर्ष की थी, १८८१ से १८९८ ई० तक लगभग १७ वर्ष शूद्रत्व में कटे और १८९८ से १९१८ तक बीस वर्ष द्विजत्व में। वैदिक संस्कृति में मनुष्य के दो जन्म माने गये हैं। एक माता के शरीर से जिसे आप भौतिक जन्म कह सकते हैं। दूसरा आध्यात्मिक जो गुरु से प्राप्त होता है। अथर्ववेद में लिखा है कि जिस प्रकार प्राणी माता के गर्भ में आकर अपने शरीर के अंग-प्रत्यंग का निर्माण करता है और लिङ्ग शरीर की अभिगुप्त बीज शक्तियाँ विकसित होकर स्थूलकाय शरीर में परिवर्तित हो जाती हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक बीज शक्तियों का विकास गुरु के द्वारा होता है। इसको कहते हैं द्विज। 'द्विज' शब्द के और भी अर्थ हैं। पक्षी को द्विज इसलिये कहते हैं कि उसका दो बार जन्म होता है। एक बार अण्डे के रूप में माता के पेट से, फिर अण्डे का विकास पक्षी के शरीर के रूप में होता है। वहाँ भी बात वही है। अर्थात् अव्यक्त शक्तियों का व्यक्त होना। दाँतों का नाम भी द्विज है, क्योंकि पहले दूध के दाँत निकलते हैं। वह गिर जाते हैं तो दूसरे दाँत जो उनके स्थान पर निकलते हैं वह अधिक उपयोगी और अधिक स्थायी होते हैं। मेरे सत्रह वर्षीय प्रथम युग को आप किसी नाम से पुकार सकते हैं। चाहे अण्डा कहिये चाहे दूध के दाँत। था वह अद्विज युग। द्विज-युग तो १८९८ ई० में आरम्भ हुआ था जब यज्ञोपवीत भी हुआ और आर्य्य समाज के प्रभाव-क्षेत्र

में भी आया। मेरे आचार्य थे ऋषि दयानन्द। वह ही अन्यान्य गुरुओं के रूप में आकर मेरे विकास में सहायता देते रहे। और मेरे कान में कहते रहे, "अहं आचार्यस्तव" "दयानन्द आचार्यस्तव।" जिस प्रकार सोता हुआ मनुष्य प्रातःकाल के प्रकाश में आँख खोलकर सृष्टि की विचित्र महिमा का अवलोकन करता है उसी प्रकार मेरी आँखें खुल गईं। और मैं हर समस्या पर विचार करने लगा। जिस प्रकार उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कभी पानी में नमक मिलवाकर, कभी बरगद के बीज को तुड़वाकर, कभी अन्य साधनों द्वारा यह समझाने की चेष्टा की कि तू शरीर नहीं है अपितु नमकीन पानी में मिले हुये अदृष्ट नमक के समान, या बरगद के बीज में निहित वास्तविक बरगद के समान शक्ति-सम्पन्न अस्थूल आत्मा है उसी प्रकार ऋषि दयानन्द मुझको नित्य ऐसा कहते प्रतीत होते थे कि "तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" हे शुभ्र-प्रज्ञा वाले मनुष्य, तू समझ कि तू चेतन आत्मा है। जड़ नहीं। मैं अपने को स्वामी दयानन्द का ऋणी समझता हूँ। यह मेरे ऊपर ऋषि-ऋण है जिसको चुकाने का प्रयास तो करता रहा हूँ परन्तु आन्तरिक निर्बलताओं के कारण सफल नहीं हो सका। सरकारी नौकरी से त्याग पत्र भी उसी प्रयास-मार्ग का एक क़दम था। आगे चलने से पहले अतीत पर एक दृष्टि-पात करता चलूँ।

मनुष्य को लोगों ने परिस्थिति का कीड़ा कहा है। इस पर बहुत बड़ा साहित्य है और दार्शनिक विचार धाराओं ने कई परस्पर विरोधी क्षेत्र बना डाले हैं। परन्तु मैं मनुष्य को परिस्थिति की मकड़ी कहता हूँ। उपनिषदों में प्रपंच को ऊर्णनाभ अर्थात् मकड़ी के जाले से उपमा दी है। मकड़ी में जाला बुनने की अद्भुत शक्तियां अभिगुप्त होती है। और मकड़ी का शरीर वह क्षेत्र है जिसमें से उन बीज-शक्तियों के प्ररोहण की सामग्री

या खाद की उपलब्धि होती है। उसी में से मकड़ी अपनी चेतनता के फलस्वरूप जाला बनाती है। वह मकड़ी का घर होता है। इसी प्रकार मनुष्य बीज शक्तियाँ तो साथ लाता है। परिस्थितियाँ खाद-प्राप्ति का साधन मात्र होती हैं। बिना खाद पाये बीज बढ़ नहीं सकता और बिना बीज के केवल खाद से भी कोई पौधा उग नहीं सकता। मुझे भी कुछ परिस्थितियाँ मिलीं और अपनी पूर्वसंचित शक्तियों द्वारा मैंने उनको उपयोग में लाने का प्रयास किया। ऋषि दयानन्द के उपदेशों ने "क्षेत्रकवत्"* मेरी सहायता की।

१९१८ के पूर्व और पश्चात् के युग में सब से बड़ा भेद यह है कि पिछले बीस वर्षों में मैं यह सोचता रहा कि मुझे अपने लिये क्या करना चाहिये। इसके पीछे मुझे यह चिन्तन भी हुआ कि आर्य्य समाज के लिये मुझे क्या करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि आर्य्य समाज से मेरा सम्पर्क नहीं था। मैं जहाँ रहा आर्य्य समाज का नियमानुसार सदस्य रहा। साप्ताहिक अधिवेशनों में निरन्तर जाता रहा। अन्य स्थानीय कामों में भाग भी लेता रहा। परन्तु बाहर की सृष्टि से मैं सर्वथा अलग रहा। करता भी क्या ? 'नंगी क्या नहाय और क्या निचोड़े ?' मेरे पास इससे अधिक कार्य करने के लिये साधन भी न थे।

आरम्भ में बाल बुद्धि होने के कारण मेरी रुचि खण्डन की ओर बढ़ी। विशेष कर इस्लाम धर्म के खण्डन की ओर। फारसी पढ़ी थी। अरबी पढ़ना आरम्भ किया। इण्टर परीक्षा में अरबी लेने का विचार था, इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज में आकर ऐच्छिक विषयों में अरबी को चुना। अरबी के उपाध्याय थे मौलवी मुहम्मद उस्मान एम० ए०। बड़े सज्जन और बड़े कृपालु।

---

* योगदर्शन कैवल्यपाद सूत्र ३

उनकी कक्षा में मेरे सिवाय कोई और गैर-मुस्लिम न था। वह मुझे बड़े प्रेम से पढ़ाते थे। और मैं कक्षा में किसी से पीछे न था। जालन्धर से उर्दू का एक मासिक निकलता था "वैदिक मैगज़ीन।" इसके सम्पादक थे लाला वजीर चन्द विद्यार्थी। मैं उसमें बराबर लेख लिखा करता था। इलाहाबाद के ईसाई मिशन की ओर से एक पत्र निकलता था 'नूर अफशां' उसमें सत्यार्थ प्रकाश के तेरहवें समुल्लास का खण्डन "सत्यार्थ-प्रकाश दर्पण" के नाम से छपता था। लाला वजीर चन्द जी ने उसका उत्तर लिखने के लिये मुझे चुना था। और मैंने "अन्धकार निवारण" के नाम से एक लेख सरणी उसके उत्तर के रूप में लिखी थी जो वैदिक मैगज़ीन मैं छपा करती थी। अचानक एक दिन मेरे मन में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। मैंने सोचा कि केवल खण्डन न तो मुझे ही लाभ देता है न दूसरों को हितकर हो सकता है। यदि मैं वैदिक धर्म के रहस्यों को समझने की योग्यता नहीं रखता तो "अन्धेन नीयमाना यथान्धाः" की लोकोक्ति मुझ पर घटती है। एक आर्य्य को पहले संस्कृत पढ़नी चाहिये। अतः मैंने निश्चय कर लिया कि अगली इण्टर परीक्षा में अरबी न लेकर सस्कृत लूंगा। अतः अरबी की ओर से सर्वथा उदासीन हो गया। परीक्षा तो दी परन्तु बे मन के। बिना तैयारी के। परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हुआ और मेरे प्रोफेसर महोदय ने यह प्रकट किया कि मुसलमान परीक्षकों ने इसके साथ पक्षपात किया है। वस्तुतः यह बात न थी। अरबी की अनुत्तीर्णता मेरी मौलिक परीक्षा में बाधित न थी, यह सर्वथा फालतू विषय था।

मेरे ट्रेंनिग कालेज के सहपाठी थे मुंशी धनपति राय जो आगे चलकर 'मुंशी प्रेमचन्द के' नाम से प्रसिद्ध हुये। यह 'रण-पतिराय' के कल्पित नाम से उर्दू के पत्रों में लेख लिखा करते थे। अधिकतर ऐतिहासिक कहानियाँ। उन्होंने मुझे भी प्रेरणा

की। परन्तु उनके और मेरे मार्ग अलग ही रहे।

बिजनौर में पूर्व प्रवृत्ति कुछ-कुछ फिर जागृत हुई। मेरे बिजनौर पहुँचने के दो मास पूर्व ही नगीने का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ मास्टर आत्माराम जी और मौलवी सनाउल्लला के बीच में हो चुका था। उसकी गूँज बिजनौर में विशेष कर विद्यमान थी। उन्हीं दिनों साधु योगेन्द्रपाल बिजनौर में आ गये। बराबर मुसलमानों से शास्त्रार्थ होते रहे। मैं भी उनमें सक्रिय सहयोग देता रहा। परन्तु यथा शक्ति संस्कृत का अध्ययन चलता रहा वह भी साधारण रूप से। मैंने कई विद्यार्थियों को नवीं कक्षा में संस्कृत लेने की प्रेरणा की उनमें से एक मुसलमान विद्यार्थी भी था। संस्कृताध्यापक इन लड़कों को नवीं कक्षा में संस्कृत देने में संकोच करते थे। मैंने स्वयं उनको तैयार करने में सहायता की। मुसलमान विद्यार्थी का मैं नाम भूल गया हूँ। उसने बी० ए० भी संस्कृत लेकर पास किया था।

बाराबंकी और प्रतापगढ़ में मैंने आर्य्य समाज का कोई पद ग्रहण नहीं किया। परन्तु कार्य बराबर करता रहा। बाराबंकी में मुझे दो बड़े होनहार विद्यार्थी मिले एक विन्ध्येश्वरी प्रसाद और दूसरा अग्ने लाल। यह बड़े उत्साही आर्य्य थे। और मुझे आशा थी कि आगे चलकर यह आर्य्य समाज के अच्छे कार्यकर्ता बनेंगे। विशेष कर अग्ने लाल जो घर का सम्पन्न, अत्यन्त तीव्र-बुद्धि और चंचल स्वभाव का युवक था। श्री मदनमोहन जी सेठ ने उसका नाम "अग्नि" रक्खा था। उसे दर्शन में विशेष रुचि थी। जब मैं इलाहाबाद में आया तो मेरे कारण उसने लखनऊ का कैनिंग कालेज छोड़कर इलाहाबाद के क्रिश्चयन कालेज में नाम लिखाया। एक बार अमेरिका के एक विद्वान् क्रिश्चियन कालेज में आये तो डाक्टर जैनवियर ने जो स्वयं दार्शनिक थे उसका यह कहकर परिचय कराया कि यह मेरा

फिलासफ़र स्टूडेण्ट है। मुझे खेद है कि बी० ए० की परीक्षा देने के उपरान्त ही प्रचार के लिये जाते हुये उसका हैज़े से देहान्त हो गया। उसके परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सूचना भी पीछे से आई। विन्ध्येश्वरी प्रसाद की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी।

इलाहाबाद में आकर मुझे यह सोचने का अवसर मिला कि आर्य्य समाज के लिये क्या करना चाहिये। सरकारी नौकरी में कोई रुकावट तो न थी परन्तु थी फिर भी यह दासता। इसका मन पर प्रभाव भी पड़ता ही था। अब उससे मुक्ति मिल गई। और मैंने देखा कि कई मार्ग खुले हुये हैं। विशेषकर चार मार्ग थे (१) आर्य्य संस्था में काम करना। यह तो मेरा कर्तव्य ही था। मैं समझता था कि दयानन्द स्कूल का अध्यक्ष बनकर मैं आर्य्य समाज के अधिक निकट आ गया हूँ। (२) पत्रों को लेख (३) साहित्य सेवा। (४) प्रतिनिधि सभाओं से सम्पर्क जिसको संकुचित अर्थ में सार्वजनिक जीवन कह सकते हैं। मैंने इन चारो मार्गों का अवलम्बन करना आरम्भ किया परन्तु कछुवे की चाल से। मुझे खरगोश की नीति प्रिय नहीं है। मैं धीरे धीरे चलता हूँ। न फुदकता हूँ न बड़ी बड़ी छलांग मारता हूँ। एक तीसरी चाल भी है न कछुवे की धीमी न खरगोश की दौड़। उसमें तेज़ी भी है और नैरन्तर्य भी। वह है कोल्हू के बैल की चाल। कोल्हू का बैल सदैव दौड़ता रहता है परन्तु रहता वहीं पर है। उसने तेली के घर से आगे निकलकर कभी नहीं देखा कि संसार कैसा है। मुझे इस चाल से बड़ी घृणा है। और मैं बार बार आत्म निरीक्षण करता हूँ कि मेरी गति कोल्हू के बैल के समान तो नहीं हो रही।

प्रत्येक विभाग में मेरी इस मन्दगति ने जो साफल्य या वैफल्य प्राप्त किया उसका संक्षिप्त विवरण आगे किया जायगा।

दयानन्द स्कूल इलाहाबाद

प्रयाग के डी० ए० वी० स्कूल की नींव १७ जुलाई सन् १९१४ को पड़ी। इसके निर्माता आर्य्यकुमार सभा प्रयाग के कुछ उत्साही नवयुवक थे जिनमें बलिया के श्री जंग बहादुर लाल जी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। यह युवक भिन्न-भिन्न कालिजों या स्कूलों के विद्यार्थी थे जिन्होंने पानदरीबा में एक कोठरी लेकर चार छः बच्चों को पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। आर्य्य समाज के आरम्भिक काल में पंजाब में दो दल हो गये थे। एक का नाम था 'कालेज पार्टी' और दूसरे का 'गुरुकुल पार्टी।' 'कालेज पार्टी' को लोग ग्रामीण भाषा में 'मांस पार्टी' भी कहा करते थे। अतः उसने संयुक्त प्रान्त में कोई आकर्षण प्राप्त नहीं किया। और इस प्रान्त की आर्य्य जनता दयानन्द स्कूलों को घृणा या कम से कम उदासीनता की दृष्टि से देखती रही। प्रयाग की आर्य्य कुमार सभा का पंजाब की किसी पार्टी से सम्बन्ध न था। उन्होंने स्कूल को केवल विद्या प्रचार और धर्म प्रचार की दृष्टि से खोला था। परन्तु पुरानी भावनायें काम करती थीं और प्रयाग आर्य्य समाज के नेताओं ने लड़कों का खेल समझकर इसकी ओर घोर उदासीनता प्रदर्शित की थी। कुमार लोग उत्साह से काम करते रहे। जब स्कूल कुछ बढ़ा तो उन्होंने वृद्ध पुरुषों से भी सहायता ली। आर्य्य समाज कटरा में कुछ ऐसे सज्जन भी थे जिनको डी० ए० वी० स्कूल और कालिजों के विद्याविभाग से रुचि थी। श्री कर्मचन्द भल्ला आस्ट्रेलिया से आ गये। इनका डी० ए० वी० कालेज लाहौर से हित था। कुछ

और सज्जनों ने भी सहयोग देना आरम्भ किया जिनमें बाबू जसवन्तराय जी और बाबू रमाकान्त जी भी थे। बाबू जसवन्त राय जी आर्य्य समाजी न थे। उनकी पत्नी श्रीज्ञानवती जी बड़ी उत्साही आर्य्य समाजी थीं। वह अपने पतिदेव को आर्य समाज या विद्या सम्बन्धी कामों में निरन्तर रुचि दिलाती रहती थीं। बाबू जसवन्तराय जी को स्त्री शिक्षा से प्रेम था। वह क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज और आर्य कन्या पाठशाला प्रयाग के प्रमुख कार्य-कर्ता थे।

जब यह लोग भी दयानन्द स्कूल की मैनेजिंग कमेटी में आये तो स्कूल के आगे बढ़ाने का प्रश्न उठा। पहले तो भवन चाहिये, इसके लिये बाबू रमाकान्त जी ने अपना बाग़ दे दिया जिसमें डी० ए० वी० कालेज इलाहाबाद का वर्तमान भवन है। भूमि मिल जाने पर भवन बनना आरम्भ हुआ। चंदा किया गया परन्तु उसमें सफलता न मिली या बहुत कम मिली। यह निश्चय ही कर चुके थे कि काम होना चाहिये। अतः बाबू जसवन्त राय, श्री दमड़ी ओझा, बाबू रमाकान्त और दो एक अन्य सज्जनों ने अपने वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर दो हजार रुपये इलाहाबाद बैंक से और सात हजार कटरा बैंक से कर्ज लेकर छः ही मास में एक खपरैल का भवन तैयार कर दिया। १९१६ ई० में उसका उद्घाटन करने के लिये शिक्षा विभाग के प्रमुख अध्यक्ष श्री डी० ला० फोस को बुलाया तो वे सदस्यों के उत्साह को देखकर चकित रह गये। उन्होंने मुक्त कण्ठ से प्रबन्धकर्ताओं की प्रशंसा की और स्कूल क्षण भर में जादू के ज़ोर से हाई स्कूल बन गया। मुझे इसी हाई स्कूल की हैडमास्टरी पर बुलाया गया था।

जब मैंने स्कूल का चार्ज लिया तो इतना ज्ञात था कि स्कूल प्राइवेट है। सरकारी कोष उसकी सहायता नहीं कर सकता।



श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय डी० ए० वी० स्कूल इलाहाबाद के अध्यापकों के मध्य में [सन् १९३९]



स्कूल के पास पैसा भी न होगा। कुछ पुराने मित्रों ने जिनकी संख्या कुछ कम न थी मुझे निज पत्रों में चेतावनी भी देदी थी कि धनशून्य संस्था में आकर तुम क्यों विपत्ति मोल लेते हो। परन्तु मैं तो कुछ आगे बढ़ चुका था। मैं मन्दगति हूँ। परन्तु पीछे आज तक कभी नहीं लौटा।

हर चि बादाबाद मा कश्ती दर आब अन्दाख्हेम
मया तु जीवन नौकाऽ
स्यर्णवे संनिपातिता।
उदधीशो महादेवः
तारयेद् वा न तारयेत्।

यहाँ आकर मैंने देखा कि आर्थिक दशा शून्य से कहीं नीचे है। पूरा १०६००) ऋण था। सौ रुपये के लगभग ब्याज हो जाता था। वेतन बाँटने के लिये पैसा न था। परन्तु सदस्यों के आत्म-त्याग का मेरे ऊपर प्रभाव था। मैंने वैयक्तिक उत्तर-दायित्व पर सार्वजनिक संस्था के लिये ऋण लेकर अपना पैर फँसाते हुये इन्हीं लोगों को देखा था, अतः मुझे कोई संकोच या पश्चाताप नहीं हुआ, उनके दृष्टान्त ने मेरे उत्साह को आगे बढ़ा दिया। और येन केन काम चलता रहा। जब रुपया न होता और वेतन बाँटने का समय आता तो मैं न्यूनतम वेतन वालों को पहले वेतन बाँट देता था। सबसे पीछे मेरी बारी आती थी। अतः जनता को यह ज्ञात नहीं होता था कि स्कूल निर्धन है। यहाँ की कई संस्थाओं में उलटा हाल था। मुख्याध्यापक पहले अपना वेतन ले लेता था। शेष चिल्लाते रहते थे। नगर भर में शोर मचता था कि अमुक स्कूल में अभी वेतन नहीं बटा। लोग आश्चर्य करते थे कि डी० ए० वी० स्कूल में समय पर वेतन कैसे बट जाता है।

ऋण दिन पर दिन बढ़ता गया। चन्दा माँगने का यत्न किया गया परन्तु सफलता नहीं हुई। प्रतिदिन चिन्ता रहती थी। प्रबन्धकों को भी और मुझे भी। परन्तु एक क्षण भी यह कभी ध्यान नहीं आया कि मैंने यहाँ आने में भूल की। मेरे साथ समस्त प्रबन्धकर्तृ सभा का व्यवहार बहुत अच्छा था। वे आदर करते थे।

डायरैक्टर साहेब से मैं कई बार मिला। जब मिलते पूछते, "तुमको प्रबन्धक लोग दिक़ तो नहीं करते।" जब पहली बार मैं मिलने गया और उनसे कहा, "नई परिस्थिति में आया हूँ। कुछ उपदेश दीजिये" तो उन्होंने एक बात बड़े अनुभव की कही, "देखो सुधार करने में जल्दी मत करना। जो दौड़कर चलते हैं वह अपना पैर तोड़ बैठते हैं।" मुझे उनका उपदेश बहुत ही मूल्यवान लगता है। प्रत्येक विभाग में इसकी परीक्षा की जा सकती है। हर संस्था में जो नया मनुष्य आता है वह आते ही अपनी सुधार की स्कीम चलाने लगता है। हथेली पर सरसों जमाने की कोशिश में वह सरसों को भी फैला बैठता है। अफगानिस्तान का शासक अमानुल्ला इसी में मारा गया। अन्य लोगों का तो कहना ही क्या है। अंगरेजों और भारतीय नेताओं में भी यही भेद है। हम में धैर्य्य से प्रतीक्षा करने की आदत कम है।

मैंने यथाशक्ति इस उपदेश को गाँठ बाँधा। और काम करना आरम्भ किया। दो वर्ष में सरकारी सहायता से ऋण चुक गया। स्कूल ने शनैः शनैः उन्नति की। बीच-बीच में धक्के भी लगे। देश का राजनीतिक वातावरण बदला। महात्मा गाँधी जी ने जब असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो सरकारी और सरकार से सहायता पाने वाले स्कूलों को तोड़ने का प्रसङ्ग चला। परन्तु जनता की सद्भावना हमारे साथ थी। अतः स्कूल टूटने की नौबत नहीं आई। कभी कभी तो ऐसा भी हुआ कि कुछ

असहयोगी जेल में जाने वालों की सन्तान को जिसे अन्यत्र कुव्यवहार सहना पड़ा था हमारे यहाँ शरण मिली और उन्होंने अपने अध्ययन का अमूल्य काल नष्ट होने से बचा लिया। इसका मुख्य कारण यह था कि लोगों को यह पक्का विश्वास था कि स्कूल मन्दगति भले ही हो देश द्रोही नहीं है। और स्वातंत्र्य का स्वागत करता है।

मैंने १६ जुलाई सन् १९१८ को चार्ज लिया था और २१ जुलाई १९३९ को सार्वदेशिक सभा के कुछ सदस्य महानुभावों की प्रेरणा पर काम छोड़ा। जिससे मेरे कार्य का क्षेत्र विस्तृत हो सके। मिस्टर काजमी उन दिनों इंसपेक्टर थे। उन्होंने कहा, "अभी तो आप काम के योग्य हैं। अभी से क्यों त्याग पत्र देते हैं ?" मैंने उत्तर दिया, "५८ वर्ष का हो चुका हूँ। अभी तो काम कर सकता हूँ। यदि आप के यहाँ से परवाना न भी आया तो कौन जानता है कि ऊपर से आ जाय ! इससे तो पहले ही अपनी इच्छा से चल देना अच्छा है।"

मुझे सन्तोष है कि इन २१ वर्षों में एक घटना भी ऐसी नहीं हुई जिसमें जनता, विद्यार्थियों, प्रबन्धकर्ताओं या शिक्षा विभाग के अध्यक्षों की ओर से मुझे कोई शिकायत हो सके। यूनान के प्रसिद्ध विधान-विधाता सोलन के शब्द हैं कि किसी को सुखी मत कहो जब तक उसका अन्त न देख लो। (Call no man happy till you have seen his end) ईश्वर को धन्यवाद है कि जब २१ जुलाई १९३९ को मैं स्कूल छोड़ने लगा तो मैंने सोलन के इस वाक्य का स्मरण किया और मेरे मुँह से अनायास निकल गया कि मैं सफल रहा।

इस बीच में एक वर्ष के लिये राजाराम हाई स्कूल कोल्हापुर का हैड मास्टर होकर भी जाना पड़ा। कोल्हापुर दक्षिण में एक मरहठा रियासत थी जिसका शासन छत्रपति शिवाजी के वंशजों

के हाथ में था। वहाँ बहुत दिनों से ब्राह्मणों और ब्रह्मणेतरों में झगड़ा चला आता था। वहाँ के उस समय के शासक श्री साहू जी महाराज आर्य समाज के हितैषी और स्वामी दयानन्द के भक्त हो गये थे। अतः उन्होंने राजाराम कालेज और राजा राम हाई स्कूल का प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त के हाथ में दे दिया था। डा० बालकृष्ण जी जो गुरुकुल कांङ्गड़ी के प्रसिद्ध उपाध्याय और इंग्लैण्ड के पी० एच० डी थे वहाँ के कालेज के प्रिंसिपल थे। १९२५ ई० में प्रतिनिधि सभा ने आग्रह किया कि मैं राजाराम हाई स्कूल की हैडमास्टरी करना स्वीकार कर लूँ। फलतः मैं एक वर्ष का अवकाश लेकर ३ जून १९२५ ई० को कोल्हापुर चला गया। परन्तु शीघ्र ही मुझे वह अनुभव हो गया कि देशी रियासतों में वह स्वतंत्रता नहीं जो ब्रिटिश राज्य में थी। एक तो सरकार की देशी राज्यों पर बड़ी कड़ी दृष्टि रहती थी। रेजीडेण्ट वा एजण्ट का बंगला ऐसी जगह होता था जहाँ से वह राजा की प्रत्येक चाल-ढाल का पूरा निरीक्षण कर सके। दूसरे राजे लोगों की नीति भी "क्षणे तुष्टः क्षणे रुष्टः" की थी। महलों के षड्यंत्र नित्य चलते रहते थे। कोई नहीं जानता था कि कल क्या होगा। सन् १९२५ बीत गया। १९२६ ई० के आरम्भ में ही एक दिन प्रातःकाल जो हम लोगों ने आँख खोली तो सुना कि दीवान से लेकर नीचे तक सब बड़े कर्मचारी बदल दिये गये। नया दीवान, नया इंजिनियर, नया डाक्टर। सब नये। जिनकी सेवायें ब्रिटिश सरकार से या अन्य राज्यों से उधार ली गई थीं उनको क्षण भर में वापिस कर दिया गया। यहाँ हिरैक्लीटस के दर्शन के अनुसार काम होता था पारमीनेडीज के लिये कोई स्थान न था। हमारे कालेज और स्कूल का प्रबन्ध भी प्रतिनिधि सभा से बिना पूछे ताछे राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। और हम लोगों से कहा गया कि अब आज से तुम

सभा के आधीन नहीं अपितु राज्य के आधीन हो।" मैं ब्रिटिश सरकार की सेवाओं से त्याग पत्र दे चुका था। इस छोटी सरकार का दासत्व मुझे स्वीकार न था। फिर सौभाग्य की बात थी कि मैं छुट्टी पर था। अतः अवकाश की अवधि समाप्त होते ही मैं जून १९२६ को इलाहाबाद वापिस आ गया। मेरे घर वालों ने ईश्वर को धन्यवाद दिया "जान बची लाखों पाये।"

डी० ए० वी० स्कूल इलाहाबाद का मैं वैतनिक कर्मचारी था। अन्त में मेरा वेतन २९०) हो गया था। परन्तु मैंने अपने काम में २४०) से कभी अधिक व्यय नहीं किये। शेष किसी न किसी रूप में स्कूल के काम में आता था। मुझे सदा स्मरण रहता था कि आरम्भ में मैंने अधिक से अधिक २५०) लेने की शर्त की थी। एक बार मेरे जी में आया कि अब वेतन न लेना चाहिये। मेरे दो बड़े पुत्र अपने पैरों पर खड़े होने लगे थे। अगस्त में एक उत्सव पर मैंने घोषणा भी कर दी कि स्कूल को फील्ड की आवश्यकता है। उसके लिये धन चाहिये। अतः वर्ष के शेष ७ मास तक मैं अवैतनिक रूप से काम करूँगा। इस प्रकार ७ मास में १९६०) स्कूल के फील्ड के कोष में जमा किये गये। घोषणा तो पूरी हो गई। लेकिन मेरी विना वेतन के काम करने की गुप्त इच्छा पूरी न हुई। निर्वाह असंभव देख कर मैंने अगले वर्ष के आरम्भ से पूर्ववत् वेतन लेना आरम्भ कर दिया।

———

अन्य संस्थायें

वैतनिक कर्मचारी होने के कारण मेरा मुख्य काम था दयानन्द हाई स्कूल चलाना। परन्तु इलाहाबाद का नागरिक होने के कारण अन्य संस्थाओं से भी गौण सम्बन्ध हो गया था। गुरुकुल वृन्दावन का वृत्तान्त एक अलग अध्याय का अधिकारी है। अतः इस अध्याय में केवल अन्य संस्थाओं का ही उल्लेख होगा।

पहली संस्था है सेवा समिति। यह श्री मूलचन्द जी मालवीय के परिश्रम से और श्री मदन मोहन मालवीय जी के प्रधानत्व में प्रयाग में मेरे आने से कुछ पूर्व खोली गई थी। इसने विद्यार्थियों और नवयुवकों में स्वयंसेवक बनकर जनता की सेवा करने का अच्छा कार्य किया। मैं इसका सदस्य हूँ और थोड़ा सा सहयोग भी देता हूँ।

दूसरी है प्रयाग की अखिल भारतीय संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन। मुझे १९३१ ई० में इस सभा की ओर से मेरी पुस्तक "आस्तिकवाद" पर १२००) का मंगला प्रसाद पारितोषिक मिला था। झाँसी के अधिवेशन में मैं दर्शन विभाग का सभापति भी चुना गया था। कुछ दिनों सम्मेलन का उपसभापति भी रहा। अन्य स्थानों पर जहाँ-कहीं गया मैंने इस संस्था के हित में कार्य्य किया। और अब भी कुछ सम्बन्ध रखता हूँ।

महिला विद्यापीठ का मैं सदस्य रह चुका हूँ। यद्यपि बहुत दिनों से मेरा इसके साथ सम्बन्ध मेरे समयाभाव के कारण शिथिल सा हो गया है।

हिन्दू अनाथालय मुट्ठीगंज प्रयाग का मैं बहुत दिनों से सदस्य हूँ। कुछ दिन प्रधान भी रहा और कई वर्षों तक उपप्रधान भी, जब से प्रयाग से बाहर रहने लगा इससे सम्बन्ध शिथिल पड़ गया है। सदस्य अब भी हूँ।

इसके अतिरिक्त आर्य्य समाज की एक और संस्था है जिससे मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वह है आर्य कन्या पाठशाला प्रयाग। सन् १९१८ में आते ही मैं आर्य्य समाज का प्रधान निर्वाचित हो गया था। अतः विधान के अनुसार मैं कन्या पाठशाला का भी सदस्य था। यह पाठशाला १९०५ ई० में प्रोफेसर कृष्णचन्द्र; बा० लक्ष्मी नारायण, श्री रामदीन जी और बाबू जसवन्तराय आदि के उद्योग से खोली गई थी। उस समय कन्याओं की शिक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न था। आर्य्य कन्या पाठशाला ने इस प्रकार नगर की एक बड़ी कमी को पूरा किया। यह कुछ दिनों में ही हिन्दी मिडिल तक उन्नति कर गई। इसके कारण आज इलाहाबाद में सैकड़ों नानी और दादी होंगी जिन्होंने इसी कन्या पाठशाला में शिक्षा प्राप्त की है। जो अनेक कारणों से अपनी पुत्रियों को किसी पाठशाला में भेजना पसन्द नहीं करते थे वे भी इस पाठशाला पर विश्वास रखते थे। मेरे आने से पूर्व यह पाठशाला पर्य्याप्त उन्नति कर चुकी थी। परन्तु इसके साथ साथ परिस्थिति और भी आगे निकल चुकी थी, एक बार मैं मैनेजर बनाया गया। मुझे आन्तरिक अवस्था देख कर यह अनुभव हुआ कि पाठशाला समय के साथ-साथ नहीं चल रही। लड़कियाँ मिडिल पास करके अन्य कालिजों में चली जाती थीं। मैंने अंगरेजी कक्षा खोलने का प्रस्ताव किया। परन्तु समाज ने इसे स्वीकार नहीं किया। समाज का नियम था कि इसमें केवल हिन्दी पढ़ाई जायगी। यह तात्पर्य नहीं कि मैं हिन्दी का पक्षपाती नहीं था। १९२३ ई०

में जब मैं इण्टरमीडियेट बोर्ड का सदस्य हो गया तो मैंने ही बोर्ड में यह प्रस्ताव किया कि शिक्षा और परीक्षा का माध्यम हिन्दी (और उर्दू) कर दिया जाय। क्योंकि अंगरेजी माध्यम अस्वाभाविक सा था। तीन वर्ष की घोर ऊहापोह के पश्चात् बोर्ड ने कुछ विषयों में ऐच्छिक रूप से हिन्दी को माध्यम बनाना स्वीकार किया। कन्या पाठशाला के विषय में मेरी धारणा यह थी कि कन्या पाठशाला में हिन्दी की पढ़ाई भी उतनी नहीं हो सकती थी, जितनी हाई स्कूलों में होती थी। अतः हिन्दी के पक्ष का अर्थ था केवल अंगरेजी का विरोध। इससे कन्या पाठशाला का स्तर गिरता जाता था। लड़कियाँ आगे की शिक्षा के लिये अन्यत्र चली जाती थीं। पहले तो मैं आर्य समाज प्रयाग को अपना दृष्टिकोण समझाने में सफल नहीं हुआ। मैं मैनेजरी से भी अलग हो गया। परन्तु जिन दिनों मैं कोल्हापुर में था आर्य समाज के अन्य कार्यकर्ताओं को अपनी नीति बदलनी पड़ी। पहले स्कूल अंगरेजी मिडिल तक कर दिया गया। और मेरी मैनेजरी में यह हाई स्कूल के लिये स्वीकृत हो गया। इसमें मेरी पत्नी श्रीमती कलादेवी जी ने बड़ा परिश्रम किया। वे बहुत दिनों तक पाठशाला की मंत्रिणी रहीं। सन्तोष की बात है कि आज यह पाठशाला इलाहाबाद के सबसे बड़े इण्टर कालेजों में गिनी जाती है और लगभग एक सहस्र छात्रायें इससे लाभ उठाती हैं। सन् १९३९ से पूर्व ही मैं इसका प्रबन्धक का पद छोड़ चुका था।

आर्य समाज, चौक प्रयाग का मैं १९१८ में सदस्य बना था और अब तक यथापूर्व उसी समाज का सदस्य हूँ।

———

गुरुकुल वृन्दावन

गुरुकुल वृन्दावन का विषय प्रथक लिखने की आवश्यकता है। सबसे पहला गुरुकुल श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने सिकन्दराबाद (जि० बुलन्दशहर) में खोला था, शायद १८९९ ई० में। यह एक छोटी सी संस्था थी, इसमें ब्रह्मचारियों को उसी प्रथा के अनुसार रक्खा जाता था जैसी संस्कृत पुस्तकों में दी हुई है। अर्थात् ब्रह्मचारी भिक्षा माँग के लावें और पढ़ें।

इसके पश्चात् श्री लाला मुँशीराम जी के उद्योग से गुरुकुल काँगड़ी खुला जो थोड़े ही दिनों में भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो गया। उन दिनों आर्य्य समाज में गुरुकुल प्रणाली के लिये बहुत जोश और बहुत उमंगें थीं। जनता समझती थी कि शीघ्र ही संसार वेद के झण्डे के नीचे आ जायगा।

आयेंगे खत अरब से जिनमें लिखा यह होगा।
गुरुकुल का ब्रह्मचारी हलचल मचा रहा है॥

मैं १९०२ ई० में गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम उद्घाटन के उत्सव पर सम्मिलित हुआ था। शनैः २ गुरुकुल ने उन्नति भी की और ख्याति भी उपलब्ध की। उसके थोड़े दिनों पीछे संयुक्त-प्रान्त की आर्य्य प्रतिनिधि सभा ने महात्मा नारायण प्रसाद जी के उद्योग से वृन्दावन गुरुकुल खोला। पहले पं० भगवानदीन जी अधिष्ठाता बने और उनके देहान्त के उपरान्त महात्मा नारायण प्रसाद जी (यही पीछे से 'नारायण स्वामी' कहलाये)।

वृन्दावन गुरुकुल आगे बढ़ता रहा। परन्तु मेरी स्थिति ऐसी न थी कि मैं अपने नगर से बाहर कहीं जा सकता। अतः-

लगभग तेरह चौदह वर्ष मैं पठन-पाठन में लगा रहा और किसी बड़े उत्सव में सम्मिलित नहीं हुआ। मेरे पास न तो पैसा था न समय। विवरण सुनकर ही अपने मन को सन्तोष दे लेता था।

एक बार बाराबंकी में गुरुकुल का डिप्यूटेशन आया। श्री नारायण प्रसाद जी ने मुझे प्रेरणा की कि मैं गुरुकुल वृन्दावन को देखूँ। मैं १९१६ ई० की गर्मियों की छुट्टी में परिवार सहित गुरुकुल चला गया और लगभग छः सप्ताह रहा। महात्मा जी की कुछ ऐसी इच्छा थी कि मुझे गुरुकुल की ओर खींचा जाय। मैं केवल देखने मात्र के लिये गया था। ६ सप्ताह के गुरुकुल वास ने मेरे ऊपर दो प्रभाव डाले। प्रथम तो यह कि वेतन लेकर काम करना ठीक नहीं। विना वेतन काम करना मेरे लिये असम्भव था। दूसरी मेरी कुछ-कुछ ऐसी भी धारणा हुई कि गुरुकुल का पाठ्यक्रम बच्चों की योग्यता और शक्ति को देखकर नहीं बनाया गया, अपितु आदर्शवाद की भावना से अपनी इच्छाओं के अनुसार बनाया गया है। इसका मोटा अर्थ यह है कि जो पाठ्यक्रम था उसका पूरा कराना असम्भव सा था। परन्तु इस दूसरे प्रश्न से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। मैं अवकाश की समाप्ति पर बाराबंकी चला आया, उस दिन से अब तक गुरुकुल से कुछ न कुछ परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष सम्बन्ध बना हुआ है। इस बीच में बीसियों छोटे बड़े गुरुकुल खुल चुके हैं उनमें से कुछ जीवित हैं। कुछ समाप्त हो गये और कुछ ने रूपान्तर ग्रहण कर लिया। गुरुकुलों के आरंभ किये हुये आन्दोलन में से कुछ को तो भारतीय जनता ने अङ्गीकार कर लिया है। जब गुरुकुल खुले थे उस समय भारतवर्ष के उच्च वर्ग का मुंह पश्चिम की ओर था। गुरुकुल पूर्व का पक्षपाती था, लोगों को यह बात विचित्र और सड़ी गली प्रतीत होती थी। अब भारतीय

नेताओं का ध्यान पर्याप्त परिमाण में पूर्व की ओर आ चुका है। उस समय अंगरेजी भाषा आवश्यक समझी जाती थी। और यह समझ में नहीं आता था कि क्या हिन्दी में भी उच्च शिक्षा देना है! संभव अब तो हिन्दी राष्ट्र भाषा ही चुकी है विश्वविद्यालयों ने सिद्धान्त रूप से हिन्दी को शिक्षा, दीक्षा तथा परीक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया। अंगरेजी का मुख दिन प्रतिदिन मलीन होता जा रहा है। अध्यात्म की महत्ता भी धीरे धीरे स्वीकार की जाने लगी है। परन्तु गुरुकुल प्रणाली की सफलता और गुरुकुल संस्थाओं की सफलता में भेद हैं। 'यदि नगर भर के हलवाई मेरी जैसी मिठाई वनानें लगें तो इससे मेरी मिठाई की दूकान की समस्यायें घट नहीं अपितु बढ़ जाती है' मैं गुरुकुल वृन्दावन की कोई साक्षात् सेवा नहीं कर रहा परन्तु और आवश्यक समस्याओं की भाँति मैं सभी आर्य्य विद्यालयों की रीति, नीति तथा विभूति की समस्याओं पर विचार करता रहता हूँ।

सन् १९१७ में मैं गुरुकुल वृन्दावन का निरीक्षक भी रहा। सन् १९३६ ई० में गुरुकुल का कुलपति भी। कुछ दिनों गुरुकुल कमेटी का उप प्रधान भी। अतः मेरा गुरुकुल से घनिष्ट सम्पर्क रहा है। गुरुकुलों के आकार प्रकार, वाह्य तथा अन्तरिक रूपों में इस आधी शताब्दी में बहुत से उतार चढ़ाव और परिवर्तन होते रहे हैं। गुरुकुल के उद्देशों की सफलता में भी लोगों के मत भिन्न-भिन्न हैं। यह उपयुक्त स्थान नहीं है कि प्रत्येक बात पर विस्तार से विचार किया जाय। परन्तु कुछ बातें हैं जिनकी ओर संकेत करना अनुचित नहीं दीखता। पहली बात तो यह है कि गुरुकुल के उद्देश कुछ आतिशय्य के साथ बिखर से गये हैं। समेटने में नहीं आते। किसी कार्य की सफलता के लिये उद्देशों का सीमित और परिमित होना आवश्यक है जिससे

शक्ति और अभिमति को केन्द्रित किया जा सके। सम्पूर्ण जगत् की विश्वतोमुखी उन्नति करना जिस संस्था का उद्देश्य हो वह कभी आंशिक उन्नति भी नहीं कर सकती। मनुष्य मनुष्य है ईश्वर नहीं। आदर्श सिद्धान्त रूप से फैलाये जा सकते हैं व्यवहार में नहीं लाये जा सकते। जो समस्त जगत् को खिलाने का यत्न करता है वह अपने बच्चों का भी पेट नहीं पाल सकता। जो विद्यालय सबको सब विषय पढ़ाना चाहता है वह किसी को कुछ नहीं पढ़ा सकता। अतः हमको नये सिरे से सोचना है कि हम अपने उद्देशों को कहाँ तक संकुचित कर सकते हैं जिससे वह हमारी पकड़ में आ सकें।

दूसरी बात यह भी सोचनी है कि क्या कोई विद्यालय डिमाक्रेटिक अर्थात् सार्वजनिक शासन के आधीन सफलता से चलाया जा सकता है। जिस सार्वजनिक संस्था का प्रतिवर्ष चुनाव होता हो और जिसके स्वामी प्रतिवर्ष बदलते रहें उसके विद्यालयों के पाठ्यक्रम, पाठ विधि, नीति और रीति Weather-Cock (ऋतु कुक्कुट) के समान नित्य बदला करेगी। गुरुकुलों के संचालकों को यह कटु अनुभव होगा। मुझे तो है। कटु नहीं कटुतम! जिन प्राचीन गुरुकुलों का हम अनुकरण करते हैं उनमें शायद गुरुओं को नियत करना और उनपर शासन करना विद्यार्थियों या विद्यार्थियों के अभिभावकों और उनके मित्रों के हाथ में न होगा। और यदि ऐसा था तो शायद समस्त समाज का ढांचा वह न होगा जो आजकल हैं। इन दो तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों पर हमारी सभायें और हमारे नेतृवर्ग सावधानी से विचार करते रहते हैं। कोई ऐसी मानवी संस्था नहीं जिसमें भूलों के लिये संभावना न हो परन्तु गम्भीर, निष्पक्ष, निस्स्वार्थ और निरन्तर विचार से सब कुछ संभव है।

दो महापर्व

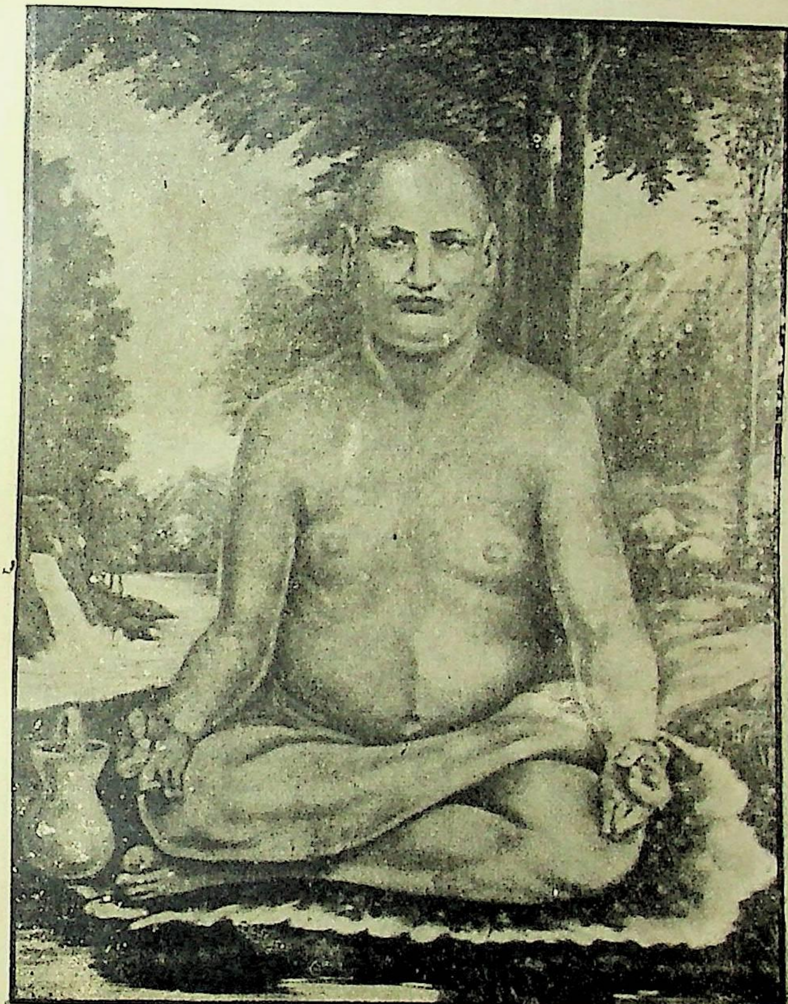
आर्य समाज के सब से प्रसिद्ध और संसार के लिये अज्ञात ईषदज्ञात तथापि अत्यन्त महत्वपूर्ण बीसवीं शताब्दी के मुख्य पर्वों के विषय में लिखना प्रसङ्ग के विचार से अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। यह हैं दयानन्द-जन्म-शताब्दी मथुरा और दयानन्द-निर्वाण-अर्द्ध शताब्दी अजमेर।

आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का जन्म १८८१ वि० या १८२४ ई० में होना बताया जाता है। ठीक तिथि का अभी तक पता नहीं लग सका। १९२४ ई० में सौ वर्ष पूरे होने को थे। अतः कुछ दिन पूर्व से ही आर्य समाज के नेताओं के समक्ष यह प्रश्न था कि ऋषि की जन्म-शताब्दी मनानी चाहिये। १९२३ ई० में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पाटौदी हाउस दिल्ली में समस्त आर्य समाजों के प्रतिनिधियों की एक समिति बुलाई जिसमें प्रायः सभी नेतागण उपस्थित हुये और अन्त में यह निश्चित हुआ कि फरवरी १९२५ ई० में शिवरात्रि के अवसर पर मथुरा में जन्म शताब्दी का पर्व समारोहपूर्वक मनाया जाय। ऋषि का जन्म स्थान था गुजरात में टंकारा। परन्तु वहाँ आर्य समाज का प्राबल्य न था अतः टंकारा में इतने बड़े समारोह का प्रबन्ध कठिन था। मथुरा को इसलिये चुना गया कि वहाँ ऋषि ने गुरु विरजानन्द जी से दीक्षा ली थी। टंकारा केवल भौतिक दयानन्द का जन्म-स्थान था। सुधारक दयानन्द का जन्म तो मथुरा में ही हुआ था। शिवरात्रि को जन्म दिन का स्थानापन्न समझ लिया गया क्योंकि शिवरात्रि के दिन ही शिवमन्दिर में बालक मूल-

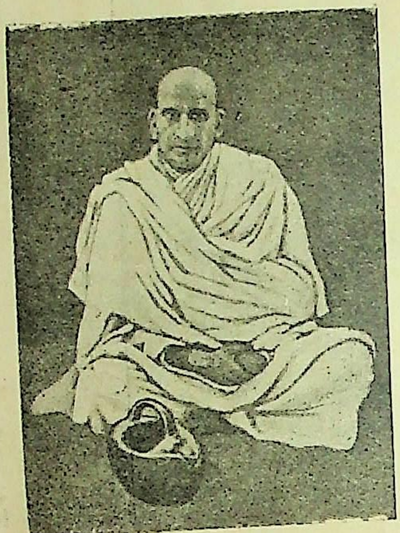
शंकर को शिव की मूर्ति पर चूहे को चढ़ते देखकर यह बोध हुआ था कि पत्थर की मूर्ति असली शिव नहीं है। आर्य समाज में शिवरात्रि बहुत दिनों से ऋषि-बोध दिवस के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतवर्ष के लिये जन्म-शताब्दी कोई नई वस्तु नहीं थीं। महात्मा बुद्ध की स्मृति में बौद्ध धर्म के लोगों ने ढाई सहस्र वर्षों से शताब्दियाँ मनाने की प्रथा डाल रक्खी है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही राजगृह के समीप सत्तापन्नी गुफा में बौद्ध-धर्म के नेताओं की एक विराट सभा की गई जिसमें बुद्ध भगवान के उपदेशों को सुसंग्रहीत करने का कार्य सम्पादन किया गया।

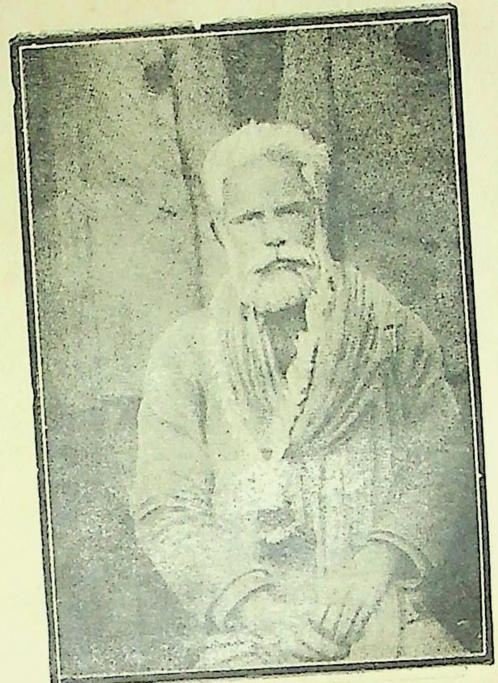
ऋषि दयानन्द के उपदेशों के विषय में यह आवश्यकता न थी। इस युग में और बुद्ध भगवान के युग में भिन्नता है। बुद्ध भगवान मौखिक उपदेश दिया करते थे। स्वामी दयानन्द का युग प्रेस-युग है। उनकी पुस्तकें छपकर निश्चित हो चुकी थीं। उन्होंने अपने जीवन काल में ही परोपकारिणी सभा स्थापित कर दी थी जिसका मुख्य कर्तव्य है ऋषि के ग्रन्थों का प्रकाशन। १८८३ ई० से १९२५ ई० तक ४२ वर्ष में ऋषि के वेद भाष्य, सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा अन्य कई ग्रन्थों के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों के समक्ष ऐसी सुविधायें न थीं। वहाँ तो यह भी निश्चित करना था कि बुद्ध के मौलिक सिद्धान्त क्या हैं। और उनमें कितनी किम्वदन्तियाँ मिश्रित हैं। राजगृह में जो बौद्धों की सभा हुई उसके प्रधान थे महाकस्सप। और बुद्ध के मंतव्यों के साक्षी थे उनके दो अनन्य भक्त शिष्य उपाली और आनन्द। महात्मा बुद्ध के धर्म ग्रंथों के दो भाग किये गये विनय पिटक और धर्मसुत्त।



स्वामी दयानन्द सरस्वती



श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी



श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश के अंत में स्वमन्तव्यामंतव्य प्रकाश लिखकर अपने मंतव्यों का बहुत कुछ स्पष्टीकरण कर दिया है। फिर भी शताब्दी का पर्व आर्य समाज की पिछली प्रगति की आलोचना और भविष्य के पुरोगम को सुसंगठित करने के लिये आवश्यक था।

शताब्दी के प्रधान थे स्वामी श्रद्धानन्द जी और कार्यकर्ताप्रधान श्री महात्मा नारायण स्वामी जी। कार्य का लगभग पूरा भार श्री नारायणस्वामी जी के ही कंधों पर आ पड़ा। वह बहुत दिनों मथुरा में ही रहे और कई भक्तों के साथ जिनमें श्री जीवनमुनि आदि कुछ उत्साही सज्जन थे रात दिन एक करके उत्सव का प्रबंध करने लगे। आर्य समाज के जगत् में अपूर्व उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ा। श्री नारायण स्वामी जी का अनुमान था पचास हजार मनुष्यों का। एक लाख के रहने का प्रबंध किया गया था। परंतु उत्सव के पहले दिन ही तीन लाख मनुष्य आ गये। छोलदारियों और तम्बुओं का एक महावन खड़ा हो गया। स्पेशल ट्रेनें भारतवर्ष की आठों दिशाओं से धड़ा धड़ आने लगीं। तिल भर भी भूमि शेष न रहीं। प्रबंधकर्ताओं को बड़ी कठिनाई पड़ी। परन्तु जनता ने शांति और सहयोग का अद्भुत परिचय दिया और कोई दुर्घटना नहीं हुई। मैं अपने परिवार सहित एक दिन पूर्व से ही यात्री के रूप में सम्मिलित हुआ था। और हम सबने इतने बड़े समारोह में भाग लेकर अपने को सौभाग्यवान समझा। प्रत्येक आर्य्य नरनारी की यह धारणा थी कि शताब्दी पर्व जीवन में एक बार से अधिक नहीं आते अतः अवश्य चलना चाहिये। कालिज पार्टी और महात्मा या गुरुकुल पार्टी के दोनों दल बिना द्वेष भाव के सम्मिलित हुये। आर्य्यों की शान्ति-प्रियता और अनुशासन-बद्धता का एक अद्भुत दृश्य जिसने मेरे हृदय-पटल पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला प्रार्थना का समय

था। एक नियत समय पर सब यात्री प्रार्थना के लिये इकट्ठे हुये। नेतृत्व के लिये श्री स्वामी सर्वदानन्द जी चुने गये। उन दिनों लाऊड स्पीकरों की प्रथा नहीं थी। कई सहस्र जनता थी। जनता की निस्तब्धता देखने योग्य थी। स्वामी जी प्रार्थना करते थे। जनता शब्दतः दुहराती थी। कोलाहल रत्ती भर भी न था। मैंने उस दिन किसी से कहा कि जिस आर्य्य समाज में इतना अनुशासन का राज हो वह समस्त बाधाओं को पार करके विजय-शाली हो सकते हैं। कृष्ण की नगरी मथुरा सहस्रों वर्ष से अपनी पवित्रता के लिये प्रसिद्ध है। दयानन्द-जन्म-शताब्दी का महापर्व मथुरा की प्राचीन पवित्रता को नवीनता में परिणत करता है। मथुरा कुछ काल से रूढ़िवाद का गढ़ बन चुका है। मथुरा वाले पंडे पुजारी आर्य्य समाज के आरम्भ से विरोधी रहे हैं। परन्तु शताब्दी पर्व ने उनके ऊपर भी अच्छा प्रभाव डाला। और अब विचार-धारा बदल चुकी है।

शताब्दी की समाप्ति के कुछ दिनों पश्चात् ही आर्य्यजगत् ने पुनः निश्चित किया कि १९३३ ई० में दयानन्द निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी मनानी चाहिये। दयानन्द के मृत्यु-दिवस और मृत्यु-स्थान के विषय में कोई बात सन्दिग्ध न थी। अतः निश्चित हुआ कि १९३३ ई० अर्थात् १९९० विक्रमी की दीप मालिका के दिन अजमेर में यह पर्व मनाया जाय। कुछ लोगों को सन्देह था कि केवल आठ वर्ष पीछे ही कोई बड़ा पर्व मनाया नहीं जा सकता। परन्तु आर्य्य जनता ने फिर अपने उत्साह का परिचय दिया। अजमेर के आर्य्य भाइयों ने विशेष प्रबन्ध करके पर्व को सफल बनाने में अपनी उद्योग-शीलता प्रदर्शित की। मुझे हर्ष है कि मैं और मेरा परिवार इस पर्व में भी हर्ष के साथ सम्मिलित हो सका। उस समय मैंने एक व्याख्यान दिया था जिसका शीर्षक था

"विश्व की वर्तमान प्रगतियों में आर्य्य समाज का स्थान"। मुझे स्मरण है कि मेरे व्याख्यान की टेक यह थी कि आर्य समाज का भविष्य अति उज्वल और आशापूर्ण है।

मथुरा शताब्दी में ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त शाहपुरा-नरेश श्री राजाधिराज नाहर सिंह जी सम्मिलित हुये थे। अजमेर की निर्वाण अर्द्ध शताब्दी में उनके पुत्र महाराज उम्मेद सिंह जी, जो उस समय शाहपुरा की गद्दी पर थे और जिन्होंने बाल्यकाल में ऋषि से शिक्षा प्राप्त की थी, अपनी श्रद्धा अर्पण करने के लिये पधारे थे।

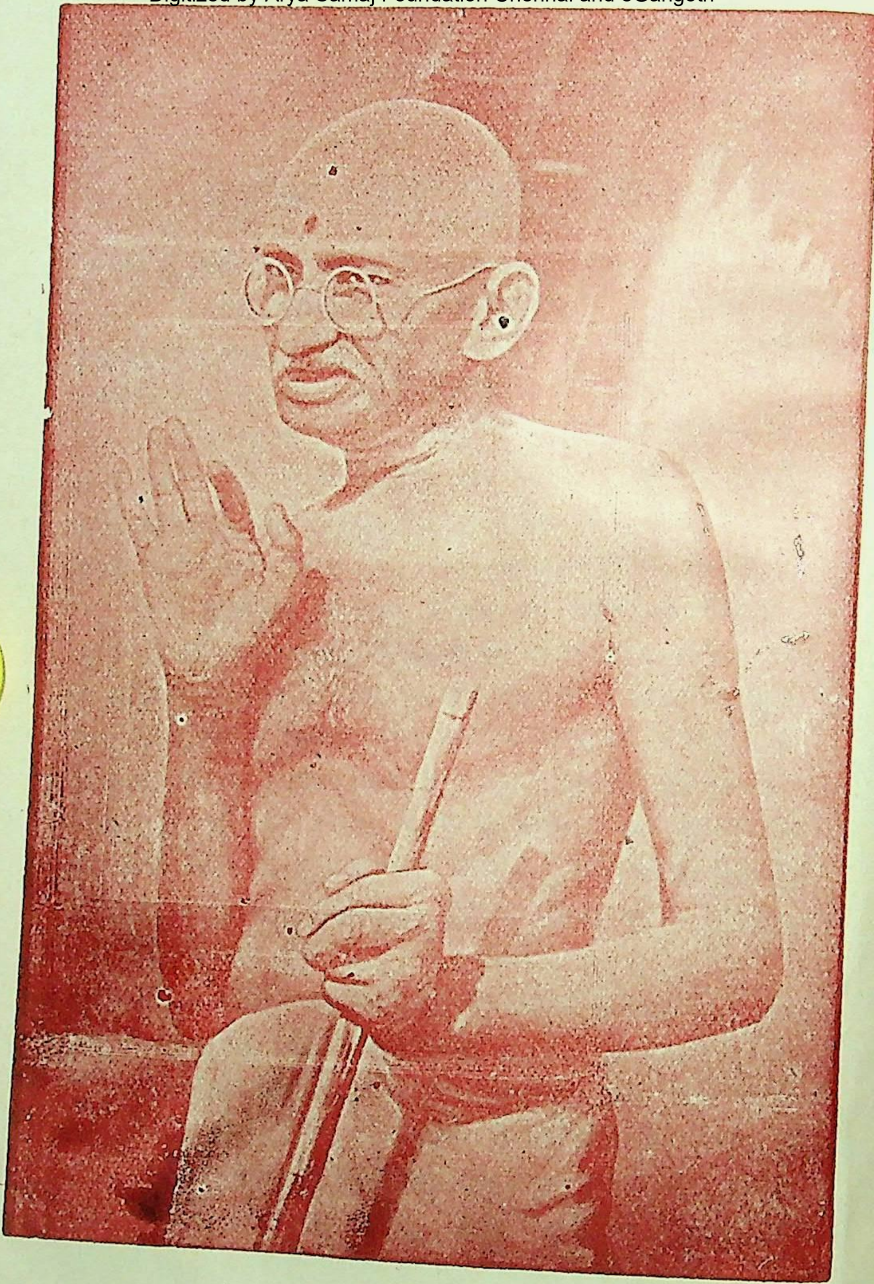
मङ्गला प्रसाद पारितोषिक

२३ मई १९३१ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से एक विशाल समारोह किया गया जिसका मेरे जीवन से विशेष सम्बन्ध है। अतः उसका संक्षिप्त वर्णन देता हूँ।

जब मैं कोल्हापुर में था अर्थात् १९२५ ई० के अन्तिम दो मास में मैंने एक पुस्तक लिखी *आस्तिकवाद*। इसमें ईश्वर अस्तित्व-सिद्धि और अनीश्वरवादियों की युक्तियों का निराकरण किया गया। १९२७ ई० में यह पुस्तक प्रकाशित हो गई।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से साहित्य सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट पुस्तक के लेखक को प्रतिवर्ष १२००) रु० का पुरस्कार दिया जाता है। यह पुरस्कार कलकत्ते के सेठ श्री गोकुल चन्द जी ने अपने दिवंगत भ्राता मंगला प्रसाद जी की स्मृति में ४००००) रु० देकर जारी किया है। १९३१ ई० में जो पुरस्कार दिया जाने को था उसका विषय था दर्शन। मेरी पुस्तक भी विचारार्थ भेजी गई थी। पुरस्कार समिति ने उस वर्ष की पुस्तकों में आस्तिकवाद को सर्वोत्कृष्ट घोषित किया और पुरस्कार मुझे देना निश्चित हुआ।

उस वर्ष साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन कलकत्ते में होना निश्चित हुआ था। मुझे नियमानुसार निमंत्रित किया गया। श्री रत्नाकरजी सभापति थे और श्री पुरुषोत्तम दास जी टंडन उपस्थित थे। मेरे सौभाग्य से कलकत्ते में उपस्थित होने के कारण श्री मंगला प्रसाद जी के भ्राता श्री गोकुलचन्द जी ने बड़े आदर सत्कार के साथ आरती करके १२००) मुझे भेंट किये। जो पुरस्कारपट्ट दिया गया उसकी प्रतिकृति अन्यत्र अंकित है।



महात्मा गाँधी

महात्मा गांधी जी का हरिजनसम्बन्धी अनशन

सितम्बर १९३२ ई० भारतवर्ष तथा भारतीय ब्रिटिश सरकार के लिये एक क्रांतिकारिणी चिंता का मास था। महीना भर देश और देश के प्रेमियों में व्याकुलता रही। न भारतीथ चैन से सोये न ब्रिटिश सरकार के उच्च कर्मचारी।

इसका कारण क्या था? एक शब्द में 'हिन्दू जाति' का हित। महात्मा गाँधी मुस्लिम-नवाजी के लिये बदनाम हैं। मैंने अपने ज्येष्ट पुत्र डाक्टर सत्य प्रकाश डी० एस० सी० के पुस्तकालय की गाँधी-साहित्य सम्बन्धी अल्मारी खोली तो उसमें एक पुस्तक मिली गाँधी-मुस्लिम-कांस्पिरेसी (Gandhi Moslem conspiracy) अर्थात् गाँधी और मुसलमानों का संयुक्त षड्यंत्र। इसमें आदि से अंत तक गाँधी जी के लिये चुने हुये अप-शब्दों का प्रयोग किया गया है। मैंने थोड़ा सा पढ़ा और यह देखने की उत्सुकता हुई कि उसके प्रकाशन का वर्ष जानने का यत्न करूँ। ऊपरी पृष्ठ देखा तो पता चला कि १९४१ ई० में लिखी गई है। लेखक हैं एक अनामिक हिन्दू नैशनलिस्ट (A Hindu Nationalist) अर्थात् कोई हिन्दू राष्ट्रवादी। १९४१ का अङ्क देख कर मुझे अधिक जानने और आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं हुई।

ख़त का मज़मूँ भाँप लेते हैं लिफ़ाफ़ा देख कर।

पुस्तक के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। कहना यहहै कि

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गाँधी मित्रों अमित्रों दोनों के लिये एक दुर्बोध पहेली रहे हैं। उनके उद्देश्य हैं जगद्-विख्यात और स्पष्ट। परन्तु साधन इतने जटिल, अद्भुत, अनिर्वचनीय कि साध्य तक पहुँचने के पूर्व स्वयं उनके अतिरिक्त अन्य किसी को उनकी सफलता पर विश्वास नहीं हो सकता। विदेशियों के पंजों से छूटने के लिये लोग तोप तथा भयानक अस्त्रशस्त्र बनाते हैं, परन्तु गाँधी जी उसी साध्य को सूत कात कर लेना चाहते थे।

इस सादगी पै आप के कुर्बान जाइये।
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं॥

गृहे परित्यज्य नरध्नमायुधं व्रजन्ति ये रिक्तकरा रणस्थलीम्।
जयाशया रिक्तशिरस्कमानवा, व्रजन्तुलोकेषु कथं न हास्यताम्॥

परन्तु गाँधी जी विचित्र पुरुष थे। जिस सरकार से लड़ना था वह न रिक्तपाणि थी न रिक्तशिरस्क। अंगरेजों की शक्ति अपार थी। उनकी बुद्धि भी कुछ कम न थी। जब गाँधी जी ने असहयोग आरम्भ किया और निहत्थी प्रजा ने अंगरेजों के दाँत खट्टे कर दिये तो उन्होंने स्वराज देना स्वीकार कर लिया। परन्तु दें तो किसको। भारतीय एक न थे। भारत में एकता न थी। हिन्दू मुसल्मानों में लड़ाई छिड़ी तब तो अंगरेज़ आये। अतः दो बड़े दल हो गये, हिन्दू और मुसल्मान। स्वराज किसको दिया जाता। मुसल्मान हिन्दुओं पर संदेह करते थे और हिन्दू मुसल्मानों पर! अंगरेजी राज्य कितना ही बुरा क्यों न हो, हिन्दुओं की दृष्टि में मुसल्मानों के राज्य से अच्छा था और मुसल्मानों की दृष्टि में हिन्दू राज्य से। हिन्दू थे बहुसंख्यक। मुसल्मान अल्पसंख्यक! अतः संगठित हिन्दुओं का पल्ला भारी हो सकता था। और वे मुसल्मानों के लिये अहितकर हो सकते

थे। इस बात को अतिशयोक्ति के साथ अंगरेजों ने कहना आरम्भ किया। इसीलिये काँग्रेस के नेताओं ने येन केन प्रकारेण मुसल्मानों को मिलाये रखने की नीति-निर्धारित की थी। जब लन्दन में गोल मेज कान्फरेंस हुई, जिसके अध्यक्ष इंग्लैण्ड के मुख्य महामंत्री मैकडोनेल्ड थे तो उस समय अंगरेजों की वक्र-नीति ने भारतीयों को अनेक दलों में बाँट दिया। अंगरेज शासकों का कहना यह था कि हम तो स्वराज को मेज़ पर सामने रक्खे देते हैं। तुम भारतीय आपस में निपट लो। हर दल ने अपने-अपने अधिकार माँगने आरम्भ किये। देशी रियासतों के देशी राजे जो कई सौ वर्ष की दासता के कारण अपना अपना वैभव खो चुके थे अलग सत्ता रखना चाहते थे। सिख अलग। हिन्दुओं में अछूत और दलित जातियों को भड़का दिया गया। उन्होंने श्री अम्बेदकर की अध्यक्षता में अपने को हिन्दुओं से अलग करने की माँग की। और ब्रिटिश सरकार उनके पृथक-निर्वाचन के लिये तैय्यार हो गई। गाँधी जी को यह बात असह्य हुई। उन्होंने लन्दन गोल मेज समिति में १३ नौम्बर १९३१ को जो वक्तृता दी थी उसके स्पष्ट शब्द यह थे :—

"I can understand the claims advanced by other minorities, but the claim advanced on behalf of the 'untouchables' is to me the unkindest cut of all. It means a perpetual bar sinister.

"I would not sell the vital interests of the 'untouchable' even for the sake of winning the freedom of India. I claim myself in my own person, to represent the vast masses of the 'untouchables'. Here I speak not merely on behalf of the Congress, but I speak on my own behalf, and I claim that I would get, if there was a refrendum of

the 'untouchables', their vote and I would top the poll. And I would work from one end of India to the other to tell the 'untouchables' *that separate electorates and separate reservation is not the way to remove the bar Sinister.*

"Let the committee and let the whole world know that today there is a body of Hindu reformers who feel that this is a shame, not of the 'untouchables' but of Orthodox Hinduism, and they are, therefore, pledged to remove the blot of untouchability. *We do not want on our rolls and on our census 'untouchables' classified as a separate class.* Sikhs may remain as such in perpetuity, so may Muslims, so may Europeans. Would 'untouchables' remain untouchables in perpetuity? *I would far rather that Hinduism died than that untouchability lived.*

"Therefore, with all my regard for Dr. Ambedkar and for his desire to see the 'untouchables' uplifted, with all my regard for his ability, I must say that here is a great error under which he has laboured, and perhaps the bitter experiences he has undergone have for the moment warped his judgment. It hurts me to have to say this, but I would be untrue to the cause of the 'untouchables' which is as dear to me as life itself, if I did not say it. I will not bargain away their rights for the kingdom of the whole world. I am speaking with a due sense of responsibility when I say it is not a proper claim which is registered by Dr. Ambedkar, when he seeks to speak for the whole of the 'untouchables' in India *It will create a division in Hinduism which I can not possibly look forward to with any satisfaction whatsoever.*

"I do not mind the 'untouchables' being converted to Islam or Christianity. I would tolerate that, but *I can*

not possibly tolerate what is in store for Hinduism if there are these two divisions set up in every village. Those who speak of political rights of untouchables do not know India and do not know how Indian Society is today constructed. Therefore I want to say with all the emphasis that I can command that if I was the only person to resist this thing, *I will resist it with my life.*)

(Quoted from The History of the Congress by Dr. Pattabhi Sitaramayya p. 97-98 Italics mine)

अर्थात् दूसरी अल्पसंख्यक जातियाँ यदि माँग रक्खें तो मेरी समझ में आ सकता है परन्तु जो मांगे अछूतों की ओर से प्रस्तुत की गई हैं वे मेरे लिये सब से अधिक क्रूर भावनाओं से ओत प्रोत हैं। इसके अर्थ होते हैं कि सदा के लिये भेदक भित्ति खड़ी कर दी जाय।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लालच से भी मैं अछूतों के हितों को बलिदान न होने दूँगा। मैं समझता हूँ कि मुझे अछूतों के बड़े समाज की ओर से बोलने का पूरा अधिकार प्राप्त है। यहाँ मैं केवल काँग्रेस की ओर से नहीं बोल रहा हूँ परन्तु मैं अपनी ओर से बोल रहा हूँ और मेरा यह दावा है कि यदि अछूतों की वोट माँगी जाय तो मुझको सब से अधिक वोट मिलेगी। मैं भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक अछूतों से कहता फिरूँगा कि पृथक् निर्वाचन।क्षेत्र तथा विशेषाधिकार इस भेद को कभी दूर नहीं कर सकते।

इस समिति तथा सारे विश्व को यह जानना चाहिये कि आज भी हिन्दू सुधारकों का एक दल है जो यह अनुभव करता है कि अछूतपन केवल अछूतों के लिये ही नहीं प्रत्युत सारे कट्टर पंथी हिन्दुओं के लिये भी लज्जा की बात है और इसी लिये वे अछूतपन के कलंक को धोने का प्रण कर चुके हैं। हम नहीं चाहते

कि मर्दुमशुमारी के रजिस्टरों तथा गणना में अछूतों को पृथक दर्शाया जाय। सिक्खों को अनिश्चितकाल तक इस प्रकार दिखाया जाय, मुसलमानों को भी, यूरोप वालों को भी। यदि अछूतों को अछूत दिखाया गया, तो वे अनन्त काल तक अछूत ही रहेंगे। मैं इस बात के लिये तैयार हो जाऊँगा कि हिन्दू धर्म का अंत हो जाय पर अछूतपन जीवित रहे यह न चाहूँगा।

इसलिये डा० अम्बेदकर के प्रति आदर रखते हुये और अछूतों को उन्नत बनाने की उनकी सद् इच्छा का सम्मान करते हुये, उनकी कार्य क्षमता पर श्रद्धा रखते हुये भी मुझे कहना पड़ता है कि इस सम्बन्ध में उन्होंने गलती खाई है और संभवतः उनके कटु अनुभवों के कारण ही उनके निश्चय दूषित हो गये हैं। मुझे यह कहते हुये वेदना होती है। परन्तु यदि इस कथन को न कहूँगा तो मैं अछूतों के हितों के प्रति जो कि मेरे लिये प्राणों के समान प्रिय है बहुत अन्याय करूँगा।

समूचे विश्व भर के राज्य को एक पलड़े में रखकर भी मैं उनके अधिकारों का बलिदान न होने दूँगा। मैं अपने पूर्ण उत्तरदायित्व का ध्यान रखते हुये यह कह देना चाहता हूँ कि डा० अम्बेदकर ने अछूतों की मांगों को उचित रूप से नहीं रखा जब कि वे भारतवर्ष भर के अछूतों की ओर से माँग रखने का दावा रखते हैं। इससे हिन्दू समाज के टुकड़े हो जाँयगे, जिसको मैं किसी भी प्रकार सन्तोष के साथ सहन नहीं कर सकता।

मुझे कोई चिंता न होगी यदि अछूत इस्लाम या ईसाई मत को ग्रहण कर लेते हैं। मैं उसको सहन कर लूँगा। पर मैं यह सहन नहीं कर कर सकता कि हिन्दू समाज के दो अंग ग्राम-ग्राम में स्थापित हो जाय। जो अछूतों के राजनीतिक अधिकारों के बारे में बोलते हैं वे न भारत को जानते हैं और न यह जानते हैं कि भारतीय समाज का किस प्रकार निर्माण हुआ।

इसलिये मैं कहना चाहता हूँ और विशेष अनुरोध के साथ कहना चाहता हूँ कि यदि मैं अकेला ही इसका विरोध करने वाला होऊँ तो भी मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर इसका विरोध करूँगा।"

महात्मा गाँधी की इस वक्तृता का प्रासंगिक भाग हमने विस्तृत रूप में इसलिये दिया है कि इससे महात्मा जी की विशालता और दूरदर्शिता की प्रखरता का अद्वितीय उदाहरण मिलता है। जो समालोचक गांधी जी को हिन्दू-हित-विरोधी समझते हैं और इस हेतु उनको गालियां देते हैं वह महात्मा जी के हृदय की गंभीरता का अनुमान करने में असमर्थ हैं। मैं इस बात को न तो आर्य समाज की दृष्टि से देखना चाहता हूँ क्योंकि यह स्पष्ट है कि गाँधी जी आर्य समाजी नहीं थे। मैं इसको कांग्रेस के दृष्टि कोण से भी नहीं देखना चाहता क्योंकि कांग्रेस का एक मात्र ध्येय यह रहा है कि विदेशीय शासन हट कर भारतीय शासन की बागडोर भारतीयों के हाथ में रहे चाहे वह हिन्दू हो चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई और चाहे वे सब मिले जुले। किसी अनुपात से क्यों न हों। अनुपात का प्रश्न नहीं। मैं उनको केवल हिन्दू-हित-रक्षक की दृष्टि से देखता हूँ। उन्होंने अपने को कभी अहिन्दू नहीं कहा। धर्म की अपेक्षा से वे मरते दम तक वैष्णव रहे। ऊपर की वक्तृता के यह वाक्य विशेष ध्यान के योग्य है:—

(१) अस्पृश्य जाति वालों को अलग निर्वाचन करने और अलग प्रतिनिधित्व के अङ्कों को सुरक्षित करना अछूतपने के दोष को नहीं मिटाता।

(२) हम नहीं चाहते कि हमारी शासन-पोथियों में अथवा जन गणना में अस्पृश्य जाति की *अलग गणना की जाय*।

(३) मैं यह सह लूंगा कि हिन्दुत्व मर जाय परन्तु अस्पृश्यता को जीवित रखना मुझे सह्य नहीं।

(४) क्योंकि यह हिन्दुओं में एक कभी न मिटने वाला बटवारा करा देगा।

(६) मैं इसके लिये प्राण तक देने को तैयार हूँ।

महात्मा गाँधी अतथ्यतः डींग मारने वाले व्यक्ति न थे। उनकी बात तुली नपी और सार्थक होती थी। वह वस्तुतः प्राण तक देने को तैयार थे। क्योंकि वह समझते थे कि यदि अछूत अलग हो गये तो दो हानियां होंगी (१) एक तो यह कि अछूतों को कभी हिन्दू बनाया न जा सकेगा। और उनके मुसलमान या ईसाई होने में सुगमता होगी वह एक अलग जाति बन जायगी जो अपने लिये कोई न कोई नाम रख लेगी।

(२) अछूतों के अलग होते ही हिन्दू उच्च जाति वाले 'अछूतपन' के जन्माधारित दोषों को मिटाने के लिये प्रेरित न होंगे और हिन्दू धर्म उतना ही अन्याय पूर्ण, दूषित और कलंकित रहेगा।

श्वनि चैव श्वपाके चैव पण्डिताः समदर्शिन :

यह श्लोक गीता की अलमारी में ही बन्द रहेगा। हिन्दुओं के जीवन में कभी चरितार्थ नहीं हो सकता।

यह दृष्टि-कोण सर्वथा सोलह आना हिन्दू था, हिन्दुत्व का हितैषी और हिन्दू-हित का परम रक्षक। २० सितम्बर सन् १९३२ को मध्याह्न के समय गांधीजी ने इसी परम उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राणान्त तक "अनशन" करने का व्रत आरंभ किया। हिन्दू धर्म के हित की डींग मारने वाले और हिन्दुत्व के नाम पर गांधी जी को गालियां देने वाले बड़े से बड़े मस्तिष्क न तो गांधी जी की इस अपार दूरदर्शिता को समझ सके हैं। न उनके हृदय इतने बड़े आत्म-त्याग को कर सकते हैं। उन्होने

ठीक और अवसरोचित तथ्य कहा कि यदि सिख, ईसाई, मुसलमान या भारतीय राष्ट्रीयता को स्वीकार करने वाले यूरोपियन लोग अलग अधिकार मांगते हैं तो इनको दीजिये क्योंकि इनको इस समय हिन्दू बनाना या बनाने की चेष्टा करना असंभव और दुर्लभ है। और यदि कुछ अछूत लोग अन्य धर्मों को स्वीकार करना चाहते हैं तो उनको रोक कौन सकता है ? परन्तु यदि हिन्दुओं में से अछूतों को इस समय कानून की दृष्टि में राजनैतिक सत्ता अलग दे दी गई तो शीघ्र ही सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विभाजन भी अवश्यम्भावी होगा और हिन्दू धर्म के सुधार और संशोधन की कोई आशा न रहेगी। आप गांधी पर यह दोष लगा सकते हैं कि इस भावना में 'वसुधैव कुटुम्बकं' की उदारता नहीं है। वह अछूतों को हिन्दू रखकर ही क्यों उठाना चाहते हैं। अछूतों को अलग सत्ता देकर उनको बुद्धि पर छोड़ दो। मुसलमान और ईसाई उन पर यह दोष भी लगा सकते हैं कि एक उच्च और निष्पक्ष राष्ट्रीय होते हुये भी गांधीजी ने हिन्दुत्व के रक्षण के लिये प्राणों की बाजी लगा दी और समस्त भूमण्डल के राज की उपलब्धि से भी इस प्रश्न को अधिक गम्भीर समझा। परन्तु हिन्दू-हितैषी लोग जो उन पर अहिन्दू और हिन्दू-हित-घातक होने का दोष लगाते हैं वह या तो समझते नहीं या समझते हुये भी दल बन्दी के दलदल में फंसे हुये हैं। ऐसे ही लोगों के लिये अथर्व वेद में प्रार्थना की गई है।

"*अभयं मित्रात्*"

हे ईश्वर मित्रों से मेरी रक्षा करो।

गांधी जी ने लन्दन में प्राणपन की बात जोश के आवेग में नहीं कही थी और न क्षणिक आवेश में अनशन किया था। उनके कार्य की यह शैली न थी। उनको अपने जोश पर नियंत्रण

था। उन्होंने २० सितम्बर १९३२ को होने वाले अनशन की सूचना ब्रिटिश सरकार के भारत-सचिव को मार्च में ही दे दी थी। और सरकार से निरन्तर पत्र व्यवहार होता रहा। गाँधीजी ताड़ गये थे कि ब्रिटिश सरकार साधारण साधनों से मानने की नहीं। युद्ध तोप तलवार का न था। मस्तिष्कों का युद्ध था, शिष्टता को लिये हुये। ब्रिटिश सरकार का चातुर्य प्रसिद्ध है पहले तो सरकारी उत्तर नैतिक कौशल पूर्ण टाल मटोल के आते रहे। परन्तु जब अगस्त में सरकार ने नैतिक-सुधारों की घोषणा कर दी तो गांधी जी ने अनशन का पक्का निश्चय कर लिया। और एक सप्ताह पूर्व समस्त संसार को ज्ञात हो गया कि २० सितम्बर को अनशन होगा और ऐसा अनशन जिसकी अवधि केवल प्राणान्त है अथवा उनकी मांग की पूर्ति।

कथा लम्बी है और जिन पाठकों को उत्सुकता हो वह इस का पूरा इतिहास पढ़ें। एक सप्ताह संसार भर को चिन्ता रही और भारत में तो अत्यन्त ही। सभायें हुईं। तार गये। सरकार को समझाया गया। डा० अम्बेदकर के हाथ पैर जोड़े गये। अछूतों को मनाया गया और गांधीजी से भी प्रार्थना की गई कि वह अपने अमूल्य जीवन को नष्ट होने से बचा लें। और इससे भी अधिक परमात्मा से प्रार्थना की गई कि मानवी उद्योग की विफलता में आप ही मार्ग दिखावें। परन्तु कोई समाधान न हुआ।

२० सितम्बर को पूना के यरवादा जेल में जहाँ गाँधी जी कैद थे अनशन आरम्भ हुआ। उस दिन जेल में समाचार पत्रों के सम्वाददाताओं को जाने की आज्ञा मिल गई। गाँधी जी महाराज ने वक्तव्य दिया जिसका एक-एक शब्द उनके उच्च भावों का प्रदर्शक था।

महात्मा गाँधी के अनशन ने भूमण्डल को हिला दिया।

गाँधी जी के शत्रु भी नहीं चाहते थे कि उनका प्राणान्त हो जाय। राव बहादुर एम० सी० राजा ने जो अछूतों के नेता थे अथक् निर्वाचन का विरोध किया। सप्रू जी ने माँग की कि महात्मा गांधी को कैद से छोड़ दिया जाय। बहुत से मन्दिर अछूतों के लिये खोल दिये गये। इङ्गलैण्ड में श्री एण्ड्रूज, पोलक और लाँसबरी ने अंगरेज जनता को इस अनशन की महत्ता बताने का यत्न किया। देश भर में प्रार्थनायें की गईं। श्री मदन मोहन मालवीय जी ने बम्बई और पूना में सभायें कीं। इंगलैण्ड के महामंत्री की मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन हुआ। २५ सितम्बर को सर्वदल सन्धि हो गई और महात्मा जी का अनशन समाप्त हुआ।

इस सन्धि से किस को क्या मिला? इसका उल्लेख करना इस पुस्तक का ध्येय नहीं है। प्रत्येक विषय पर दो मत हो सकते हैं। समझौते का अर्थ ही यह है कि सब थोड़ा-थोड़ा दबें। और जिसको जितना दबना पड़ता है उसी को उतनी शिकायत रहती है। परन्तु समष्टि रूप में जो हुआ उससे दो बातें स्पष्ट हैं अछूतों को कुछ आशा से अधिक मिल गया और हिन्दू जाति विभाजन के कोप से बच गई। जान बची लाखों पाये।

आर्य समाज ने आरम्भ से ही शोर मचाना आरम्भ किया था कि जातियों का विभाजन जन्म के आधार पर नहीं होना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने अपनी पुस्तकों में शास्त्रों के अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया कि हिन्दुओं को जन्म-आधारित जातियाँ अवैदिक शास्त्र विरुद्ध तथा हानि प्रद है। आर्य समाज और सनातन धर्म के विद्वानों में इस विषय पर निरन्तर शास्त्रार्थ होते रहे। श्री अम्बेदकरजी को प्रथम शरण तो आर्य्य समाज में ही मिली थी। आर्य समाज में अछूतों का प्रवेश पचास वर्ष से होता चला आता था। सोशल कांफ्रेंस में जिसके जन्मदाता

महादेव गोविन्द राणड़े थे अधिकतर आर्य्य समाजियों का सहयोग रहता था। श्री लाजपतराय, पं० रामभजदत्त, श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा सैकड़ों आर्य्य समाजों के सहस्रों आर्य्य समाजी अछूतोद्धार में लगे हुये थे। भेद केवल उद्योग और साफल्य की मात्रा का था। श्री अम्बेदकर जी स्वभाव से हथेली पर सरसों जमाने वाले व्यक्तियों में से हैं। उनको मनचाही चीज तुरन्त मिले अन्यथा वह दलपरि वर्तन कर देते हैं। ब्रिटिश सरकार ने जान बूझ कर ऐसे विद्वान, ऐसे तर्कशील, ऐसे उत्तम लेखक, तथा वक्ता को अपनी मनोरथसिद्धि के लिये छाँटा था। उनके प्रयास को अस्तव्यस्त करने के लिये महात्मा गाँधी के महा-त्याग की ही आवश्यकता थी। बम्बई में २५ सितम्बर १९३२ को श्री मालवीय जी की अध्यक्षता मे जो प्रस्ताव पास हुआ वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है आर्य्य समाज की दृष्टि से भी, और कांग्रेस की दृष्टि से भी और मानव हित की दृष्टि से भी। प्रस्ताव यह है :—

"The conference resolves that, henceforth, amongst Hindus no one shall be regarded as an untouchable by *reason of his birth*, and that those who have been so regarded hitherto will have the same right as other Hindus in regard to the use of public wells, public schools, public roads or all other public institutions. This right shall have statutory recognition at the first opportunity and shall be one of the earliest acts of the Swaraj Parliament, if it shall not have received such recognition before that time.

"It is further agreed that it shall be the duty of all Hindu leaders to secure, by every legitimate and peaceful means, an early removal of all social disabilities now

imposed by custom upon the so-called untouchable classes, including the bar in respect of admission to temples."

(Ibid p, p. 903-904)

यह सम्मेलन निश्चय करता है कि आजसे हिन्दू समाज में कोई भी अपने जन्म के कारण अस्पृष्य नहीं समझा जायगा। और आज जो इस प्रकार समझे जाते हैं उनको सार्वजनिक कुओं, स्कूल, सड़कों तथा संस्थाओं के सम्बंध में वही अधिकार होंगे जो अन्य हिन्दुओं को हैं।

स्वराज्य प्राप्त होने पर जो संसद बनेगी उसका सर्व प्रथम यह कार्य होगा कि इस प्रकार के अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज-नियम बनावे यदि उस समय के पूर्व ऐसा कानून न बन गया हो।

यह भी निश्चय हुआ कि सब हिन्दू नेताओं का कर्त्तव्य होगा कि उचित तथा शान्तिप्रिय साधनों द्वारा इस प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को जो लोकाचार के कारण अछूतों को सहन करनी पड़ती है दूर किया जाय और मंदिर प्रवेश के प्रश्न को भी हल किया जायगा।

प्रस्ताव श्री मालवीय जी की अध्यक्षता में स्वीकृत हुआ। यह आर्य्य समाज के लिये तो प्रसन्नता का कारण है ही परन्तु इससे उन बीसियों हिन्दू-हित-रक्षक दलों और उनके नेताओं की आँखें खुल जानी चाहिये जो दलबन्दी में फंसे हुये नाना रूपों में गाँधी-विरोध का कार्य्य कर रहे हैं और देश को फिर पौराणिक श्रृङ्खलाओं में जकड़ना चाहते हैं। इन आठ वर्षों में आर्य्य समाज के नेताओं की भी दूरदर्शिता और सूक्ष्म दर्शिता की निरन्तर परीक्षा हो रही है। इसी पर आर्य्य समाज का भविष्य निर्भर है।

———

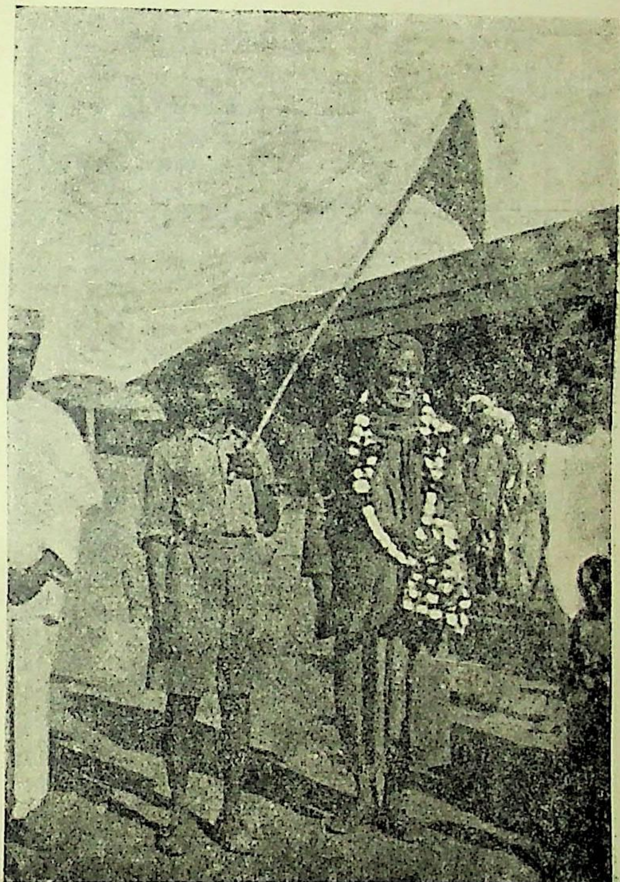
हैदराबाद सत्याग्रह

तीन धागे थे फ़क़त सूत के कच्चे लेकिन
बाजी जुन्नार ने ली हैदरी तलवार पै भी ।

यह उर्दू का एक पद्य है जो मैंने २७ या २८ फर्वरी १९३९ ई० को शोलापुर में प्रातःकाल के भ्रमण में रचा था और जब आकर मैंने उसे लाला खुशालचन्द जी (आजकल के आनंद स्वामीजी) को सुनाया तो उन्होंने तुरन्त नोट करके इसे आर्य समाचार पत्रों को भेज दिया। इस पद्य की व्याख्या ही इस अध्याय का विषय है। हिन्दी के जानने वाले पाठकों को बता दूं कि फ़ारसी भाषा में जुन्नार नाम है उन तीन धागों का जिनको हम जनेऊ या यज्ञोपवीत के पवित्र नाम से पुकारते हैं और जो हमारी वैदिक सभ्यता का एक प्रसिद्ध प्रतीक है। २५ फरवरी १९३९ ई० के "रहबरे दकिन" नामक साप्ताहिक पत्र में हैदराबाद के निजाम की रची हुई एक गज़ल निकली जिसका एक पद्य यह थाः—

बन्द नाकूस हुआ सुनके नदाये तकबीर
ज़लज़ला आ ही गया सिलसिले जुन्नार पै भी ।

अर्थात् मस्जिदों में मुसलमानों की अल्लाह अकबर की आवाज सुनकर हिन्दू लोगों के दिल दहल गये। उनके मन्दिरों के संख बन्द हो गये और उनके जनेऊ शरीर की कंपकंपी के कारण हिल उठे। वस्तुतः हैदराबाद के वर्तमान निज़ाम श्री उस्मान अली साहेब यही चाहते थे। यह पद्य उनकी मनोवृति की उपव्याख्या थी। हैदराबाद की रियासत



श्री महात्मा नारायण स्वामी जी
शोलापुर स्टेशन पर सत्याग्रह प्रस्थान के लिये



हैदराबाद सत्याग्रह के फील्ड-मार्शल
स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी

भारतीय देशी रियासतों में काश्मीर को छोड़कर सब से बड़ी और सब से धनाड्य समझी जाती थी। कहा जाता था कि हैदराबाद के निजाम के पास इतना धन है कि यदि रुपये बिछाये जायं तो समस्त इंग्लैण्ड की भूमि को घेर लेंगे। उनके पुत्र का विवाह टर्की के खलीफ़ा की पुत्री से हुआ था। उनको लोगों ने यह आशा दिला रक्खी थी कि उनका पोता टर्की का खलीफ़ा बनेगा और मुसलमानी जगत् की बागडोर आसफिया वंश के हाथ में होगी। निजाम साहेब की आरम्भिक शिक्षा अलीगढ़ की मुस्लिम यूनीवर्सिटी में हुई थी और उनकी महती आकांक्षा थी कि भारत के भावी इतिहास में उनका नाम औरंगजेब के समानान्तर समझा जाय। हैदराबाद की प्रजा में ८९ प्रतिशत हिन्दू थे और १० प्रतिशत मुसलमान। परन्तु शासक के मुसलमान होने के कारण हर मुसलमान अपने को शासक और अपने हिन्दू पड़ोसी को शासित समझता था। दैवगति से निजाम ने उस तिलगू-भाषी प्रान्त में उर्दू को राज्य भाषा बना रक्खा था। इससे मद्रासी, मरहठी तथा कन्नड़ लोग भी उर्दू सीखते और समझते थे। और आर्य समाज के जो उपदेशक पंजाब या उत्तर प्रदेश से उस रियासत में जाते उनकी भाषा और भावों को समझने में हैदराबाद वालों को कठिनाई नहीं होती थी। इसका फल यह हुआ कि हैदराबाद के हिन्दुओं में प्राचीन वैदिक धर्म की ओर रुचि बढ़ी और वह अपने पूर्वजों के धर्म और संस्कृति के महत्व को समझने लगे। निज़ाम साहेब ने आर्य समाज की बढ़ती हुई प्रगति को अपनी इच्छाओं की पूर्ति में बाधक समझा। और आर्य उपदेशकों को रियासत में घुसने से रोकने तथा समाजों के व्याख्यानों तथा अन्य प्रगतियों में रोड़ा अटकाने की कई विधियाँ निकाली। आर्य समाज की ओर से पहले विनय पूर्वक प्रार्थना, फिर साहस पूर्वक पत्र

व्यवहार और अन्त में प्रतिरोध आरम्भ हुआ। आर्य समाजियों की संख्या कम थी। यह पैसे वाले भी न थे, न था इनका कुछ प्रभाव। परन्तु इनमें जीवन अवश्य था। इसी कहा सुनी में कई वर्ष व्यतीत हो गये। स्थिति सुलझने में नहीं आई। कई आर्य युवकों की हत्या भी हो गई परन्तु राज्य की ओर से न तो प्रतीकार किया गया न संरक्षण का आश्वासन दिलाया गया।

हैदराबाद के आर्य समाजियों ने आर्यों की शिरोमणि सभा "सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा" दिल्ली से अभ्यर्थना की। समस्त आर्य जगत् में सनसनी फैल गई। २५ दिसम्बर १९३८ ई० को शोलापुर में श्री अणे जी के सभापतित्व में समस्त भारत के आर्य समाजों का एक विशाल सम्मेलन हुआ जिसमें यह घोषणा कर दी गई कि यदि हैदराबाद के शासक महोदय हमारे अधिकारों की रक्षा नहीं करेंगे तो हम सत्याग्रह कर देंगे। महात्मा नारायण स्वामी जी इस आन्दोलन के प्रमुख नेता बनाये गये। मैं भी उस सम्मेलन में गया था। २८ दिसम्बर को जब मैं घर लौटने लगा और अन्तिम भेंट के लिये श्री स्वामी की सेवा में उपस्थित हुआ तो मैंने उनसे प्रार्थना की कि यदि मेरी किसी सेवा की आवश्यकता हो तो मुझे आप आदेश भेज दें। उन्होंने कहा "क्या तुम को अवकाश है?" मैंने कहा "अवकाश तो नहीं है। परन्तु यदि ऐसे काम के लिये श्रीमुख से आदेश होगा तो अवकाश निकाला ही जायगा।"

शोलापुर से नागपुर होता हुआ मैं जो घर पहुँचा तो स्वामी जी महाराज का कार्ड मिला, "तुम्हारी जरूरत है। तुम फौरन चले आओ।" मैं शोलापुर जा पहुँचा। देखा तो श्री नारायण स्वामी जी, श्री स्वतंत्रानन्द जी तथा दो तीन और सन्यासी एक मकान लेकर डटे हुये हैं और सत्याग्रह की तैयारियाँ हो रही

हैं। उस सम्बन्ध में कार्यालय में कई लोगों की आवश्यकता थी। मैंने भी वहीं अड्डा जमा दिया और स्वामी जी के आदेशानुसार उनके काम में सहयोग देने लगा। श्री स्वामी जी पहले सर्वाधिकारी थे। जब वह गुलबर्गा में कैद हो गये तो श्री खुशालचन्द जी दूसरे डिक्टेटर नियत हुये। २५ फरवरी के रहबर दखिन में निजाम की उस धमकी वाली गजल को पढ़ कर सब को बहुत क्रोध आया। और मेरा ऊपर लिखा पद्य निजाम के उस अपमानजनक पद्य का उत्तर था। निजाम समझते थे कि तीन तागों का जनेऊ तो हिलने के ही लिये है। वह कोई लोहे की तलवार नहीं है। परन्तु मेरे पद्य में जो भविष्य वाणी की गई थी वह अक्षरशः ठीक निकली। तीन चार मास के आर्य समाज के सत्याग्रह ने भारत भर में धूम मचा दी और आर्यों के जनेऊ हैदरी तलवार को कुण्ठित करने में सफल हो गये। निजाम का अनुमान था कि थोड़े से निर्धन आर्य उनका क्या बिगाड़ सकते हैं। चींटी-चींटी ही है वह तो हाथी के एक पैर से ही कुचली जा सकती हैं। परन्तु सृष्टि का क्रम ऐसा है नहीं। यदि कहीं ऐसा होता तो चींटियों का पता भी न चलता और संसार हाथियों और सिंहों से ही भरा होता। जब समय आ जाता है तो ईश्वर चींटियों के द्वारा ही हाथी का विनाश कर देता है। निजाम के हृदय में अभिमान था उसके पास बल था। आर्य्य समाजियों के मन में कोई स्वार्थ न था। धर्म के लिये जोश था और ईश्वर पर विश्वास। सत्याग्रह के दिनों में एक दिन एक हैदराबादी महन्त ने निजाम के प्रमुख अमात्य से किसी प्रसङ्ग में कहा, "आप ने आर्य्यों को छेड़कर क्यों सिर दर्द मोल ले लिया है"। सर अकबर हैदरी बोले, "यह हमारा क्या करेंगे ?" महन्त ने उत्तर दिया, "आप क्या करने की बात कहते हैं। यह न सोवेंगे और न आपको सोने देंगे" वस्तुतः ऐसा ही हुआ। लगातार आठ मास

भूगोल भर का कोई आर्य्य परिवार नहीं सोया और न निजाम और उसके कर्मचारियो को सोने दिया। मैं एक दिन शोलापुर जा रहा था। तीसरे दर्जे में। बहुत भीड़ थी, मैंने एक दरिद्र पंजाबी से जो मेरे पास बैठा था पूछा, "आप कहाँ से आते हैं ?" बोला, "पेशावर से।"

"कहाँ जायंगे।"

"शोलापुर।"

"शोलापुर में क्या है ?"

"हमने सुना है कि निजाम ने हमारे आर्य्य भाइयों पर अत्याचार कर रक्खा है। वह आर्य समाज को नष्ट करना चाहता है।"

"तो आप क्या करेंगे ?"

"हम सत्याग्रह करेंगे, हम जेल जायेंगे। हम निजाम की नाक में दम कर देंगे।"

"क्या आप घर के धनाड्य हैं ?"

"नहीं, परन्तु धन से क्या होता है ? मेरा पिता घर पर रह गया है, उसने कहा है कि बच्चा चलो। धर्म की लड़ाई है। मैं घर का प्रबन्ध करके शीघ्र पहुँचूँगा।"

मैं भी जा तो शोलापुर ही रहा था ! परन्तु मैंने अपना कोई पता नहीं दिया। हाँ उसके साहस को देखकर मेरे मन में भी जोश आ गया। मैं सोचने लगा कि ऋषि दयानन्द ने क्या जादूकर दिया। जिस देश में भाई भाई के रक्त का प्यासा हो, जहाँ एक एक इंच भूमि पर परिवार वाले परस्पर लड़ बैठें, वहाँ यह प्रेम कि सहस्र कोस पर बैठा हुआ अपरिचित, गैरबिरादरी गैर सूबे का आर्य्य अपने दूरस्थ आर्य्य भाई की पीड़ा को सुनकर अपने पैर को बेड़ियों में डालने के लिये जा रहा है। यदि सत्याग्रह सर्वथा असफल हो जाता तो भी इतने उत्साह और इतने

जीवन की उपलब्धि घाटे का सौदा न था, मैंने देखा कि छोटे बड़े, बूढ़े और बालक, अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित सभी हंसी खुशी सत्याग्रह करने के लिये चल पड़े। बहुत से तो ऐसे थे कि दोनों ओर का किराया गांठ में बांध कर गये और हैदराबाद जाते समय वापिसी का किराया सभा के कार्य्यालय में जमा कर जाते थे। मैं स्वयं अपने व्यय पर गया था। और भोजन के लिये पैसे ले गया था। सत्याग्रहियों में कई प्रोफेसर, कई संस्कृत के उपाध्याय, कई साधु सन्यासी कई जमींदार और बहुत से दुकानदार थे। नवयुवकों की कमी न थीं। स्त्रियाँ भी जाने को छटपटाती थीं। परन्तु निज़ाम के जेलों के आचार व्यवहार पर भरोसा न करके श्री नारायण स्वामी जी ने यह कड़ा आदेश दे रक्खा था कि कोई स्त्री और कोई बालक सत्याग्रह में नहीं जाने पायेगा।

यों तो व्यक्तिगत सत्याग्रह महीनों से जारी था और हैदराबाद के बहुत से उत्साही नवयुवक जेल जा चुके थे। परन्तु नियमानुसार सत्याग्रह २२ जनवरी से आरम्भ हुआ। सबसे पहले आर्य्य समाज के प्राण और सर्व शिरोमणि नेता श्री नारायण स्वामी जी स्वयं २२ नवयुवकों को लेकर गुलबर्गा जेल में गये। पहले उनका विचार था कि वे हैदराबाद के सुलतान बाज़ार में सत्याग्रह आरम्भ करेंगे। जिस हवाई जहाज से हैदराबाद जाना था उसमें स्थान न मिल सका। तिथि निश्चित कर चुके थे। अतः चुपके से शोलापुर के आगे होटगी स्टेशन से आधी रात के समय प्रथम क्लास में रवाना हुए। सुलतान बाज़ार समाज में कई और सज्जन भी उनका साथ देने के विचार से जा पहुँचे थे। निजाम के कर्मचारियों को मालूम हो गया। वह उनको पुलिस के दफ्तर में ले गये। वहाँ बहुत आदर से सेवा शश्रुषा की और खुशामद भी की कि आप वापिस लौट जायँ। हमारे यहाँ कोई

अत्याचार नहीं है। मिठाई खाने को मँगाई गई। परन्तु स्वामी जी दृढ़-प्रतिज्ञ थे। अन्न जल नहीं किया और न बात से टले। अन्त में उन्होंने स्वामीजी को एक मोटर में बिठाल कर शोलापुर के समीप छोड़ दिया। हम समझते थे कि स्वामी जी जेल में होंगे। शोलापुर से उत्तरी भारत को तार भी दे दिये गये थे और वहाँ के पत्रों में निकल गया कि श्री नारायण स्वामी जी ने हैदराबाद में सत्याग्रह कर दिया। जब हमने श्री स्वामी जी को कार्यालय की ओर आते देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्त को स्वामी जी ने गुलबर्गा के नाज़िम के नाम तार भेज दिया कि अमुक समय मैं गुलबर्गा में सत्याग्रह के लिये आ रहा हूँ। बाईस युवक साथ चले। मैं शोलापुर के स्टेशन पर था। भाई बंशीलाल जी की पत्नी तथा अन्य देवियों ने सत्याग्रहियों की आरती उतारी, तिलक किया और बड़े जोश के साथ हम जत्थे को विदा करके चले आये। इस प्रकार हर महीने की २२ वीं तारीख को मुख्य जत्थे जाने आरम्भ हुये। सात मास तक यही तांता जारी रहा। डिक्टेटरों के नाम यह हैं।

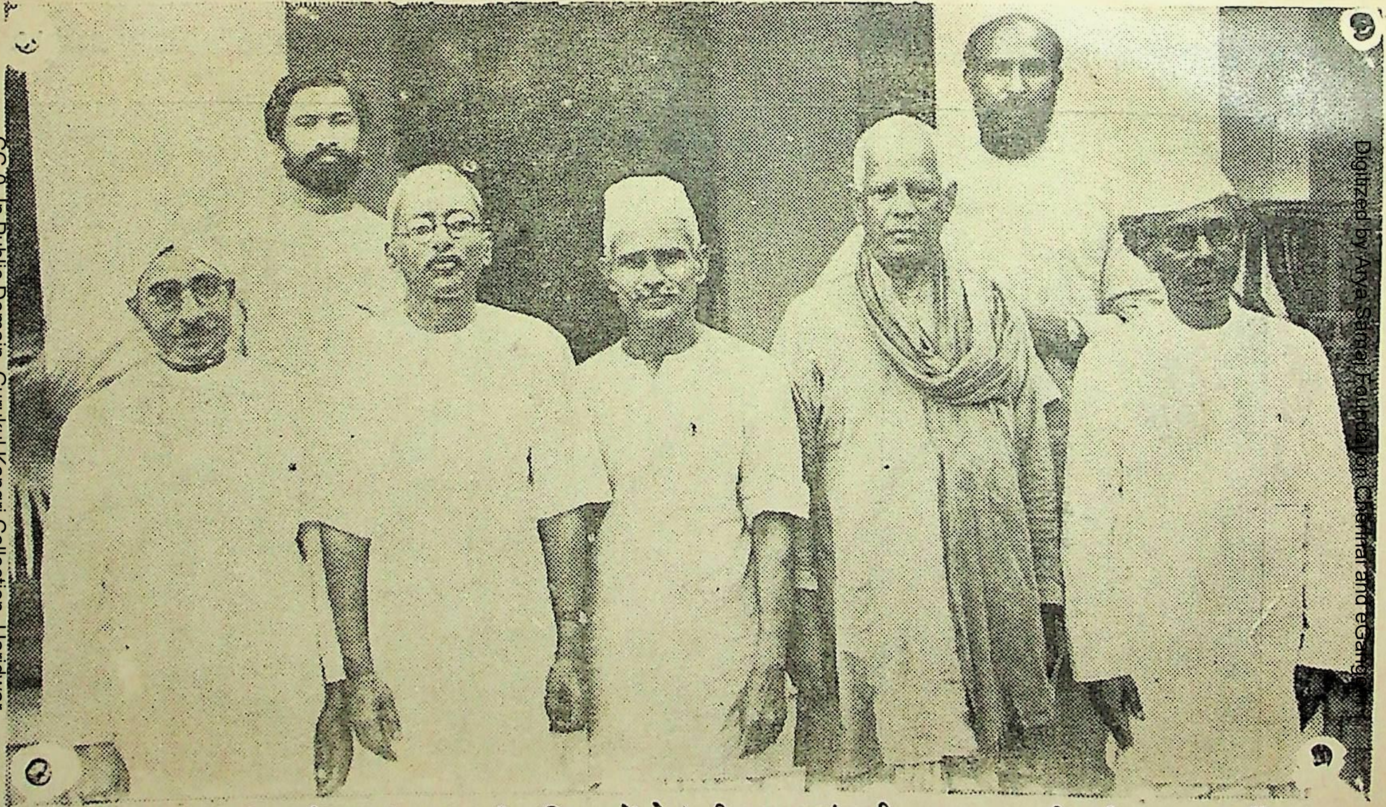
प्रथम—श्री नारायण स्वामी जी महाराज
द्वितीय—श्री खुशालचन्द्र जी (पंजाब से)
तृतीय—श्री कुँवर चाँदकरण जी शारदा (राज स्थान से)
चतुर्थ—श्री राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री जी (संयुक्तप्रांत से)
पचम—श्री स्वामी अभेदानन्द जी (विहार से)
षष्ठ—श्री महाशय कृष्ण जी (पंजाब से)
सप्तम—श्री ज्ञानेन्द्र जी (गुजरात से)

श्री नारायण स्वामी जी जाते समय यह आज्ञा दे गये थे कि श्री स्वतंत्रतानन्द जी शोलापुर केन्द्र का प्रबंध करेंगे। चाहे कितनी भी उत्तेजना क्यों न हों वे सत्याग्रह न कर सकेंगे जिससे सत्याग्रह का प्रबंध यथोचित जारी

रह सकें, बीच बीच में कई अन्य नेता भी अपने जत्थे लेकर जेल गये जैसे श्री बुद्धदेव जी विद्यालंकार। गुरुकुल कांगड़ी गुरुकुल वृन्दावन, महाविद्यालय ज्वालापुर, पंजाब के कालेज, के विद्यार्थियों और अध्यापकों ने निजाम के जेलों की ज्वार की रोटियाँ चक्खीं। पहले सत्याग्रह में २२ सत्याग्राही थे। हर मास संख्या बढ़ती जाती थी। अन्त में सात सौ से अधिक हो गई थी। अगस्त के जत्थे में जाने के लिये बड़ी तैय्यारियां हो रहीं थीं। श्री देवेन्द्र जी सिकन्दराबाद गुरुकुल वाले एक बहुत बड़ा जत्था लिये मध्य भारत में सभा की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे। हैदराबाद के प्रमुख नेता श्री विनायक राव विद्यालंकार कई सौ सत्याग्रहियों के साथ २२ वीं अगस्त के लिये छटपटा रहे थे कि जुलाई के अन्त में ही सूचना मिली कि निजाम ने हथियार डाल दिये। वह अधिकार देने को राजी है, यदि सत्याग्रह बन्द कर दिया जाय। नियमानुसार उन्होंने प्रजा में शासन सुधार के रूप से फर्मान निकाल दिया। सभा के प्रधान थे श्री घनश्याम सिंह जी गुप्त और उनके दाहिने हाथ थे दिल्ली के प्रसिद्ध नेता श्री देशबन्धु जी गुप्त। देशबन्धु जी के सुपिर्द यह काम हुआ कि वह हैदराबाद के शासकों से सन्धि की बातचीत करें। श्री देशबन्धुजी का दौत्य-चातुर्य अद्भुत था। सन्धि की शर्तें निश्चित हो गईं। निजाम ने अधिकार देना निश्चित कर दिया और प्रत्येक सत्याग्रही को उसके घर तक जाने का किराया देकर जेल से छोड़ देने का वचन भी दे दिया। ८ अगस्त १९३९ को नागपुर में प्रसिद्ध आर्य नेताओं की सभा हुई। निजाम की शर्तें स्वीकार कर ली गईं। सत्याग्रह के लिये जो जत्थे भारत के जिन जिन स्थानों पर मोर्चा लगाये खड़े थे उनको रोक देने का आदेश हो गया। आर्य्य समाज की विजय हुई। अपूर्व विजय हुई। परन्तु ३५ डिक्टेटर अपने हौसले

दिलों में रखकर ही निराश घर लौट आये। उनको अपनी वीरता दिखाने का अवसर न मिला। "लीडर" इलाहाबाद के सम्बाद दाता जी एक दिन मेरे पास आये और पूछने लगे कि यह तांता कब तक जारी रक्खोगे। मैंने कहा "अभी ७ डिक्टेटर जा चुके हैं। ४२ के नाम सूची पर दर्ज हैं। ३५ शेष हैं। आगे ईश्वर जाने।" दस बारह हजार सत्याग्रही जेलों में गये। उनमें से दो दर्जनों से ऊपर जेल में ही मर गये। इसने आर्यों में और भी जोश को बढ़ा दिया। जब हम लोगों को सूचना मिलती थी कि अमुक सत्याग्रही मर गया तो यह इच्छा होती थी कि तुम घर में बैठे क्या करते हो। तुमको भी आगे बढ़ना चाहिये। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी तो जी में कुढ़ा करते थे कि बारह हजार दूसरों को जेल में झोककर मुझे जेल से बाहर रहने का क्या अधिकार है परन्तु श्री स्वामी नारायण स्वामी जी को आज्ञा को उल्लङ्घन करना श्रेयस्कर न था। २२ अगस्त को समस्त नेता और उनके अनुगामी सत्याग्रही जेल से छूट कर दिल्ली में लौट आये। जोश और खुशी का तूफान उमंड रहा था। इस सम्बन्ध में मैं कुछ अपना हाल भी लिख दूँ।

मैं जनवरी में शोलापुर गया। मार्च तक वहाँ रहा। मेरा काम था पत्र-व्यवहार करना, समाचार पत्रों और अन्य सभाओं को सत्याग्रह की प्रगति से सुविज्ञ रखना। प्रतिरोधी लेखों का उत्तर देना। निज़ाम की सरकार से निकले हुये पैम्फलिटों तथा फर्मानों की आलोचना करना और पुस्तकें लिखकर छपवाने के लिये दिल्ली भेजना। मार्च के अंत में मैं इलाहाबाद चला आया। मई में फिर सत्याग्रह के काम के लिये दिल्ली चला गया। मुझ को आदेश हुआ कि अब मैं दिल्ली हैडक्वार्टर्स में रहूँ। और श्री सुधाकर जी सभा के मंत्री का हाथ बटाऊँ। जून में मुझे आदेश मिला कि हैदराबाद जाकर वहाँ से मूल फर्मानों और



हैदराबाद सत्याग्रह के सर्वाधिकारी—(पहली पंक्ति बायें से) श्री खुशालचंद जी, म० कृष्ण जी, श्री घनश्याम सिंह गुप्त, महात्मा नारायण स्वामी जी, कुँवर चाँदकरण शारदा (दूसरी पंक्ति) श्री ज्ञानेन्द्र जी, श्री राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री



उपदेशक विद्यालय, प्रथम पंक्ति (बायें से) २-गोपदेव जी, ३-उपाध्याय जी, ४-राजगुरु धुरेन्द्र जी, ५-बंशीलाल जी

पत्रों की उपलब्धि करो। क्योंकि ब्रिटिश सरकार के अधिकारी कहते थे कि हम मौलिक पत्रों को देखना चाहते हैं।

इसका भी एक रहस्य था। जिस प्रकार हैदराबाद की प्रजा में हिन्दू अधिक है और शासक मुसलमान है। इसी प्रकार काश्मीर की प्रजा में मुसलमान अधिक हैं और राजा हिंदू हैं। एक बार मुसलमानों ने झूठ-मूट आन्दोलन उठाया कि काश्मीर का हिंदू डोंगरा शासक मुसलमानों पर अत्याचार करता है। जब ब्रिटिश सरकार ने तहकीकात की तो मुसलमानों की शिकायतें अतथ्य निकलीं। ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों की यह धारणा हुई कि हैदराबाद के आर्यों के सत्याग्रह में भी कुछ ऐसी ही राजनीतिक चाल है। यहाँ तक कि जब महात्मा गांधी को निजाम की वह गजल सुनाई गई जिसका इस अध्याय के आरम्भ में उल्लेख किया गया है तो उन्होंने विश्वास नहीं किया। निजाम की ओर से भारत में और इग्लैण्ड में यह आन्दोलत किया जाता था कि हिन्दुओं ने मुसलमान शासक के विरुद्ध निर्मूल तूफान खड़ा किया है। काँग्रेस के कई नेताओं को इसका विश्वास हो जाता था। जब महात्मा गाँधी को निश्चय दिलाने के लिये 'रहबर दकिन' का वह परचा तलाश किया गया तो कहीं उपलब्ध न हो सका। लोग हैदराबाद दौड़ाये गये। बहुत व्यय किया गया परंतु पर्चा न मिला। अकस्मात् मुझे याद आया कि मार्च में जब मैं इलाहाबाद गया था तो अपनी ग़जल सुनाने के लिये उस पर्चे को भी ले गया था। शायद मेरी अलमारी में वह रक्खा हो। पर्चा मिल गया। उसका फोटो लिया गया। ब्लाक बनवाया गया और प्रतिकृति छाप छाप कर बाँटी गई। वह मूल पर्चा अब भी सार्वदेशिक के कार्यालय में सुरक्षित है।

हाँ। जब मुझको आदेश मिला तो मैं हैदराबाद पहुँचा।

दूसरी हैसियत से गया था। एक पत्र का सम्वाददाता बनकर। हैदराबाद के पब्लिसिटी विभागके नाजिम से मिलाऔरपरिस्थिति के विषय में बात-चीत की तो वह कहने लगे, "आप यहाँ रहकर देखिये। हमारी सरकार बहुत विकसित है। हमारी रिपोर्टें पढ़िये। और जरा शोलापुर जाकर तो देखिये कि आर्य्यों ने कितना झूठा प्रोपैगैण्डा कर रक्खा है। आर्य्य लोग बलाके प्रौपैगैण्डिस्ट हैं।"

मैंने उससे पूछा, "यह तो बताइये कि आपकी जेलों में जो मर जाते हैं उनकी लाशों पर घावों के निशान क्यों मिलते हैं?" उसने जो उत्तर दिया वह हँसी के योग्य था। वह कहने लगा, "अजी हम तो रोगियों की भरसक चिकित्सा करते हैं। अच्छे से अच्छे डाक्टर उनको देखते हैं। परन्तु जब आर्य लोगों को मृतकों की लाशें वापिस दी जाती हैं तो वह चाकू से घाव करके फोटो ले लेते हैं।"

इग्लैण्ड में कई अंगरेजों ने जो हैदराबाद के निजाम के कर्मचारी रह चुके थे इङ्गलैण्ड में इसी प्रकार की खबरें फैला रक्खीं थीं। जब वैजवुड महोदय ने एक पत्र के उत्तर में मुझे लिखा तो मैंने उनके पास फोटो भेज दिये और लिख दिया कि मेरी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

जब मैं हैदराबाद गया तो मुझे कदापि आशा न थी कि मैं मौलिक कागजों के लेने में सफल हो जाऊंगा। परन्तु कुछ अदृष्ट सहायता मिल गई, जिसका उल्लेख करना अनुचित होगा। मैं बहुत से पत्र, फर्मान, आदेश-पत्र, मस्जिदों, मन्दिरों, टूटे मन्दिरों, पुराने मन्दिरों के ऊपर मुसलमानी झण्डों, भग्न मूर्तियों के फोटो लाया। उनके ब्लाक इलाहाबाद में बनवाये गये। और श्री देशबन्धु जी के आदेशानुसार इङ्गलैण्ड की पार्लीमेंट के लिये सामग्री तैय्यार की गई। जब जुलाई के आरम्भ

में गर्मियों की छुट्टियों के बाद इलाहाबाद का स्कूल खुला तो मुझे दिल्ली से लौटना पड़ा। श्री सुधाकर जी और देशबन्धु जी की प्रेरणा हुई कि सत्याग्रह के बीच में मेरा घर जाना ठीक न होगा। अतः मैंने निश्चित कर लिया कि अब बहुत सवैतनिक काम कर लिला। हैडमास्टरी छोड़ देनी चाहिये और समाज का बिना वेतन का काम करना चाहिये। आयु भी ५८ वर्ष की हो चुकी थी। अतः २१ जुलाई सन् १९३९ को त्याग-पत्र देकर सार्वदेशिक सभा के आधीन सत्याग्रह का कार्य करने के लिये दिल्ली चला आया।

यद्यपि मैं जेल न जा सका तथापि जो कुछ थोड़ा बहुत योग दे सका उसने मुझे पर्याप्त सन्तोष दिया। न करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है।

शोलापुर का उपदेशक विद्यालय

जो लोग वायु के अस्तित्व को केवल आँधी से ही पहचानते हैं उनकी बहुत दिनों से धारणा है कि आर्य समाज मर गया है। उसमें जान नहीं रही। अन्यथा देश में उसका शोर सुनाई पड़ता। आर्य समाज के भीतर भी इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले कुछ तो अवश्य थे। परन्तु यह बात सृष्टिक्रम की यथार्थ व्याख्या नहीं करती। आंधियाँ तो कभी-कभी ही आया करती हैं। शीतल, मन्द, सुगन्ध यह हैं तीन विशेषण जो बड़े भाव-विज्ञ कवियों ने वायु के लिये निर्वाचित किये हैं। यदि नित्य आँधियाँ आया करें तो सृष्टि की स्थिति संदिग्ध हो जाय। आर्य्य समाज न मरा था न सुप्त था। यह धीरे-धीरे रचनात्मक कार्य्यों में लगा हुआ था। जिनके आंखें हैं वह देख सकते हैं कि महात्मा गाँधी ने बीसवीं शताब्दी के तृतीय शतक के आरम्भ में जो स्वातंत्र्य आन्दोलन खड़ा किया उसके लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने वाला आर्य्य समाज ही था। यदि मनुष्य गणना के अनुपात से देखा जाय तो महात्मा गाँधी के असहयोगी झण्डे के नीचे आर्य्य समाजियों की सबसे बड़ी संख्या थी। यदि मनोवृत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय संस्कृति पर विश्वास रखने वाले जितने आर्य्य समाज में थे उतने बाहर न थे। हरिजन क्षेत्र के सुधार का बीज तो आर्य्य समाज ने ही बोया था। कड़ी और पथरीली भूमि को नर्म करने का काम तो आर्य्य समाज का ही था। यह बात अवश्य थी कि कई लोग वास्तविकता को भुलाकर सफलता का श्रेय

बाँटने में आर्य्य समाज का भाग उसे नहीं देना चाहते थे। यहाँ मैं दो विस्पष्ट दृष्टान्त देना चाहता हूँ। एक बार मैं शाहपुरा के वर्तमान राजाधिराज के साथ अजमेर जा रहा था। राजा साहेब ने भिनाये के यहाँ कुछ मिनटों विश्राम किया। राजा साहेब एक पुस्तक पढ़ रहे थे Changing India अर्थात् बदलता हुआ भारत। उसमें राजा राममोहन राय से लेकर आज तक के सभी छोटे बड़े सुधारकों का नाम था सिवाय स्वामी दयानन्द के। ऐसा लगता था मानों स्वामी दयानन्द कोई ऐतिहासिक पुरुष हुये नहीं, राजाधिराज जी ने कार पर चढ़ते समय मुझसे पूछा, "पुस्तक कैसी है ?" मैंने कहा, "इसमें स्वामी दयानन्द का तो नाम ही नहीं। जो लेखक इतनी मोटी बात नहीं जानता उसके विषय में मैं क्या कहूँ।" वह बोले, "इसमें शायद धार्मिक सुधारकों (Religious reformers) का नाम नहीं हैं।" मैंने कहा, "फिर राजा राममोहन राय का क्यों हैं ?" वे चुप हो गये। एक दूसरा दृष्टान्त और है। मैंने श्री पट्टाभी सीतारमय्या जी की काँग्रेस-प्रगति सम्बन्धी एक पुस्तक देखी जिसमें गढ़वाल की वर्तमान डोला-पालकी समस्या का उल्लेख था। वस्तुतः डोला-पालकी का प्रश्न काँग्रेस से भी पूर्व उन दलित लोगों का उठाया हुआ है जो आर्य्य समाज में सम्मिलित हो गये थे और अपने को नीच, अस्पृश्य या शूद्र कहने से इनकार करते थे। परन्तु उस पुस्तक में आर्य्य समाज के आरम्भिक काम का कुछ भी उल्लेख न था। इसका मैं यही अर्थ समझता हूँ कि बहुत से लोग जनता का ध्यान स्वामी दयानन्द की ओर से हटाना चाहते हैं जिससे लोग आर्य्य समाज को सर्वथा भूल जायँ।

हैदराबाद के सत्याग्रह ने ऐसे लोगों की कल्पित धारणायें दूर कर दीं। देश भर को पता लग गया कि आर्य्य समाज

एक जीवित संस्था है। स्वयं आर्य्य समाजियों को भी भान होने लगा कि हम में शक्ति है और यदि शक्ति को जागृत किया जाय तो हम फिर संसार में आँधी उत्पन्न कर सकते हैं।

हैदराबाद के इधर उधर के प्रान्तों में तो आर्य्य समाज के नाम की धूम मच गई। हैदराबाद में आर्य समाजों की संख्या दिन दूनी बढ़ने लगी। नये मन्दिरों का निर्माण हुआ। उस काम के लिये सार्वदेशिक सभा की ओर से सहायता दी गई। शहीदों के वारिसों को आवश्यकतानुसार जीविका के निर्वाह के लिये थोड़ी-थोड़ी सहायता दी गई। उत्तरी भारत के छोटे-छोटे गाँवों में भी यह अनुभव होने लगा कि आर्य्य समाज अपने कार्य-कर्ताओं के परिवारों को निराश्रय छोड़कर भूल नहीं जाता। हैदराबाद के मुसल्मान अत्याचार करने से डरने लगे। एक क़स्बे की घटना है। एक किसी मुसल्मान लड़के ने हिन्दू को मार दिया। सत्याग्रह से पूर्व ऐसी घटनायें साधारण थीं। मुसल्मान बच्चे भी समझते थे कि हम शासक हैं हिन्दू हमारे गुलाम हैं। पुलिस के एक मुसल्मान अधिकारी ने इन दो लड़कों में बीचविचाव कर दिया। वह बोला, "देखो। इनको छेड़ना नहीं चाहिये। इनकी भी एक सरकार है। इनका बड़ा बादशाह दिल्ली में रहता है।" गुलबर्गे के समाज मन्दिर के लिये जब श्री धुरेन्द्र जी ने अपील की तो वहाँ के मुसल्मान कोतवाल ने बड़े आदर के साथ चन्दा दिया। यह था वातावरण जो सन् १९३९ ई० के अन्त में सत्याग्रह के कारण उत्पन्न हो चुका था।

२१ जुलाई को त्याग-पत्र देकर मैं स्कूल से सीधा दिल्ली को चल दिया था वहाँ मैं सत्याग्रह के काम में संलग्न हो गया। २२ अगस्त को सत्याग्रही सर्वाधिकारी गण दिल्ली में आये। एक दो सप्ताह तक तो दिल्ली, तथा अन्य नगरों में विजय के

समारोह होते रहे। फिर यह विचार होने लगा कि हैदराबाद के लिये कुछ ठोस रचनात्मक काम करना चाहिये। विजय के हर्ष में डूबे रहना मूर्खों का काम है। अन्त में निश्चय हुआ कि केवल एक वर्ष के लिये हैदराबाद स्टेट के रहने वाले २५ या तीस नवयुवकों को सिखाने के लिये शोलापुर में एक उपदेशक विद्यालय खोला जाय और उनको केवल हैदराबाद में ही प्रचारार्थ नियुक्त किया जाय। इनका तीन वर्ष का वेतन सार्वदेशिक सभा दे। श्री राजगुरू जी ने अपना एक वर्ष इस काम के लिये देने का बचन दिया। उन्होंने कहा, "मुझे जितने दिनों की जेल हुई थी उस अवधि में अभी बहुत कुछ शेष है। मैं इसको हैदराबाद की सेवार्थ देता हूँ।" भाई बंशीलाल जी प्रबन्धक नियत हुये। १ ली अक्टूबर १९३९ से उपदेशक विद्यालय खोलने का निश्चय हुआ। भाई जी तुरन्त ही शोलापुर को रवाना हो गये और वहाँ ७५) मासिक पर पद्मालय कोठी किराये पर ली। एवं २० या २५ होनहार युवकों को विद्यालय में प्रविष्ट किया। मैं उस वर्ष सार्वदेशिक सभा का उपमंत्री चुन लिया गया। मेरे सुपुर्द यह काम था कि मैं शोलापुर में विद्यालय के काम में भी सहायता दूँ और मद्रास आदि दक्षिण के अन्य प्रान्तों में भी भ्रमण करूँ। मैं अक्टूबर के अन्त तक शोलापुर पहुँच सका। विद्यालय खुल गया था। भाई जी उपस्थित थे। श्री राजगुरू जी उन दिनों संयुक्तप्रान्तीय आर्य्य प्रतिनिधि सभा के भी सभापति बना लिये गये थे। उनको वहाँ भी कार्य्य था। अतः उनको आने में विलम्ब लगा और उनका बंधकर बैठना असम्भव हो गया। अतः आचार्य तो वही रहे परन्तु परिस्थिति को देख कर मैंने अपने को वहाँ का प्रिंसिपल बना लिया। सभा की ओर से हिसाब तथा अनुशासन का उत्तरदाता मैं ही था। और शोलापुर बैंक में मेरा नाम 'प्रिंसिपल' करके

लिखा गया था। मुझे इस पद की आकाङ्क्षा न थी, क्योंकि वास्तविक आचार्य राजगुरु जी थे। मैं तो मद्रास की ओर जाने वाला था। परन्तु आवश्यकता ऐसी ही थी। हम निश्चय के लिये सार्वदेशिक सभा की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। अतः मैंने स्वय ही अपनी नियुक्ति कर ली। किसी को आपत्ति तो होनी ही क्या थी ? विद्यार्थियों में कुछ संख्या आन्ध्र प्रांत की भी थी। मैं अक्टूबर में ही शोलापुर से मद्रास चला गया था। और दक्षिणी भारत में भ्रमण करने में मुझे दो मास लग गये। तिनाली के निकट कुचपुड़ी ग्राम में मुझे श्री गोपदेव जी से भेंट हुई जो उत्तरी भारत में बहुत दिनों रह चुके थे। मैंने उनको शोलापुर बुला लिया। समय-समय पर अवकाशानुसार राजगुरु जी भी पधारते रहे और अपने सदुपदेशों से विद्यार्थियों को कृतार्थ करते रहे। बाहर से महता जैमिनि आदि भद्र पुरुषों का भी शुभागमन हुआ और विद्यालय को उनसे बहुत लाभ पहुँचा। शोलापुर में आर्य समाज नियमानुसार खुल गया और उसके साप्ताहिक अधिवेशन विधि पूर्वक होने लगे। इस प्रकार एक वर्ष तक शोलापुर उपदेशक विद्यालय चला। वर्ष के अन्त में परीक्षा लेकर उत्तीर्ण युवकों को 'रत्न' की उपाधि दी गई। दीक्षान्त संस्कार हुआ जिसमें सभा के प्रधान श्री घनश्याम सिंह जी गुप्त और श्री देश बन्धु जी भी पधारे। उपदेशक विद्यालय समाप्त कर दिया गया।

परन्तु इसी बीच में एक और महान कार्य हुआ। जिसका विशेष महत्व है। लाहौर की डी० ए० वी० कालेज कमेटी के अधिकारियों ने सत्याग्रह के बीच में ही समय की माँग को देखकर यह निश्चित किया कि शोलापुर में एक डी० ए० वी० कालेज खोलना चाहिये। एक शोलापुर के सेठ ने इस काम के लिये पचास हजार दान दिया। कमेटी ने दो लाख का

बजट पास किया। और जिस भूमि में दिसम्बर १९३८ ई० में सत्याग्रह करने के लिये अखिल भारतीय आर्य सम्मेलन हुआ था उसकी लगभग १५ एकड़ भूमि क्रय कर ली गई। जब हमारा उपदेशक विद्यालय चल रहा था तो साथ-साथ ही श्री डाक्टर गोर्धन दास दत्त और कानपुर डी० ए० वी० कालेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल श्री दीवानचन्द जी के बड़े भाई श्री ज्ञान चन्द्र जी कालेज की विशाल इमारत के बनवाने में लगे हुये थे। एक और मकान लेकर कालेज खोल दिया गया था। आजकल यह कालेज बम्बई प्रान्त की उच्च संस्थाओं में गिना जाता है। मैं इसे दो बार देख आया हूँ। पीछे से सार्वदेशिक सभा ने मुझे भेज कर समाज के लिये एक अलग भूमि भी क्रय कर ली थी। और १५०००) रु० इसके लिये स्वीकार किये थे। उसमें भवन बन गया होगा। बीज बो दिया गया है वृक्ष भी हो ही जायगा।

मद्रास प्रचार

बहुत दिन हुये लगभग ५० वर्ष से ऊपर जब मद्रास से अंगरेजी में ईसाइयों का एक साप्ताहिक निकलता था, जिसका नाम था एपीफैनी (Epiphany)। मैं जब अलीगढ़ में पढ़ता था तो अपने हेडमास्टर की सिफारिश पर मैं भी इसको मंगाने लगा था, यह निःशुल्क पत्र था, पीछे से नाम मात्र चार आने चन्दा कर दिया गया था। मेरे पास यह पत्र इलाहाबाद में भी आता रहा।

एपीफैनी शब्द का अर्थ है प्रकाशित होना (Epi—upon या ऊपर, phaino—to show, प्रकट करना)। ६ जनवरी को ईसाइयों का एक त्योहार होता है एपीफैनी। यह वह दिन है जब पूर्व के विद्वान महात्माओं (wise men of the east) को आकाश का तारा देखकर ईसा मसीह के संसार में शुभागमन की सूचना मिली थी।

मैं इस पत्र में कभी-कभी आर्य्य समाज की ओर से ईसाई लेखकों के आक्षेपों का उत्तर दिया करता था। उन दिनों युवावस्था थी चार कहता और चार सुनता। मजा आ जाता था। यह याद नहीं कि क्या लिखता था। इतना स्मरण है कि कभी-कभी कुछ आर्य्य सज्जन मेरे लेखों को देखकर उनकी प्रशंसा कर देते थे, उन दिनों कभी-कभी जी में अनिरुक्त सी इच्छा हो उठती थी कि मद्रास और अमेरिका चलकर यदि वैदिक धर्म का प्रचार करते तो अच्छा होता, परन्तु साधन तो थे ही नहीं। अंगरेजी की कहावत है कि यदि इच्छायें घोड़े होतीं

तो भिखारी भी उन पर सवारी कर सकते (If wishes were horses, beggars would ride them) मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि न इच्छायें कभी घोड़ा बनेंगी और न मैं उन पर सवारी कर सकूँगा। युग बीत गये। मैं युवक से वृद्ध हो गया साठ साल का बूढ़ा। कई पुत्रों का पिता कई पौत्रों का बाबा। कई बार बीमार भी पड़ा और जीवन भी सन्दिग्ध हो गया पर चलता रहा, अब तो उन पुरानी इच्छाओं का भी कोई चिह्न नहीं रहा था, स्मृति भी उनको विस्मृत कर चुकी थी।

सन् १९३९ के सितम्बर मास में जब मैं दिल्ली में सभा के कार्यालय में बैठा हुआ था मद्रास से एक युवक आये और उन्होंने बड़े आदर सत्कार तथा शिष्टाचार के साथ मुझसे प्रार्थना की कि आप मद्रास आकर वहाँ के प्रचार कार्य में कुछ योग दें। यह थे श्री केशवदेवजी ज्ञानी, गुरुकुल कांगड़ी के उत्साही और तीव्र-बुद्धि स्नातक। इनको स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मद्रास प्रान्त में प्रचारार्थ भेजा हुआ था। कुछ दिनों आंध्र और तमील-नाड में प्रचार करने के पश्चात् वह मद्रास में कुछ व्यवसाय करने लगे थे। परन्तु आर्य्य समाज को यथाशक्ति सहायता देते रहते थे। उन्होंने इतनी शिष्टता के साथ मुझसे प्रार्थना की कि मैंने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। सभा की ओर से मुझे आज्ञा मिल गई। मैं पहले शोलापुर आया। और वहाँ उपदेशक विद्यालय का काम चालू करा के मद्रास को चल दिया। जब मैं मद्रास में जा रहा था तो एपीफैनी वाली समस्त स्मृतियाँ जाग्रत हो गईं। फिर इच्छाओं के अङ्कुर जग उठे। रेल क्या थी मेरी इच्छा थी जो घोड़े के रूप में प्रकट हुई थी और मैं उस पर चढ़ा जा रहा था।

मार्ग में मेरे पास कुछ पुस्तकें थीं जिनमें उन विदेशी पाद-रियों का उल्लेख था जो शताब्दियों पूर्व यूरोप से भारत में

मिशनरी बनकर आये थे और जिन्होंने ईसाई धर्म और ईसाई चर्चों की यहाँ नींव डाली थी। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि न जीवन भर सही वृद्धावस्था में ही कुछ तो अवसर मिला। मैं भजन की वह कड़ी गुनगुनाने लगा—

संदेश देश देश में वेदों के दें सुना।
समभाव और प्रेम का जग में प्रसार हो।

नये स्थान पर जाने के लिये बालकों में जो उत्साह होता है वह मुझ में भी था। साथ ही हृदय में धड़कन भी थी कि किस प्रकार क्या काम कर सकूँगा।

गाड़ी मद्रास स्टेशन के भीतरी प्राङ्गण में प्रविष्ट हुई और मैं नये देश की नई चीजों को देखने लगा। स्टेशन पर मेरे स्वागत के लिये श्री केशव देव जी ज्ञानी, श्री बी० एम० शर्मा, श्री भइया जी तथा अन्य कई सज्जन आये और मुझे एक होटल में ठहरा दिया। श्री ज्ञानी जी भी यहीं रहते थे। क्विटे के भूकम्प में उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था। वे अकेले ही थे। दिवाली का उत्सव हुआ। मैं सभापति बनाया गया। कई व्याख्यान स्वामी जी की जीवनी पर हुये। मैं टामील बिल्कुल नहीं समझता था। व्याख्यान प्रायः अंगरेजी में और कभी-कभी हिन्दी में हुआ करते थे। उनका वाक्य प्रति वाक्य अनुवाद तामिल भाषा में श्री कन्नैया जी करते। यह तामिल भाषा के बड़े प्रभावशाली व्याख्याता थे।

मद्रास में कई दिन रहने के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि आगे दक्षिण की ओर बढ़ना चाहिये। तेईस रुपये में एक यात्रा टिकट खरीदा जो एक मास की अवधि तक काम आ सकता था और जिसमें नियत मार्ग से जाने आने की व्यवस्था थी। उन दिनों मंगलौर से मेरे लिये निमंत्रण भी आया था।

मार्ग में कालीकट उतरे। यहाँ मेरे इलाहाबाद के पुराने मित्र श्री कर्मचन्द भल्ला प्रचार का काम करते थे और हिन्दू सभा की ओर से एक पत्र भी निकालते थे। कालीकट का नाम सुना था जहाँ ज़मोरिन के समय में वास्कोडिगामा ने पुर्तगाल से आकर पहले पहल भारत भूमि की खोज की थी। ज़मोरिन कालेज को देखा तो उस समय की याद आ गई। कालीकट में ही १९२० ई० में मौपला विद्रोह हुआ था जिसमें मौपले मुसलमानों ने सैकड़ों हिन्दुओं की खोपड़ियों से कुयें भर दिये थे और सैकड़ों स्त्रियों को बलात्कार मुसलमान बना लिया था। इन्हीं की रक्षा के लिये उन दिनों श्री लाला खुशालचन्द जी तथा पंजाब के अन्य नेता कालीकट में गये थे। उन दिनों यहाँ एक समाज मन्दिर भी बनवाया गया था। और कालेज पार्टी की ओर से एक प्रचारक स्थायीरूप से नियत थे। कई दिन रहने और कालीकट का वातावरण देखने के पश्चात् मंगलौर को चल दिया।

मंगलौर, कारकल और उडुपी में कई व्याख्यान देने और स्थानिक लोगों से मैत्री प्राप्त करने के पश्चात् मैं आगे बढ़ गया और अर्नाक्यूल्म कोचीन एलैपी तथा कुल्लम के मार्ग से ट्रावनकोर की राजधानी त्रिवेन्द्रम में पहुँच गया। त्रिवेन्द्रम में मैं एक सप्ताह रहा। यहाँ आर्य समाज तो था नहीं। एक हिन्दू सभा थी। उसमें मैंने दो व्याख्यान दिये। कुमारी अन्तरीप में जाकर भी स्नान किया फिर रामेश्वरम और धनुषकोटि होता हुआ मद्रास लौट आया।

मद्रास में कुछ दिन इधर-उधर व्याख्यान दिये, कुछ परिस्थिति पर विचार किया फिर, शोलापुर को लौटते समय विजयवाड़ा आया। यहाँ सार्वदेशिक सभा की ओर से श्री मदनमोहन जी विद्यासागर जो गुरुकुल काँगड़ी के एक योग्य स्नातक हैं वेद प्रचार के लिये नियुक्त थे। मुझे उनसे आन्ध्रदेश की परिस्थिति पर

विचार करना था। सत्याग्रह के दिनों में विजयवाड़ा भी सत्याग्रह के कार्य्य क्षेत्र का एक केन्द्र था। यहाँ सभा के उपदेशक बहुत दिनों से नियत थे। परन्तु कुछ सफलता नहीं हो रही थी। हम लोग दूसरे ही दिन तिनाली को लौटे। श्री विद्यासागर जी ने हमको बताया था कि तिनाली के निकट कुचपुड़ी ग्राम में एक आर्य्य विद्वान् रहते हैं जिनका नाम गोपइया या गोपदेव जी है। उनको खोजते-खोजते हम एक ग्राम में पहुँचे। गोपदेव जी वहाँ विद्यमान थे। मैंने व्याख्यान दिया और गोपदेव जी ने तिलगू भाषा में उसका अनुवाद किया। तत्पश्चात् उन्हीं के साथ बैलगाड़ी में बैठकर उनके ग्राम कुचपुड़ी में आये। तिनाली से लेकर दक्षिण की ओर कृष्णा नदी के किनारे किनारे हरे भरे गाँव मिलते हैं। यहाँ हल्दी के खेत बहुत हैं जो देखने में छोटे केलों के सदृश प्रतीत होते हैं। विचार के पश्चात् निश्चय हुआ कि विजयवाड़ा से अपना केन्द्र उठाकर तिनाली में ले आना चाहिये। फलतः ऐसा ही किया गया। सबसे बड़ा लाभ हुआ श्री गोपदेव जी के सहयोग का। कुचपुड़ी में पहले एक छोटी सी हिन्दी की पाठशाला से काम आरम्भ किया गया था। अब वहाँ आर्य्य समाज बन गया है। निकटवर्ती स्थानों में कई स्थानों पर आर्य्य समाज खोले गये। तिनाली में भी एक आर्य्य समाज खुला था। परन्तु यहाँ की आर्य्य सामाजिक स्थिति में उतार चढ़ाव होते रहते हैं।

शोलापुर आते ही मुझे तार मिला कि मेरे छोटे भाई पं० सत्यव्रत जी उपाध्याय का जो मेरे पीछे डी० ए० वी० हाई स्कूल इलाहाबाद के मुख्याध्यापक नियत हुये थे दमे के रोग में देहान्त हो गया। यह १४ सितम्बर १९३९ की घटना है। मैं तुरन्त ही प्रयाग को चल पड़ा। मुझे यहाँ दो सप्ताह लग गये। जनवरी के आरम्भ में मैं फिर शोलापुर पहुँच गया।

दक्षिण की धार्मिक और सामाजिक स्थिति

उत्तरी भारत से पहली बार मद्रास प्रान्त में जाने वाले को प्रतीत होता है कि हम किसी अन्य देश में आ गये हैं। चाल-ढाल, रीति-रंग, भाषा-भूषा सब अलग। और एक विचित्र बात यह है कि भाव भी कुछ अलग हो गये हैं। यों तो हिन्दू संस्कृति का प्राबल्य है। हिन्दू सब मूर्तिपूजक हैं। उत्तर के मंदिरों और दक्षिण के मन्दिरों में मूर्तियाँ तो एक ही हैं। परंतु नाम अलग-अलग हैं। दूसरा भेद यह है कि उत्तर के नगरों में मंदिर हैं। दक्षिण में मंदिरों में नगर बसा हुआ है। त्रिचनापली से कुछ दूर श्रीरंगम के मंदिर का भी यही हाल है। अतः यह क्षेत्र पौराणिक धर्म के गढ़ हैं और आर्य समाज के लिये यहाँ कठिनाई होती है।

परन्तु सब से विचित्र बात यह है कि मद्रासी अपने को भारत से अलग समझता है। उसको यह बात सुझा दी गई है कि तुम आर्य नहीं द्राविड़ हो। तुम्हारी द्राविड़ सभ्यता आर्य सभ्यता से बहुत प्राचीन हैं। आर्यों ने उत्तर से आकर तुम को दास बना लिया। अतः तुमको द्राविड़ संस्कृति के पुनः स्थापन का यत्न करना चाहिये। तामील और केरल भाषाओं की लिपि और शब्दावली उत्तरी भाषाओं से भिन्न हैं। और वहाँ के लोगों की धारणा है कि हमारी भाषा संस्कृत भाषा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती।

यह भेद भाव क्यों उत्पन्न हो गया। इसका पता चलाना कठिन है। दोनों पक्ष हैं। परंतु भेद भाव को सुदृढ़ करने में ईसाइयों का विशेष हाथ है। कहते हैं कि ईसामसीह के थोड़े दिनों पश्चात् ही उनके बारह शिष्यों में से एक सेण्ट टामस नामी मद्रास में प्रचारार्थ आये थे। उस समय यूरोप और भारत का सम्बन्ध न था। परन्तु यह ईसाई प्रचारक सीधे फलस्तीन से आये थे। और भारत के देवी के मन्दिरों को देख कर उन्होंने कल्पना कर ली थी कि भारतीय लोग तो मरियम के पुजारी हैं। कुछ भी हो, ईसा की पहली शताब्दी में ही भारत दूरस्थ दक्षिण ईसाइयों के प्रभाव में आ चुका था। जिस प्रकार उत्तरी भारत में कहीं-कहीं एक तिहाई मुसलमान हैं उसी प्रकार ट्रावनकोर में एक तिहाई ईसाई हैं। मैं जब त्रिवेन्द्रम से बस पर कुमारी अन्तरीप को गया तो मार्ग में एक भी छोटा बड़ा ग्राम ऐसा न था, जहाँ कोई ईसाई गिरजा न हो। प्रान्त के सभी विद्यालय, हाई स्कूल, साधारण स्कूल या कालेज ईसाइयों के पाये।

यह तो समझ में नहीं आता कि आर्य और द्राविड़ में आदिकाल से मौलिक पृथकता है। चाहे तो ईसाई मुसलमानों के समान यह मानिये कि समस्त मानव जाति आदम और हव्वा की सन्तान हैं। चाहे आर्य्य समाजी सिद्धान्तानुसार यह मानिये कि आदि सृष्टि तिब्बत में हुई है और ब्रह्मवर्त देश से आर्य लोग फैल फैलकर भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों में विभक्त हो गये। चाहे डार्विन और अन्य विकास-वादियों के मतानुसार यह मानिये कि बन्दर के समान किसी पशु विशेष से उन्नति करते-करते मनुष्य बन गये। यह मानना ही पड़ेगा कि मूल में सब मनुष्य जातियाँ रक्त की अपेक्षा से सर्वथा अलग नहीं हैं। हां। यह हो सकता है कि किसी भौगोलिक, राज-

नीतिक या सामाजिक विप्लव के पश्चात् एक ही जाति की एक शाखा अलग होकर द्राविड़ कहलाने लगी। और पीछे से उसमें भिन्नता आ गई। ईसाई नीति के यह विरुद्ध था कि दक्षिण और उत्तर के हिन्दू अपने को एक समझें अतः उन्होंने आपस में मत भेद उत्पन्न कर दिया।

मैं जब त्रिवेन्द्रम् में गया तो वहाँ मैंने राज में एक विशेष विभाग देखा जिसको देवस्वम विभाग कहते हैं, वहाँ के मन्दिर इसी विभाग के आधीन हैं। मेरे व्याख्यान भी इसी विभाग के द्वारा कराये गये थे। इसका इतिहास इस प्रकार है। किसी शासक के समय में समस्त हिन्दू मन्दिर किसी कारण से राज के आधीन कर लिये गये थे। मन्दिरों की आय राज की आय थी और मन्दिरों का व्यय राज का व्यय था। ईसाइयों ने जिनकी गणना एक तिहाई हो चुकी थी यह माँग की कि ईसाई गिरजों के व्यय के लिये भी सरकार से धन मिलना चाहिये। धन प्रजा का है न कि सरकार का। ब्रिटिश सरकार ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। कुछ ईसाई यह भी चाहते थे कि भारत में हैदराबाद, टौंक, भूपाल आदि कुछ मुसलमानी रियासतें ही थीं परन्तु ईसाई रियासत एक भी न थी, यदि ईसाइयों की जनवृद्धि और प्रभाव वृद्धि का सम्पादन हो सके तो ट्रावनकोर को एक ईसाई रियासत बनाया जा सकेगा। इन स्वप्नों ने ईसाई मांग को और भी प्राबल्य प्रदान कर दिया। और हिन्दू राज्य के लिये यह एक गम्भीर समस्या बन गई। खोज से पता चला कि पिछले किसी युग में मन्दिरों की दुर्व्यवस्था देखकर किसी शासक ने मन्दिरों की सब जायादादें जब्त कर ली थीं। और इसलिये मन्दिरों को उन्हीं जायदादों की आय से व्यय का धन दिया जाता था। मन्दिरों का व्यय राज की वास्तविक आय से नहीं होता था। अब पक्षपात के आक्षेप से बचने

के लिये मन्दिरों की जायदाद राज से अलग करके उनके प्रबन्ध के लिये एक अलग विभाग बना दिया गया जिसको देवस्वम-विभाग कहते हैं और जिसका रुपया हिन्दू संस्कृति के उत्थान में लगता है। इस प्रकार हिन्दुओं की जायदाद तो ईसाइयों के हाथ से बच गई परन्तु पौराणिक दृष्टि कोण तो वैसा का वैसा ही है। ब्राह्मण लोग अछूत जाति से इतनी घृणा करते थे कि उन्हें उन गलियों में चलने का भी निषेध था जिनपर ब्राह्मण चल सकते थे। अछूतों की परछाईं भी अस्पृश्य थी और उनका दीख पड़ना भी पातक का कारण था। स्पृश्य अस्पृश्य का भेद उत्तरी भारत में भी है। परन्तु दक्षिण में तो यह भेद पराकाष्ठा को पहुँच गया है। कालीकट के मन्दिर के विषय में मैंने एक अनोखी बात सुनी। मुझे बताया गया कि इस गली में मन्दिर होने के कारण भंगी नहीं आ सकता, परन्तु ईसाई आ सकता है। अतः काथोलिक पादरी लोग भंगियों को क्रास बांट देते थे। क्रास को पहन कर भंगी हिन्दू भंगी नहीं रहता था अपितु ईसाई हो जाता था। ईसाई उस दर्जे के अस्पृष्य नहीं थे अतः उस गली में जा सकते थे। हिन्दू ब्राह्मणों के अत्याचार और भेद भाव की अनेक अद्भुत कहानियाँ हैं जिन्होंने ईसाईयों की उन्नति और हिन्दुओ के ह्रास में विशेष सहायता दी।

जब मैं मदुरा में था तो मुझे बताया गया कि वहाँ निम्न श्रेणी की लड़कियों के पढ़ाने के लिये केवल ईसाइयों के स्कूल थे। लड़कियाँ पढ़कर ईसाई हो जाती थीं और अपनी जाति के नवयुवकों को कहती थीं कि यदि तुम हमसे विवाह करना चाहते हो तो तुम भी ईसाई हो जाओ। कुछ दिनों पीछे हिन्दुओं ने शोर मचाया कि जब इन स्कूलों को सरकार से सहायता मिलती है तो ईसाइयों को बाधित किया जाय कि वे नाबालिग लड़कियों को ईसाई न बनाया करें। सरकार ने

इस बात को स्वीकार कर लिया। और ईसाई पादरी राज़ी हो गये। उन्होंने आज्ञा निकाल दी कि कोई लड़की स्कूल में पढ़ने वाली ईसाई न बनाई जा सकेगी। परन्तु यह तो रोग का कच्चा और दिखावे का उपाय था। लड़कियाँ ईसाई उस्तानियों के प्रभाव में पक्की ईसाई हो जाती थीं। केवल विधि के अनुसार बपतिस्मे की कसर रहती थी। बालिग़ होने पर वह ईसाई बन जाती। इस प्रकार गाँव के गाँव ईसाई हो गये।

मुसल्मानों का भी दक्षिण में कुछ कम ज़ोर न देखा। हिन्दुओं में जब दो भाग हुये एक ब्राह्मण और दूसरे ब्राह्मणेतर, तो मुसल्मानों ने अपने को ब्राह्मणेतर बताकर ब्राह्मणेतर लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर ली। यही कारण था कि कालीकट के निकट मौपलों का इतना बल था। मौपलों के पड़ोस में रहने वाले हिन्दू थर-थर काँपते थे। हिन्दू ब्राह्मण अपने को इतना पवित्र समझते थे कि अपने अस्पृश्य भाइयों की सहानुभूति भी उनको अपवित्र करने के लिये पर्याप्त थी।

वैदिक धर्म के प्रचारकों को इस प्रकार की बहुत सी अड़चनें हैं। मौपला फ़िसाद के दिनों में उत्तर से इनकी सहायतार्थ बहुत सा धन भेजा गया। धन के लोभ में कुछ चालाक आर्य्य बन गये। और उत्तर की संस्थाओं से रुपया खाते रहे। मुझे ट्रावनकोर में एक साधु मिले। वहाँ यह प्रसिद्ध था कि वे आर्य्य सामाजिक हैं। मैंने उनसे पूछा तो ज्ञात हुआ कि अब तो न समाज है न हवन होता है। क्योंकि उत्तर से रुपया आना बन्द हो गया है। उनका आशय यह था कि मैं फिर उत्तर से रुपया भिजवाना जारी कर दूँ तो समाज का काम चलने लगे।

फिर भी दक्षिण में कई स्थानों पर आर्य्य समाज का बीज बोया जा चुका है।

दक्षिण प्रान्तीय आर्य सम्मेलन

जब मैं शोलापुर के उपदेशक विद्यालय में था तो मैंने आवश्यक समझा कि दक्षिण प्रान्त की एक प्रतिनिधि सभा बना देनी चाहिये। क्योंकि कुछ समाजें दक्षिणी किनारा के कन्नड़ भाषी प्रान्त में थी। कुछ मैसूर प्रान्त में। यह समस्त प्रान्त कन्नड़ है। समाज के आदि काल में स्वामी नित्यानन्द जी ने मैसूर प्रान्त में कुछ काम किया था और मैसूर के राजा के ऊपर भी उनका प्रभाव था। केरल में कुछ सामाजिक लोग थे। मद्रास में तो नियमानुसार समाज था ही यद्यपि मन्दिर न होने के कारण "चाइना बाजार" के एक किराये के मकान में समाज लगता था। आंध्र में कुछ समाज स्थापित हुये थे। संभावना थी कि यदि बीस पच्चीस समाज हो जायं तो सार्वदेशिक सभा की सहायता से एक छोटी सी प्रतिनिधि सभा स्थापित हो सकती है। मंगलौर, बंगलौर, तनाली तथा दो एक और स्थानों पर सार्वदेशिक सभा की ओर से वैतनिक प्रचारक भी नियत थे। मैं चाहता था कि हैदराबाद सत्याग्रह की सफलता से यथाशक्ति लाभ उठाया जाय।

उन्हीं दिनों एक सुअवसर भी प्राप्त हो गया। हिन्दू महा सभा के अखिल भारतीय महासम्मेलन का १९४० ई० का अधिवेशन मदुरा में नियत हुआ। मैं उस समय शोलापुर के विद्यालय के काम को समेट रहा था। मैंने मद्रास के आर्य भाइयों से मिलकर यह निश्चित किया कि मदुरा में उसी अवसर पर साथ-साथ दक्षिण प्रान्तीय प्रथम आर्य महा सम्मेलन करना

चाहिये। लोगों को यह प्रस्ताव प्रिय लगा और इसके सम्पादन के लिये सार्वदेशिक सभा ने श्री शिवचन्द्र जी की सेवायें मेरे हवाले कर दीं। श्री शिवचन्द्र जी मदुरा पहुँच गये और सम्मेलन की तैयारी में जुट गये। उनके उद्योग से कुछ सहानुभूति भी प्राप्त हो गई। मैं ८ या ९ दिसम्बर को मद्रास होता हुआ जब मदुरा पहुँचा तो देखा कि कार्य तीव्रता से हो रहा है। उन दिनों मेरे ही प्रस्ताव पर श्री नारायण स्वामी जी महाराज दक्षिण के भ्रमण पर निकले। मद्रास, कालीकट, बंगलौर आदि सभी बड़े-बड़े स्थानों पर उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। मदुरा सम्मेलन के सभापति भी वही निर्वाचित हुये। हिन्दू सभा के सभापति थे श्री वीर विनायक सावरकर। मदुरा में उत्तर से श्री लाला नारायण दत्त, श्री महाशय कृष्ण आदि कई आर्य नेता भी सम्मिलित हुये थे। सम्मेलन में दक्षिण के सभी कार्यकर्ताओं और समाज के अधिकारियों को निमंत्रित किया गया था। उसी अवसर पर दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित की गई जिसके पहले प्रधान बने श्री गोपदेव जी और मद्रास के श्री कृष्ण राव जी मंत्री। श्री शिवचन्द्र जी के उद्योग से मदुरा में आर्य समाज भी स्थापित हो गया और शिवचन्द्र जी ने मदुरा को अपना हेड क्वार्टर बनाया।

१९४० ई० के इस उत्सव के पश्चात् सार्वदेशिक सभा के अधिकारियों में कुछ परिवर्तन हुआ। कार्य का समस्त ढाँचा बदल गया, रीति और नीति में आमूल परिवर्तन हुआ। नया कार्यक्रम बनाया गया। उन्हीं दिनों मुझे आर्य्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त का प्रधान चुन लिया गया। और शनैः २ दक्षिण प्रचार की बागडोर अन्य हाथों में चली गई।

दक्षिण प्रान्तीय आर्य्य प्रतिनिधि सभा की उन्नति में मेरे सामने एक व्यवहारिक कठिनाई यह अनुभव हुई कि मद्रास

वस्तुतः एक प्रान्त नहीं है, अपितु चार बेजोड़ प्रान्तों का एक बेतुका सम्मिश्रण है। अर्थात् पूर्वीघाट के किनारे किनारे उड़ीसा से लेकर मद्रास के उत्तर तक एक भाग जिसे आंध्र कहते हैं। यह पश्चिम में हैदराबाद तक फैला हुआ है। वरंगल आदि हैदराबादी जिले भी आंध्र हैं। दूसरा कन्नड़ देश जिसमें बीजापुर आदि स्थान हैं। मद्रास के दक्षिण में है तामिलनाड और फिर आगे दक्षिणी भाग केरल है जहाँ की भाषा मैलेआलम कहलाती हैं। इन चारों प्रान्तों की प्रान्तीय भावनायें अलग अलग हैं। यद्यपि आर्य समाजी भाई इस प्रान्तीयता से ऊपर उठने की शिक्षा पाते हैं फिर भी पुराने संस्कार सुगमता से नहीं छूटते। मैं यत्न करता था कि आर्यों में यह भाव न रहे। परन्तु जो बात मुझे १९४० ई० में भासती थी वह १९५३ ई० में स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् आंध्र-तामील कलह ने अधिक स्पष्ट कर दी है। आज मद्रास टुकड़े-टुकड़े हो रहा है। आर्य समाज के लिये भी यह एक समस्या है। इन प्रान्तों में आर्य समाज की अवस्था एक दूध पिये बच्चे से अधिक नहीं है। न यह अपने पैरों चल सकता है। न इनको गोद में उठा कर चलाने के लिये कोई उद्यत है, इन तेरह वर्षों में इस विषय में कुछ विशेष उन्नति नहीं हुई। और यदि हुई है तो मुझको इसकी पूरी सूचना नहीं है। आंध्र प्रान्त मद्रास से अलग हो गया है। श्री मदन मोहन विद्यासागर और श्री गोपदेवजी हैदराबाद में कार्य करने लगे हैं। दक्षिण भारत प्रतिनिधि सभा दो तीन सम्मेलन करने के पश्चात् या तो मर गई या अत्यन्त रोगिणी है। मद्रास समाज का अपना मन्दिर अवश्य बन गया है जो आद्यप्पा नायक स्ट्रीट में है। केशवदेव ज्ञानी जी बहुत खिन्न हुये मद्रास छोड़कर बनारस आ गये हैं। श्री एम० बी० शर्मा का देहान्त हो चुका है। आशा रखनी चाहिये कि मद्रास में कोई नये साधन उपस्थित हो जायं।

संयुक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा की प्रधानता

संगच्छध्वम्—साथ चलो।
संवदध्वम्—साथ बोलो।
संवो मनांसि जानताम्—साथ सोचो।

यह हैं ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के महावाक्य। यह हैं समाज निर्माण के मूल मंत्र। यह हैं समाज की स्वस्थता के मुख्य साधन। यह है मानवी जीवन की सफलता की मास्टर कुँजी।

यह सिद्धान्त जितना सर्वसम्मत है उतना ही कठिन भी है। साँस लेना भी तो अत्यन्त सुगम है। परन्तु प्राणायाम तो अत्यन्त कठिन साधन है।

ऋषि दयानन्द ने इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर मठ नहीं खोला। गुरुपरम्परा की नीव नहीं डाली। अपितु समाज स्थापित किया और इसके सुचारु रूप से संचालन के लिये आर्य्य समाज के नियमों में दो अन्तिम नियम बनाये जो ऋग्वेदीय अन्तिम महावाक्यों के समान अन्तिम महानियम हैं। यदि पातंजलि मुनि की भाषा का अनुकरण करें तो कहा जा सकता है कि यदि पहले आठ नियम 'यम' और "नियम" हैं तो पिछले नवें और दसवें नियम "संयम" हैं।

सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक सहस्रों सभायें, सहस्रों समाज, सहस्रों राष्ट्र बने। उनके जन्म और जीवन का प्रेरक थे यही दो नियम और उनके नाश का कारण हुआ इन्हीं

दो नियमों का उल्लङ्घन। प्राणि की किन नैसर्गिक शक्तियों के ऊपर इन नियमों की आधार शिला रक्खी गई है और इनकी साक्षी के लिये इतिहास की कौन-कौन सी मुख्य घटनायें दी जा सकती हैं उन पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। हम यहाँ अधिक न कहकर केवल इन नियमों को ही उद्धृत करते हैं।

आर्य्य समाज का नवाँ नियम :—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

आर्य्य समाज का दसवाँ नियम :—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

संयुक्त प्रान्तीय आर्य्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना २९ दिसम्बर १८८६ ई० को इस प्रान्त के आर्य्य समाजों को सुसंगठित करने के अभिप्राय से हुई थी। आरम्भ में इसकी उपयोगिता को केवल संचालक ही समझते थे। सर्वसाधारण की दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जा सकती थी।

जब १९०४ में मैं बिजनौर गया था तो वहाँ सभा के सम्बन्ध में दो मत थे। समाज के प्रधान श्री बाबू धरणीधरदास जी, जिनका ऊपर मेरी पत्नी जी के यज्ञोपवीत संस्कार में उल्लेख आ चुका है, इस पक्ष में थे कि समाज के नवक्रीत भवन को सभा के नाम कर देना चाहिये। आर्य समाज के अन्य प्रमुख सदस्य इसके विरुद्ध थे। मैंने इस विषय में कोई गंभीर विचार नहीं किया था। परन्तु अन्य कई कारणों या प्रवृत्तियों के कारण मेरा झुकाव दूसरा मत रखने वालों की ओर था।

इस प्रवृत्ति के तीन मुख्य कारण थे। पहला यह कि बिजनौर आदि जिले पंजाब और संयुक्त प्रान्त के बोर्डर (सीमा)

पर हैं। पंजाब में समाज की प्रगति तीव्र थी। पंजाबी नेताओं की इस प्रान्त पर भी धाक थी। पं० लेखराम जी बिजनौर में कई बार आये थे। और अन्य पंजाबी उपदेशक भी बिजनौर को सुगमता से उपलब्ध हो जाते थे। अतः यहाँ के आर्य समाजियों को अपने प्रान्त की सभा की कुछ परवाह नहीं थी। उनके उत्सवों की माँग पूरी हो जाती थी।

दूसरा यह भी कारण था कि संयुक्तप्रान्त की सभा के मुख्य उपदेशक तथा विद्वान सब का छुआ खाने में परहेज करते थे। बिजनौर समाज के कार्यकर्ता इस बात को गर्हित समझते थे। और इनका अपमान सूचक 'स्वयंपाकी' नाम रख छोड़ा था। इनकी विद्वत्ता की ओर समाज वालों का इतना ध्यान नहीं था जितना इनकी निर्बलता की ओर। उनकी इस निर्बलता के भी कारण थे। दोनों प्रान्तों की परिस्थिति पृथक्-पृथक् थी। यह लोग अपनी जाति, बिरादरी या घरों का परित्याग करके तो आये न थे। पुरानी रूढ़ियों को तोड़ना आसान न था। साधारण कारबार में भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती थीं। पंजाब में इस प्रकार की बाधायें न थीं।

तीसरी एक आकस्मिक दुर्भाग्य पूर्ण घटना हो गई थी। जो बिजनौर के लिये ही विशिष्ट थी। वह थी तो वैयक्तिक परन्तु उसने समाज की नीति पर प्रभाव डाल रक्खा था। नहटौर के तगा (त्यागी) परिवार का आर्य समाज से विशेष हित था। यह सम्पन्न भी थे और आर्य समाज के भी भक्त थे। जिन दिनों मैं वहाँ पहुँचा उस परिवार में मुकद्दमें बाजी चल पड़ी। घरेलू जायदाद पर। जिस शाखा का बिजनौर के नगर समाज पर प्रभाव था उसके विपक्षी संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा से भी सम्बद्ध थे। घरेलू झगड़े घर तक ही सीमित नहीं रह सके। परिवार के टुकड़े हुये। सम्बन्धियों के

टुकड़े हुये। इष्ट मित्रों के टुकड़े हुये और समाज के भी टुकड़े हुये। बिजनौर के जिले में आर्य समाज का बहुत बड़ा प्रचार था। गाँव-गाँव में समाज थे परन्तु इस विपत्ति ने समस्त ज़िले की समाजों पर प्रभाव डाला और समाज आगे बढ़ने से रुक गया।

परन्तु पिछले दो कारण हैं गौण। वह समय पाकर समाप्त हो गये। पहला कारण पहले भी था और आज भी है। "जिसे मिले यों, वह खेती करे क्यों?" जिसको बाहर की सहायता सुगमता से प्राप्त हो वह घर में उद्योग क्यों करे? यही कारण है पंजाब और उत्तर प्रदेश के सीमा प्रान्तों में जैसे बिजनौर, सहारनपुर, मेरठ, बुलन्दशहर में सामाजिक लोग सबसे अधिक हैं और उनका उस अनुपात से अपने प्रान्त की सभा को सहयोग प्राप्त नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहां के आर्यों को वैदिक धर्म या स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धा कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने मानवी प्रकृति के उन सूक्ष्म तत्वों को नहीं समझा है जो आर्य समाज के पिछले दो नियमों में निहित हैं। यह विकास कठिन है। देर में आता है। और कभी कभी देर में भी नहीं आता और इसी के कारण संस्थायें आश्चर्यजनक उन्नति करने के पश्चात् भी सूख जाती है।

परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

या यों कहिये:—

सूक्ष्म-प्रिया देवा स्थूल-द्विषः।

मेरा प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा से कुछ कुछ सम्बन्ध १९१७ में हुआ जब मुझे सभा की अन्तरङ्ग का सदस्य बना लिया गया। उस समय से अब तक यह सम्बन्ध चला आता है। इस बीच में

में मेरा और सभा के संचालकों का कभी नर्म मतभेद, कभी घोर विरोध, कभी घनिष्ठ सहयोग और कभी साधारण सम्बन्ध भी रहा परन्तु सम्पर्क बना रहा और एक अर्थ में तो इसको अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध ही कहना चाहिये। अर्थात् मैंने कभी इसके विषय में सोचना कम नहीं किया।

यार से छेड़ चली जाय असद
गर नहीं वस्ल तो हसरत ही सही।

इस बीच में एक बार सभा का उपमंत्री रहा। उपप्रधान तो कई बार बना, दो तीन बार प्रधान बनाने का प्रसङ्ग चला। परन्तु मैं तैयार न था। मेरी धारणा थी कि समाज के प्रधान को अपनी समस्त शक्तियां सभा पर ही केन्द्रित करनी चाहिये। मैं ऐसा करना अपने लिये असम्भव समझता था अतः कतरा जाता था। एक बार जब इलाहाबाद में सभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ तो कई मित्रों के आग्रह पर मैं तैयार हो गया। यद्यपि मेरा जी नहीं चाहता था। अकस्मात् बिल्ली के भाग्य से छींका टूट पड़ा। श्री मदन मोहन जी सेठ ठीक निर्वाचन के समय दृश्य पटल पर आ प्रकट हुये और मैं बालबाल बच गया।

जब शोलापुर का विद्यालय चल रहा था और श्री राजगुरु जी प्रधान थे उन दिनों कुछ ऐसी परिस्थिति आ गई की श्री राजगुरुजी ने अन्तरंग में अपना त्याग-पत्र उपस्थित कर दिया। और बिना मुझे पहले से सूचित किये हुये समस्त अन्तरङ्ग सभा मुझे प्रधान पद स्वीकार करने के लिये बाधित करने लगी। परन्तु मेरी धारणायें ऐसी ढीली नहीं होती कि आकस्मिक दबाव सुगमता से पड़ सकें! मैं तैयार नहीं हुआ और श्री सेठ जी को इच्छा के विरुद्ध भी सभा के प्रधानत्व का भार लेना पड़ा।

१९४१ ई० के अधिवेशन में जब मैं दक्षिणी भारत के भ्रमण

से लौटा तो मेरे कुछ मित्रों का फिर प्रस्ताव हुआ। अब की मैं राजी हो गया। इतना ही नहीं। भीतर से भी कुछ इच्छा हुई कि सभा की प्रधानता का भी मीठा और कड़वा मजा चखना चाहिये। मैं प्रधान हो गया और मैंने देखा कि मैं समाज की अपेक्षा से "*प्रान्तपति*" हूँ। गृहपति तो मैं दस वर्ष की अवस्था से था जब कि मेरे पिता बिना नियमानुसार 'दस्तार-बन्दी' किये हुये संसार से अचानक सिधार चुके थे। और मेरी माता को मेरी 'रीजैंसी' (regency) करनी पड़ी थी। आज अपने को 'प्रान्तपति' पाकर मुझे हर्ष भी हुआ और अभिमान भी। मैं स्पष्ट कह दूँ कि मैं 'पहुँचा हुआ सन्त' नहीं हूँ। साधारण मनुष्य हूँ और साधारण मनोवृत्तियों का दास भी।

परन्तु क्षण भर पश्चात् ही पदवी का मिठास जाता रहा और मुझे अनुभव होने लगा कि

Uneasy lies the head that wears the crown.

किरीटो राजते यत्र, न शेते तच्छिरः सुखम्।

मैंने निश्चय कर लिया कि समस्त शक्ति से सभा की सेवा करूँगा। मुझे घर का कोई काम न था। नौकरी छोड़ चुका था। प्रोविडेण्ट फाण्ड के ७०००) मिल चुके थे। ब्राह्मण को केवल तीन दिन के भोजन की चिन्ता होनी चाहिये। मेरे पास तो तीन वर्षों का भोजन था। मैंने तन और मन दोनों सभा के अर्पण कर दिये। धन भी अर्पण कर देता परन्तु उस अवस्था में तन और मन से काम लेना कठिन हो जाता। जब मैं नौकरी छोड़ कर सार्वदेशिक सभा में गया था उस समय वहाँ के अधिकारी मित्रों की यह धारणा थी कि मेरे निर्वाह का भार सभा को लेना चाहिये। उस समय के कोषाध्यक्ष श्री लाला नारायण दत्त जी ने १२००) का बजट भी प्रस्ताव कर दिया

था। मुझे जब ज्ञात हुआ तो मैंने उसके स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। श्री लाला नारायण दत्त जी कहने लगे, "आखिर रोटी भी तो खानी है।" मैंने हंसकर उत्तर दे दिया, "जब भूख लगा करेगी आप के घर खा जाया करूँगा।"।

१९१७ ई० में जब मैं सभा में प्रथम गया तो वह सभा का सुनहरा युग था। वृन्दावन गुरुकुल अच्छा फूल फल रहा था। स्नातकों की पहली खेप निकलने वाली थी जिसके पहले पुष्प थे श्री पं० द्विजेन्द्र नाथ जी वेद शिरोमणि और श्री धर्मेन्द्रनाथ जी जी तर्क शिरोमणि। इनके व्याख्यानों पर जनता मुग्ध थी। हजारों यात्री वृन्दावन के उत्सव में सम्मिलित होते थे और चन्दा भी पुष्कल परिमाण में इकट्ठा होता था। परन्तु मुझे पहले दिन के ही ढंग देखकर यह लगता था कि यह चार दिन की चाँदनी है। शीघ्र ही अंधेरा पाख आरम्भ होने वाला है। मैं था तो एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति। फिर यह धारणा मेरी कैसे बनी? इस पर विचार करना है।

पहली बात जो मैंने देखी यह थी कि गुरुकुल वृन्दावन सभा का नहीं था अपितु सभा गुरुकुल वृन्दावन की थी। विधान तो यह था कि प्रतिनिधि सभा प्रांत की एक शिरोमणि सभा है जिसके अन्यान्य काम हैं और उसी की एक संस्था गुरुकुल वृंदावन है। परन्तु ध्रुव सत्य यह था कि सभा का शत प्रतिशतक श्रम गुरुकुल के ऊपर केन्द्रित था। सभा के उत्सव गुरुकुल में ही होते थे। सभा का निर्वाचन गुरुकुल की समस्याओं को लेकर ही होता था। जिस अधिकारी को गिराना होता उसके विरुद्ध केवल एक आक्षेप पर्याप्त था कि उसके प्रबन्ध में गुरुकुल का अमुक काम सन्तोष-जनक नहीं हुआ। सभा में अनेक ऐसे भी सदस्य थे जो अन्य

कामों में अधिक रुचिक रखते थे और गुरुकुल की ओर से उदासीन थे। परन्तु सभा की नीति थी केवल गुरुकुल के आधार पर ही अन्य विषयों की महत्ता को परखना। यह बात नहीं थी कि मुझे गुरुकुल से प्रेम न था। उस युग में जिस प्रकार की श्रद्धा समस्त आर्य्य जगत् की थी, उसी प्रकार की मेरी भी थी। परन्तु एक बड़ा भारी भेद था जिस पर अन्य लोगों की दृष्टि नहीं जाती थी। मैं सोचता था कि मूल को सींचने से शाखायें और फूल पत्ते सब हरे-भरे रहते हैं। लेकिन जो शाखाओं को सींचता है उसकी मूल भी सूखती है और शाखाओं को तो सूखना पड़ेगा ही। सभा के अंतर्गत समाजों के भव्य भवन थे। सभा के पास झोपड़ा भी नहीं था। यह प्रस्ताव हो रहा था कि सभा के कार्यालय को लाकर गुरुकुल के ही एक कमरे में रख दिया जाय। जहाँ का मंत्री बनता था वह सभा के कार्यालय को भी अपने साथ ले जाता था। जब मैं उपमंत्री बना तो मंत्री बने ठाकुर गदाधरसिंह जी। वह थे गाजीपुर के पोष्टमास्टर। प्रधान थे श्री कुँवर हुक्मसिंह जी। यह आगरे से कार्यालय उठाकर अपने ग्राम "आँगई" में ले गये जो मथुरा के ज़िले में एक छोटा सा गाँव था। जब सभा ने यह निश्चित किया कि कार्यालय मेरे पास प्रयाग में रहे तो कुछ बोरे भर के प्रयाग भेज दिये गये। कोई क्लर्क न मिला। मैंने सुझाव किया कि गुरुकुल के प्रबंध के लिये एक अलग उपसभा बनाई जाय जो शत-प्रतिशतक ध्यान गुरुकुल की ओर लगाये और सभा की प्रगति विश्वतोमुखी हो।

दूसरी बात मैंने यह देखी कि सभा को न तो भौगोलिक केन्द्रता प्राप्त थी न मानसिक। उत्तर प्रदेश एक बड़ा प्रदेश है। विहार उसकी पूर्वी सीमा है। पंजाब पश्चिमी। वृन्दावन एक सिरे पर था। केवल गुरुकुल में ही उत्सव करने से पूर्व की

समाजों की पहुँच न थी या कम थी। सभा उनके प्रति उदासीन थी और वे सभा के प्रति।

तीसरे यह कि सभा के स्थायी भवन की अत्यन्त आवश्यकता थी, जब मैंने अपने विचार मित्र मंडली के समक्ष रक्खे तो प्रथम तो लोगों को मेरे ऊपर कुछ संदेह सा हुआ। परन्तु पहले तो १७ सदस्यों की एक गुरुकुल उपसमिति बना दी गई। दूसरे, सभा के वार्षिक अधिवेशन भी प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों में होने लगे और पूर्व की समाजों को भी अनुभव होने लगा कि अब हमारी भी कोई सभा है जिस पर हमारा स्वत्व हो सकता है। इलाहाबाद के अधिवेशन में मेरे ही प्रस्ताव पर यह भी निश्चित हुआ कि सभा का भवन लखनऊ में मनाया जाय। उन दिनों एक दुर्घटना भी हो गई थी जिसने सभा के अधिकारियों की मनोवृत्ति के बदलने में सहायता दी। जब फतेहपुर के श्री बाबू उमाशंकर जी मंत्री थे और सभा का कार्यालय फतेहपुर में था तो किसी समाज के विरोधी ने कार्यालय में आग लगा दी और कई पुरानी फायलें जल गईं। उस कारण से भी आवश्यक समझा गया कि सभा का एक स्थायी कार्यालय होना चाहिये। गुरुकुल पंजाब में था अर्थात् कांगड़ी। यह बड़ा गुरुकुल था और पंजाब प्रतिनिधि सभा के ही आधीन था। परन्तु पंजाब सभा का कार्यालय लहौर में 'गुरुदत्त भवन' के नाम से अलग था। एक गौरवान्वित पुस्तकालय था। और भवन भी विशाल था। मैं चाहता था कि सभा का कार्यालय भी ऐसा ही हो। कार्यालय निर्माण का काम आरंभ हुआ अपील की गई तो दस बारह सहस्र रुपया आया। श्री पं० रामचन्द्र शर्मा ने जिनकी बंदरिया बाग लखनऊ में एक बड़ी कोठी 'आशोक भवन' कहलती है और जो उस समय सभा के कोषाध्यक्ष थे सन् १९३९ में हिल्टन रोड पर (मीराबाई मार्ग)

५ नं० की कोठी सैंतीस हजार ३७०००) रुपया लगाकर सभा के लिये खरीद करली और शेष रुपया अपने पास से ऋण स्वरूप दे दिया। श्री सेठ जी की कोशिशों से कुछ ऋण चुकाया गया जब मैंने प्रधान पद ग्रहण किया तो सभा पर पौने अठारह हजार रुपये ऋण थे। श्री रामचन्द्र जी की मृत्यु हो जाने के कारण उनकी पत्नीजी ने ऋण चुकाने के लिये आग्रह किया। श्री डाक्टर बाबूराम जी जब सत्याग्रह के दिनों में कार्यकर्त्ता प्रधान थे तो उन्होंने आवश्यकता समझकर सभा का कार्यालय इसी कोठी में बुला लिया था और काम चलने लगा था। परन्तु ऋण तो देना ही था। ऋण के इतने दिनों न चुकने का मुख्य कारण यह था कि समाजों को सभा के भवन की परवाह न थी। उनमें से बहुत से समाज तो यह समझते थे कि सभा का भवन न बने तो ही भला। कुछ का यह भी प्रस्ताव था कि कोठी बेचकर ऋण चुका दिया जाय क्योंकि कोठी के ५१०००) रुपये मिलते थे। मुझे भय था कि जो सभा १८०००) हजार ऋण नहीं चुक सकती वह नई भूमि कैसे ले सकेगी। भूमियों के दाम दिन पर दिन चढ़ते जा रहे थे। बचे हुये ३४०००) तो सभा के के दैनिक काम में तुरन्त ही समाप्त हो जायेंगे। अतः मैंने दृढ़-संकल्प किया कि किसी प्रकार सभा भवन का ऋण चुकाना चाहिये।

पहले दो तीन मास तो योजनायें बनाने में ही व्यतीत हो गये। पत्रों में लिखने से कुछ काम निकलता दिखाई न दिया। अन्त में सभा के एक लेखक श्री राज बहादुर जी को साथ लेकर मैं भ्रमणार्थ निकल पड़ा। इस भ्रमण का उद्देश्य धन इकट्ठा करना तो था ही इसके साथ ही समाजों के अधिकारियों से साक्षात्कार करना, स्थानों पर जा जाकर समाजों की प्रगति को देखना और सभासदों से विचार विनिमय करना भी था।

शनैः-शनैः सफलता की पौ फटती दिखाई दी। कुछ प्रकाश दृष्ट पड़ने लगा। सहयोगियों ने सहयोग दिया। तीन वर्ष में मैंने ढाई सौ से ऊपर समाजों को देखा और तीसरे वर्ष के अन्त तक ऋण चुका दिया गया। चार वर्ष के उपरान्त जब मैंने प्रधान पद छोड़ा तो २५०००) रु० इकट्ठा हो चुके थे और अठारह हजार का ऋण चुकाने के पश्चात् सात हजार सभा के कोष में भवन के मद्द जमा थे। मुझे अब सन्तोष हो गया कि अपेक्षतः सभा भवन लगभग स्थायी सा हो गया। यह धारणा ठीक ही थी क्योंकि उस दिन के पश्चात् किसी ओर से यह आवाज नहीं उठी कि सभा भवन को वेच दिया जाय। मेरे पीछे एक विशाल यज्ञशाला बन चुकी है और कुछ मकानात भी बढ़ गये हैं। मेरे इस आदोलन में आचार्य वृहस्पति जी, बाबू कालीचरण जी तथा कुछ और सज्जन भी लगातार साथ देते रहे और सभा के प्रचारक ठा० श्रवण सिंह जी तथा गजराज सिंह जी ने निरन्तर भ्रमणावस्था में मेरी सहायता की। भ्रमण में मैंने छोटे-छोटे ग्राम भी देखे और बड़े-बड़े कस्बे तथा नगर भी। जहाँ आशा अधिक थी वहाँ निराशा हुई। जहाँ आशा न थी वहाँ आशा से अधिक सहायता मिली। इतने बड़े प्रदेश के लिये १७ हजार जमा करना कुछ महीनों का ही काम था। और लोग शायद हंसें कि मुझे इसके इकट्ठा करने में इतने दिनों कैसे लग गये। इसकी विवेचना मैं यहाँ नहीं करूँगा। इतना कहना पर्याप्त है कि हमारी शक्तियाँ बिखरी हुई हैं। आर्य समाजी होते हुये भी हैं तो हम उसी भारतवर्ष के निवासी जो कई सहस्रवर्ष से आन्तरिक विभिन्नता का रोगी रहा है।

यह तो हुआ केवल सभा भवन का प्रश्न। अन्य काम पूर्ववत् चलते रहे। विशेष बात नीति की है। जिसका कुछ उल्लेख भविष्य में काम करने वालों के विचारार्थ आवश्यक प्रतीत

होता है। मेरा और अन्य सहयोगी मित्रों का मुख्य नैतिक मत-भेद यह है कि मैं केन्द्रीयकरण (Centralisation) का पक्षपाती हूँ और दूसरे विकेन्द्रीयकरण (Decentralisation) के। दोनों के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। दोनों नीतियों के कुछ गुण हैं कुछ अवगुण। विकेन्द्रीयकरण में स्वातंत्र्य अधिक है, और केन्द्रीयकरण में अनुशासन अधिक। परन्तु इस सम्बंध में मेरा विचार यह है कि विकेन्द्रीयकरण की वहाँ अवश्यकता पड़ती है जहाँ केन्द्रीयकरण पूर्णतया सम्पुष्ट हो गया है। और उसके अति होने की आशांका है। यह ठीक है कि

प्राप्ते षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्

परन्तु यह नियम दो वर्ष के बच्चे के साथ तो बरता नहीं जा सकता। मुझे अपने भ्रमण में यह दृढ़ निश्चय हो गया कि सभा से जिस काम की आशा की जाती है उसका सम्पादन होना सर्वथा असम्भव है जब तक केन्द्रीयकरण पर बल न दिया जाय।

इसके लिये मैंने दो बातें सोचीं। प्रथम तो यह कि प्रबन्ध और प्रचार की सीमाओं पर विचार किया जाय। सभा के जो वार्षिक अधिवेशन होते हैं वह अधिकारियों के चुनाव, बजट-निर्माण और कुछ वैधानिक समस्याओं का समाधान करने के लिये। उनके अवसर पर न तो सार्वजनिक सभायें की जा सकती हैं न लोग उपदेश सुनने के इच्छुक होते हैं। उस समय मनोवृत्ति दूसरी होती है। अतः यह अधिवेशन सभाभवन में ही होने चाहियें। इनको स्थानिक आन्दोलनों के विष से बचाना चाहिये। साथ ही प्रचार को अधिक तीव्र करने के लिये प्रत्येक जिले में वार्षिक आर्य्य सम्मेलन किये जायँ जिनमें सभा के अधिकारी पूर्ण सहयोग दें। मेरे समय में कहीं-कहीं इस काम

को जारी कर दिया गया। सभा के सब अधिवेशन सभाभवन में ही हुआ करते थे। इसमें सभा का कुछ धन अवश्य व्यय हो जाता था परन्तु प्रदेश भर के प्रतिनिधि आकर देख जाते थे कि यह हमारा सभाभवन हैं। उससे सभा के साथ उनका सम्पर्क अधिक होता। अंगरेजी की लोकोक्ति है 'आउट आफ़ साईट आउट आफ़ माइन्ड, (Out of sight out of mind) अर्थात् जो आँख से दूर वह मन से दूर। कई लोगों की ओर से इसका विरोध होता रहा है। जब अधिवेशन किसी दूरस्थ स्थान पर होता है तो उससे वहाँ वालों को निर्वाचन में भी कुछ लाभ होता है। कोई नीति किसी प्रधान के ही चलाने से नहीं चल सकती जब तक अधिकाँश जनता उसका साथ न दे।

दूसरी बात मैंने यह देखी कि सभा के उदेशकों की कोई एक नीति न थी। इस रोग का उपाय मैंने यह सोचा कि वर्ष में एक बार एक सप्ताह के लिये सभा भवन में सभा के सब वैतनिक और कुछ अवैतनिक उपदेशक भी एक सम्मेलन किया करें। उनमें सैद्धान्तिक तथा नैतिक बातों पर परस्पर विचार विनिमय हो। यह सम्मेलन मेरे सामने कई वर्ष होता रहा। उसमें सभा का लगभग सात आठ सौ रुपया व्यय हो जाता था। परन्तु अधिकारियों और उपदेशकों के परस्पर साथ मिलने और विचार विनिमय करने एवं स्वयं उपदेशकों को संगठित करने के लिये यह एक अच्छा अवसर था। कुछ लोगों ने दो प्रकार से इसका विरोध किया। कुछ तो इस व्यय को अपव्यय कहते थे। मेरी दृष्टि में उनका विरोध दमड़ी बचाकर रुपयों की हानि करने के समान था। जो सभा प्रचार पर हजारों व्यय करती है वह उसकी नीति निर्धारित करने पर यदि थोड़ी सी राशि व्यय कर दे तो यह कभी भी अपव्यय नहीं समझा जा सकता। दूसरे लोगों का विरोध कुछ अधिक जटिल

था। इसको स्वार्थ-परायणता ही कहा जा सकता है। इसका खोलना व्यर्थ है। इस प्रकार मेरे पीछे जो अधिकारी आये उन्होंने यह प्रथा बन्द कर दी। इसका एक दुष्परिणाम तो यह हुआ। उपदेशकों ने अपनी भावनाओं को प्रकाशित करने के लिये अन्य संस्थाओं की नींव डाल ली। इससे सभा के अनुशासन में भेद पड़ा। कहा यह गया कि मेरा तजर्बा फेल हुआ। मेरी धारणा है कि इसमें अनुचित मितव्यय की इच्छा का दोष था।

फिर भी यदि इन दो तीन मत भेदों और नीति भेदों को भुला दिया जाय तो मैं कह सकता हूँ कि मुझे प्रान्त भर का सहयोग और सद्भावनायें उपलब्ध हुईं। यही कारण था कि साधारण तीन वर्ष की अवधि के व्यतीत होने पर भी मैं चौथे वर्ष असाधारण नियमानुसार सर्वसम्मति से प्रधान चुना गया। मेरा शत्रु तो कोई था ही नहीं। जो मित्र मुझसे मतभेद रखते थे वह भी मेरी निर्बलताओं की उपेक्षा करते थे। मैं चार वर्ष उस प्रान्तीय सेवा के काल को हर्ष, सन्तोष तथा धन्यवाद के साथ स्मरण करता हूँ। इसके पश्चात् भी कई बार कुछ मेरे मित्रों ने संकेत द्वारा यह इच्छा प्रकट की है कि मैं फिर प्रधान को स्वीकार कर लूँ। परन्तु मेरा उनका सैद्धान्तिक भेद है। मैं समझता हूँ कि किसी एक पद पर एक व्यक्ति का तीन चार वर्ष से अधिक रहना न उसके लिये शोभा देता है न सभा के लिये। सभा के लिये इसलिये नहीं कि इससे प्रकट होता है कि सभा के क्षेत्र में योग्य मनुष्यों की कमी है मनुष्य निर्माण का कार्य्य नहीं हो रहा। अतः लौट फेर कर वही आदमी बराबर आते रहते हैं। उसके लिये इसलिये नहीं कि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह दूसरे मनुष्यों को आगे बढ़ने में बाधक है। होना चाहिये साधक! तीसरी एक और भी बात है। जो सभा

के पदों पर कार्य कर चुके हैं उनको पदों से अलग-होकर संचालन पर अलग से एक विहंगम दृष्टि डालनी चाहिये। अब तक वह जल के भीतर थे अतः उनकी दृष्टि मत्स्य दृष्टि थी। पानी की लहरें इधर उधर से आकर टकराया करती थी। और उनकी दृष्टि इतनी संकुचित थी कि वह बाहर की बात नहीं सोच सकते थे। आवश्यकता है कि ऐसे लोग स्वतंत्र होकर संस्थाओं की चाल ढाल पर विचार करते रहें। जिससे निष्पक्ष होकर उनको समस्याओं की वास्तविकता का पता रहे। स्वामी सर्वदानन्द जी कहा करते थे कि जो सन्यासी और वानप्रस्थी सभाओं और संस्थाओं के संचालक बन जाते हैं उनमें सतोगुण की अपेक्षा रजोगुण प्रधान रहता है और वह आवश्यक समस्याओं पर समष्टि-परक दृष्टि नहीं डाल सकते।

———

सभा के प्रधान पर पहला लायेबिल केस

मैं इस पुस्तक में इस दुर्घटना का कभी उल्लेख न करता यदि इसका मौलिक नीति से सम्बन्ध न होता। यों तो जीवन में नित्य प्रति छोटी-छोटी बातें हुआ करती हैं। जीवन का पहिया घूमा ही करता है और उसका प्रत्येक भाग कभी ऊपर जाता है कभी नीचे। उसमें से प्रत्येक का उल्लेख किसी को लाभ नहीं देता। परन्तु इस अध्याय में जिस अभियोग का वर्णन है वह सभा की और समाजों की नीति का विशेष भाग है। मैं मौलिक प्रश्नों को चाहे वह छोटे ही हों बड़ी-बड़ी विपत्तियों से अधिक महत्व देता हूँ। विपत्तियाँ आती हैं और चली जाती हैं परंतु मौलिक प्रथायें तो मिटती नहीं। जिन यात्रियों ने एक सड़क बना दी वह सड़क उनके चले जाने के उपरान्त भी दूसरों के लिये बनी रहती है।

प्रतिनिधि सभा समाजों के प्रतिनिधियों की सभा है। प्रतिनिधि चुनने का पूर्ण अधिकार समाजों को प्राप्त है। जब समाजों के प्रतिनिधि चुने गये और उन प्रतिनिधियों ने सभा बनाई तो समाजों को उस सभा का माता मही कहना चाहिये। और जो संतान का अपनी मातामही के प्रति कर्तव्य होता है वह प्रतिनिधि सभा को भी करना चाहिये। यह है एक दृष्टिकोण।

दूसरा दृष्टि कोण यह है कि इतना तो ठीक है कि सभा का निर्माण समाजों के द्वारा होता है। परंतु वह प्रतिनिधि समाजों को बनाने, उनको अनुशासन में रखने और उनको

विपत्तियों से बचाने के लिये चुने जाते हैं। वहाँ उनकी स्थिति माता और पुत्र की जैसी नहीं होती। कल्पना कीजिये कि सौ समाजों ने अलग-अलग सौ प्रतिनिधि चुने। उनमें से हर एक प्रतिनिधि अपने-अपने समाज का निर्मापित है। समाज उसकी जननी है। उसका कर्तव्य है कि समाज की आज्ञाओं का पालन करे। परंतु जब वह सौ प्रतिनिधि *मिलकर* एक सभा बनाते हैं। तो हर प्रतिनिधि में शेष ९९ प्रतिनिधियों की शक्ति भी प्रवृष्टि हो जाती है। अब उसकी हैसियत सर्वथा बदल गई। वह अब उस नियत काल के लिये समाज का पुत्र नहीं अपितु समाज का शासक है। जो नई प्रतिनिधि सभा बनी वह शासक सभा है। वह शिरोमणि सभा है। शिर का मणि है पैर का छल्ला नहीं है। उसे प्रान्त भर की समाजों का गौरव प्राप्त है। यदि ऐसा न हो तो सभायें कोई काम नहीं कर सकतीं। यह प्रतिनिधि सेवक नहीं चुने जाते शासक चुने जाते हैं और हमारा कर्तव्य होता है कि उनको शासकों के अधिकार दें जिससे वह शासकों के कर्तव्यों का सुचार रूप से पालन कर सकें।

इन दो दृष्टिकोणों में मत भेद रहा है। अधिक लोगों को नहीं परंतु कुछ को। और उनके कारण सभा के कार्यों में बाधा पड़ती रही है। एक मोटा उदाहरण लीजिये। एक समाज में निर्वाचन पर झगड़ा हो गया। एक पार्टी को दूसरी पार्टी पर अन्याय की आशङ्का हुई। जो निर्वाचित अधिकारी हुये उन्होंने दूसरे पक्ष को दबाकर समाज पर स्वत्व रखना चाहा। ऐसा प्रायः नित्य हुआ करता है। जिस प्रान्त में एक सहस्र समाज हों वहाँ दस पाँच समाजों में इस प्रकार की घटना हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। इस झगड़े के निबटाने का एक ही मार्ग है। हारा हुआ दल सभा में नालिश करे। और सभा अनुसंधान के पश्चात् निश्चय कर दे कि अमुक दल

ने नियमों के विरुद्ध कार्य किया है। अतः उनको हट जाना चाहिये या पुनः निर्वाचन करना चाहिये। अब यदि समाज यह कहे कि हम तो सभा की मातामही हैं हमने सभा को जन्म दिया है न कि सभा ने हमको। सभा को यह अधिकार नहीं कि हमारे कार्यों में हस्तक्षेप करे तो इसका परिणाम अच्छा न होगा। और यदि वह दल जिसके विरुद्ध सभा ने निश्चय किया है सरकारी नियमों द्वारा अपने कुछ लोगों की पार्टी को रजिस्टर्ड करा ले और सभा से अलग होकर उसकी जायदाद पर स्वत्व करना चाहे तो आगे को कोई भी संगठित काम नहीं हो सकता। सभाओं को रजिस्टर्ड कराने का साधारण सा नियम यह है कि कोई सात व्यक्ति मिलकर नई संस्था बना सकते हैं और उसको रजिस्टर्ड करा सकते हैं।

जब मैं प्रधान था तो ऐसा ही हुआ। एक समाज के निर्वाचन में झगड़ा हुआ। जो पार्टी जीत गई उसने सभा के हस्तक्षेप से बचने के लिये झट से एक अलग रजिस्टरी करा ली। पुराने सभासदों को निकाल दिया और समाज के मन्दिर पर स्वत्व करना चाहा। अन्तरंग सभा में विषय आया तो सभा का यह निर्देश हुआ कि उनका ऐसा करना अनुचित है। इस प्रकार नियम भंग करने वालों पर अनुशासन की कार्यवाही की जाय और प्रधान को अधिकार दिया जाय कि वह ७ आदमी समाज से अलग कर दिये जावें जिससे वह आर्य समाज के मन्दिर पर स्वत्व ग्रहण न कर सकें। फलतः ऐसे निर्देश निकाल दिये गये। प्रधान सभा से एक कानूनी भूल हो गई। उचित यह था कि प्रत्येक व्यक्ति के नाम अलग अलग हुक्मनामें जारी किये जाते। प्रधान के कार्यालय से एक ही हुक्मानामें पर सातोंके नाम लिखकर टाइप कराके उसकी लिपियाँ भेज दी गईं। उन लोगों ने प्रधान पर लायेबिल केस अर्थात् मानहानि का ५०००) का

दावा करा दिया कि उसने उनको बदनाम करने के लिये यह नोटिस निकाला है। यदि हुक्मनामें में केवल उसी अपराधी का नाम होता जिसको निकालने के लिये वह हुक्मनामा था और अन्य छः का न होता तो प्रत्येक हुक्मनामा हुक्मनामें की हैसियत रखता। वह विज्ञापन की कानूनी परिभाषा से मुक्त रहता। आन्दोलन तो प्रधान के विरुद्ध उस दशा में भी होता ही। परन्तु उसका रूप मान-हानि के दावे से इतर होता। मुझे वकील का नोटिस मिला कि शीघ्र ही हमारे मुवक्किलों को ५०००) मान-हानि की प्रतीकार के रूप में दो अन्यथा कचहरी में नालिश कर दी जायगी। मैंने उत्तर में लिख दिया कि मेरी उन व्यक्तियों से कोई शत्रुता नहीं है। उन्होंने अनियमता की मैंने अपने वैधानिक अधिकारों से उनको दण्ड दिया है।

लौइयर (lawyer) या वकील की परिपाटी आरंभ में इस लिये चलाई गई होगी कि वह राष्ट्र के विधान की विशेषज्ञता प्राप्त करके न्यायाधीश को विधान के अनुसार न्याय करने में सहायता दें। परन्तु जब यह व्यवसाय बन गया तो वकील का अर्थ यह हो गया कि जिस पक्ष ने उनको फीस दी है उसको जिताने का यत्न करें। यही कारण है कि दोनों पक्ष अपनी जेब की शक्ति के अनुसार बड़े बड़े विशेषज्ञ वकीलों की सेवायें उपलब्ध कर सकते हैं और न्यायाधीश को यह निर्णय करने में कठिनाई होती है कि विधान और न्याय की वास्तविक मांग क्या है। कभी कभी कोई धर्म का श्रद्धालु वकील अनुचित मुकदमा लेने से इनकार भी कर देता है। परन्तु मुवक्किल कहता है कि "आपके पास निर्णय के लिये नहीं आया मैं तो इस लिये आया हूँ कि यथाशक्ति मेरा मुकदमा लड़ दो। सिपाही को वेतन दिया जाता है लड़ने के लिये न कि राय देने के लिये।" मैंने इससे पूर्व कभी कचहरी की शक्ल नहीं देखी थी। न कभी

किसी ने मेरे ऊपर नालिश की न मैंने किसी के ऊपर । एक बार साक्षी अवश्य देनी पड़ी थी अपने एक विद्यार्थी के सदाचार के विषय में जिसे पुलिस ने सत्याग्रह के दिनों में राजविद्रोह में पकड़ लिया था । मुझे याद पड़ता है कि मेरी साक्षी पर वह मुक्त कर दिया गया । इस बार जब मेरे ऊपर अभियोग चल पड़ा तो सभा ने यह निश्चित किया कि केस लड़ना चाहिये । सभा के लखनऊ रहने वाले वकील सदस्यों में मुख्य थे पं० रामदत्त जी शुक्ल और पं० भृगुदत्त जी तिवारी । इन्होंने बड़े जी जान से कोशिश की । मैंने उन दिनों रजिष्ट्रेशन एक्ट, लायेबिल एक्ट तथा सभा के नियमोपनियमों का पर्याप्त अध्ययन किया । लायेबिल (मान-हानि) का मुख्य आधार है कुभावना । मुकद्दमा बहुत दिनों चलता रहा । बीसियों पेशियाँ हुईं । दूर-दूर से साक्षियाँ लानी पड़ीं । दोनों पक्षों का धन भी खर्च हुआ । अन्त को सब जज की अदालत से मान-हानि का दावा सिद्ध न हो सका । और मैं मुक्त हो गया ।

परन्तु मानि-हानि के अतिरिक्त एक और दावा था अदालत माल में । विपक्षी लोग चाहते थे कि समाज का मन्दिर उनको दे दिया जाय क्योंकि उन्होंने एक तो अपने समाज की रजिष्टरी अलग करा ली है, दूसरे सभा की अधीनता से उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया है । सभा का उन पर कोई स्वत्व नहीं है और सभा को अधिकार नहीं है कि वह उस मन्दिर को उनसे इतर दूसरे दल को दे सके । वस्तुतः यह अभियोग सबसे अधिक भयंकर था । अब तक सभा की यह हैसियत है कि समाजों की जायदादें सभा के नाम से क्रय की जाती हैं । कानून की दृष्टि में सभा उसकी स्वामिनी है उसी को क्रय, विक्रय या उपयोग करने का अधिकार है । परन्तु नीति यह है कि समाजों की सम्पत्ति को सभा अपने काम में नहीं ला सकती । वह

सम्पत्ति उन-उन समाजों के उपयोग में ही आती है। सभा उसमें उसी समय हस्तक्षेप करती है जब समाज में घरेलू झगड़े आरम्भ हो जाते हैं और समाज के दो दल हो जाते हैं।

समाजें जब अपने भवन निर्माण करती हैं तो जनता के धन से। जनता उनको धन उसी समय देती है जब वह समझ ले कि समाज एक नियमित और नियंत्रित संस्था है। सभा से सम्बन्धित होना समाज के स्तर को सुदृढ़ करता है। उसी के आधार पर उनको चन्दा मिलता है। यदि सभा इस अभियोग में हार जाती तो इसका परिणाम यह निकलता कि जिन समाजों ने सभा से सम्बन्ध जोड़कर अपने स्तर को बढ़ाया और उस स्तर के आधार पर उन्होंने जनता से चन्दा लेकर अपनी सम्पत्ति बनाई उसको कोई सात व्यक्ति प्रथम निर्वाचन में झगड़ा करके, फिर अपने को अलग रजिष्टर्ड कराके और सभा से पृथकत्त्व का प्रस्ताव पास करके उस सम्पत्ति को हड़प सकते थे। यह थी स्थिति। इसकी कल्पना मात्र भी मेरे लिये असह्य थी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि यह सभा के जीवन मरण का प्रश्न है। यों तो अधिकाँश प्रतिनिधि सदस्य मेरे ही विचार के थे। परन्तु उन्होंने आशङ्का की इतनी कल्पना नहीं की थी। वह इस प्रश्न को इतना गम्भीर नहीं समझते थे। परन्तु कुछ थोड़े से व्यक्ति अधिक स्वातंत्र्य प्रिय थे। वे सभा के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहते थे। इनमें कुछ ऐसे भी लोग थे जिनकी प्रवृतियाँ आरंभ से ही सभा के विरुद्ध थीं। उन्होंने इस अभियोग में सभा के विरुद्ध प्रत्यक्ष और परोक्षरीति से सक्रिय भाग लिया। बीच में एक अदालत ने सभा को हरा दिया। यह अच्छा हुआ क्योंकि सभा को हाई कोर्ट में अपील करनी पड़ी। सभा जीत गई। और हाईकोर्ट का निर्णय एक नज़ीर बन गया। हाईकोर्ट ने यह निर्णय किया कि यह ठीक

है किन्हीं सात व्यक्तियों को विधान के अनुसार अपनी सभा को रजिस्टर्ड कराने का अधिकार है। कानून इसकी आज्ञा देता है। परन्तु ऐसी रजिस्टर्ड सोसायटी नई सोसायटी होगी। उसका अस्तित्व रजिष्टरी की तिथि से स्थापित होगा। वह किसी पहली बनी हुई सोसायटी की स्थानापन्न नहीं हो सकती और न उसकी जायदाद को हड़प सकती है। यह अभियोग मेरे प्रधानपद से अलग होने के पश्चात् भी बहुत दिनों चलता रहा और सभा का बहुत धन व्यय हुआ। परन्तु मेरे विचार में यह व्यय आवश्यक था यदि यत्न में शिथिलता की जाती तो सभा का नहीं अपितु समाजों का भविष्य संकट में था। सभा का अस्तित्व तो अपने लिये नहीं अपितु समाजों के ही संरक्षण के लिये है। परन्तु यह मनोवृत्ति कि सभायें समाजों की पुत्रियाँ हैं और उनको समाजों के काम में किसी अवस्था में भी हस्ताक्षेप करने का अधिकार न होना चाहिये समाजों के लिये बड़ी घातक है। जनता इन कानूनी पेचों से अनभिज्ञ है और कभी-कभी कुछ भले आदमी भी वैमनस्य, दलबन्दी, यशोलोभ आदि से प्रेरित होकर सभा के नियंत्रण को ढीला करने का यत्न कर बैठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि सभा कभी गलती नहीं करती। हर मनुष्य गलती कर सकता है और कभी-कभी सभा के अधिकारी भी उन कुभावनाओं के शिकार हो सकते हैं। परन्तु देखना यह चाहिये कि किस पक्ष के नम्र हो जाने में अधिक श्रेय और कम हानि हैं। प्रत्येक अंश में न्याय हो और अन्याय का लवलेश भी न हो, यह तो केवल ईश्वर के लिये ही संभव है। उसके ऊपर कोई अन्य न्यायालय नहीं। परन्तु पौरुषेय न्यायालय तो सामूहिक संगठन की रक्षा के लिये ही बनाये जाते हैं। यदि जनता में यह सद्भावना उत्पन्न हो जाय तो हानि की मात्रा न्यूनतम हो सकती है।

शाहपुरा में अठारह महीने

रविवार का दिन था और प्रातः काल का समय। महीना विस्मृति के घने बादलों में विलीन सा हो गया है। 'विलीन सा' इसलिये कि कुछ धुँधली सी आभा दिखाई पड़ती है सितम्बर हो या अक्टूबर। सम्वत् अधिक स्थूलकाय है क्योंकि ३६५ दिन तक एक ही सम्वत् चलता है और उसका सम्बन्ध असंख्य घटनाओं के साथ जुड़ जाता है। अतः निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि १९४४ सन् था। रविवार की याद इसलिये है कि ज्योंही मेरा ताँगा मकान के सामने आकर खड़ा हुआ, कलादेवी जी कला प्रेस के द्वार से बाहर आती हुई दीख पड़ीं। वे आर्य समाज चौक के साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित होने जा रही थीं और कुछ जल्दी में थीं क्योंकि यज्ञ का समय निकला जा रहा था। नमस्ते के अतिरिक्त और कोई बातचीत न हो सकी। वह चली गईं। मैंने ताँगे से सामान उतरवाया और नित्य कर्म से निवृत्ति होने की कोशिश करने लगा। इतने में एक आवश्यक तार मिला, "अपनी नियुक्ति के विषय में तुरंत श्री शाहपुराधीश से अजमेर की पीली कोठी में भेंट करने आ जाओ।"

मैं चक्कर में पड़ गया। कैसी नियुक्ति और कैसी भेंट? कई बार तार को पढ़ा 'किसी और का तो नहीं है?" "नहीं नहीं! यह मेरा ही तार है। नाम भी मेरा, पता भी मेरा और भेजने वाले भी मेरे मित्र श्री मदन मोहन जी सेठ जो, दो चार मास से शाहपुरा राज के दीवान हो गये थे।' कुछ बात समझ

में नहीं आई। इच्छा हुई कि अभी उत्तर में तार दूँ कि "आशय समझ में नहीं आया। कुछ स्पष्ट करो। मेरी नियुक्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।"

मैं तार लिखने बैठा ही था कि एक मित्र आ गये। उन्होंने बातचीत में दो घण्टे लगा लिये। दस बज गये। कलादेवी जी समाज से वापिस आ गईं। मैंने उस तार की बात उनको सुनाई। वह कहने लगीं। "आशय स्पष्ट है। तुम्हारी अनुपस्थिति में श्री सेठ जी का तार आया था कि यदि राजकुमार के पढ़ाने के लिये तुम को नियुक्त किया जाय तो क्या आ सकोगे और किन शर्तों पर! मैंने तुम्हारी ओर से उत्तर भेज दिया कि ४००) रु० मासिक और मकान मिलना चाहिये। महाराज उसी सम्बन्ध में तुमसे बातचीत करना चाहते होंगे।"

मैंने कहा, "तुम ने क्या गज़ब किया? मैं तो सभा का प्रधान हूँ। दम मारने का अवकाश नहीं है। अभी बाहर से आया हूँ। अभी फिर चले जाना है। मैं इस काम को कैसे कर सकता हूँ?"

"अजी, चले भी जाओ। प्रधानी तो चार वर्ष कर ली। इस वर्ष में भी थोड़ा ही समय शेष है। महाराज का आर्य परिवार है। इसलिये ही सेठ जी वहाँ गये हैं और इसीलिये वह तुमको बुलाना चाहते हैं। युवक राजकुमार के मन पर धर्म के कुछ संस्कार पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त तुम को यह भी तो मालूम होना चाहिये कि 'प्रोवीडेण्ट फण्ड' का जो रुपया दयानन्द स्कूल से प्राप्त हुआ था वह जून मास की बर्फ के समान शनैः शनैः पिघलता जा रहा है।"

वस्तुतः आरम्भ से ही मैं तो नाम का गृहपति हूँ। गृहपति कहो तो कलादेवी जी हैं। गृहपत्नी कहो तो भी कलादेवी जी। गृहपत्नी की प्रेरणा। मुझे उसी दिन प्रयाग से अजमेर की यात्रा

के लिये चलना पड़ गया। तीसरे दिन अजमेर पहुँचा। अपने मित्र कुँवर चाँदकरण शारदा के मकान पर पहुँचा। शाहपुरा की मोटर भी स्टेशन पर लेने आई थी। परन्तु मुझे गलती से दूसरी ट्रेन में आना पड़ा था। उन दिनों परोपकारिणी सभा की भी बैठक हो रही थी। कई प्रान्तों के नेता उपस्थित थे। मुझे कई वर्ष से मोतियाविन्दु हो गया था। मोगा के प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सिक डाक्टर मथुरादास जी भी अजमेर आये हुये थे। उन्होंने चाँदकरण जी के स्थान पर ही मेरी आँखों की परीक्षा की और कहा "अभी तो इसके पकने में कई बरस लगेंगे। चिन्ता मत करो, कभी-कभी जिंकलोशन (Zinc lotion) डाल लिया करो।"

यथासमय परोपकारिणी सभा के भवन में आया। सेठजी तथा अन्य मित्रों से भेंट हुई। शाम को शारदा जी के मकान से उठकर शाहपुरा की पीली कोठी में आ गया।

श्री शाहपुराधीश जी के दर्शन मुझे लाहौर में डी० ए० वी० कालेज की जुबली के अवसर पर हुये थे परन्तु परिचय नहीं था। इनके पिता जी श्री राजाधिराज नाहरसिंह जी के दर्शन मथुरा की जन्म-शताब्दी पर १९२५ में किये थे। याद नहीं कि उस समय श्री उमेदसिंह जी जो युवराज थे मथुरा में पधारे थे या नहीं। इस समय श्री उमेदसिंह जी राजाधिराज थे। उनके पुत्र राजकुमार सुदर्शन देव जी युवराज! इन्हीं के पुत्र को पढ़ाने की योजना बन रही थी। दूसरे दिन पहले युवराज महोदय से भेंट हुई। वह बड़े आदर से पेश आये। राजकुमार के अध्ययन अध्यापन के विषय में बातें हुई और लगभग निश्चित हो गया कि मैं पहले एक दिन शाहपुरा चलूँ और परिस्थिति की परीक्षा कर लूँ। फिर यथावकाश शीघ्र से शीघ्र काम को सम्भाल लूँ।" श्री सेठजी की योजना यह थी कि इस आर्य्य परिवार से आर्य्य

समाज का सम्पर्क बनाये रखने के लिये योग्य आर्यों का यहाँ आ जाना आवश्यक है।

अन्त में महाराज से भेंट हुई। उन्होंने भी आदर सत्कार किया। कोई विशेष बात नहीं पूछी। उनके दो मुसाहिबों से अवश्य उन्हीं के समक्ष कभी अंगरेजी में कभी हिन्दी में अन्यान्य विषयों पर बात चीत होती रही।

दोपहर के पश्चात् ज्ञात हुआ कि नियुक्ति में अभी सन्देह है। श्री सेठजी ने यह भी संकेत किया कि ४००) अधिक हैं। ३००) कर दो तो नियुक्ति में सुगमता हो सकती है। उन्होंने समाज की आवश्यकता और अपनी तत्सम्बन्धी योजना का भी वर्णन किया। मैंने सेठ जी से कहा "श्रीमान् जी। मैं अपनी इच्छा से यहाँ नहीं आया। आप की भाभी जी के आग्रह का फल है। आप मेरे लिये चिन्तित न हों। अभी तो मुझे अवकाश भी नहीं है। मुकदमा चल रहा है और सभा के अन्यान्य कार्य पड़े हुये हैं। अच्छा ही है कि मेरी नियुक्ति संदेह कोटि में जा पड़ी।"

मैं व्यावर के उत्सव में होता हुआ प्रसन्नवदन प्रयाग लौट आया। मुक्ति से पुनरावृत्ति की आंशका दूर हो गई। परन्तु थोड़े ही दिनों पश्चात् मुझे नियमानुसार राज का आदेश मिला, "तुम्हारी उन्हीं शर्तों पर नियुक्ति हो गई। अभी भंवर जी और भंवर बाई जी नाना के यहाँ ध्रांगधरा गये हुये हैं। जब वापिस आ जायंगे तो सूचना दी जायगी। उस समय आकर काम संभालना।"

मैंने आदेश पत्र रख लिया कोई उत्तर भी नहीं दिया। यह सोचा कि जब सूचना आयेगी देखा जायगा।

उधर दिसम्बर मास में सेठ जी की पतंग कट गई। रियासतें

परिवर्तनों से विशेष प्रेम रखती हैं। किसी नीति को स्थायित्व प्राप्त नहीं है।

मुतरिबे खुशनवा बुगो ताज़ा बताज़ा नौ बनौ।
वादये दिलकुशा बुजो ताज़ा बताज़ा नौ बनौ॥ (हाफिज़)
नित्य नये हों गीत, नया हो मधु का प्याला!
सड़ जाता है दो दिन रक्खा हुआ निवाला॥

जब सेठ जी चले आये तो न मुझे कोई आकर्षण रहा न उनकी भाभी जी को। बात लगभग विस्मृत सी हो गई। परन्तु मार्च में जब दरबार से पत्र मिला कि भंवर जी वापिस आ गये हैं मुझको जाना चाहिये तो सेठ जी से मैंने कहा कि मैं नहीं जाऊँगा। आपके लौट आने से मुझे किंचित् भी उत्साह नहीं है। सेठ जी ने मुझे समझाया। "देखो। मेरी बात अलग थी। मैं था दीवान, नित्य नैतिक उलझनें रहती थीं। भिन्न भिन्न दलों को संभालना पड़ता था। तुम जा रहे हो राजकुमार के मास्टर होकर। तुम्हारा काम तो अलग होगा। राजकुमार पर वैदिक धर्म के कुछ संस्कार बैठेंगे। युवराज महोदय बड़े सज्जन, उदार और विद्या-प्रिय हैं। उनकी बड़ी इच्छा है कि तुम इस काम को ले लो। उन्हीं के आग्रह पर तो दरबार ने तुम्हारी नियुक्ति की थी?"

मैं मान गया। प्रतिनिधि सभा के वार्षिक निर्वाचन में श्री सेठ जी प्रधान हुये। मुझे छुट्टी मिल गई और मैं ११ अप्रेल १९४५ ई० को सपत्नीक शाहपुरा पहुँच गया।

शाहपुरा राजपूताने में अजमेर से कुछ दूर पर एक छोटी सी रियासत है। शाहपुरा नगर की आबादी थी दस हजार और समस्त शाहपुरा रियासत की लगभग ६२ हजार। शायद १२० ग्राम थे। सब छोटे बड़े मिला कर। यहाँ का राजवंश महाराणा प्रताप के वंश की एक शाखा है जो किसी समय में

समस्त राजपूतों के शिरोमणि कहलाते थे। शिशोदिया वंश के एक राजकुमार का गुरु बनने में भी कुछ भावुकता थी। श्री परमहंस महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज नाहर सिंह जी के निमंत्रण पर यहाँ १ मार्च १८८३ ई० को पधारे थे और २६ मई १८८३ ई० तक उन्होंने यहाँ निवास किया था। महाराज नाहर सिंह जी उनके भक्त हो गये थे। स्वामी जी महाराज ने उनको मनुस्मृति पढ़ाई थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री महाराज उमेद-सिंह जी ने भी उन दिनों बाल्यावस्था में स्वामी जी महाराज से उपदेश ग्रहण किये थे। जहाँ स्वामी जी रहते थे वह कमरा नगर के बाहर के राजकीय बाग में था। यह मेरे समय तक सुरक्षित था। मेरी प्रेरणा पर महाराज ने स्वामीजी के पधारने की स्मृति में उस मकान की दीवार पर एक पत्थर लगाने की भी योजना की हुई थी। पत्थर मेरे सामने तैयार हो गया था। मालूम नहीं कि लगा या नहीं। मेरे सामने तो ऐसा विचार था कि एक महोत्सव करके पत्थर लगाया जायगा।

शाहपुरा में स्टेशन नहीं है। चालीस पैंतालीस मील दूर हम लोग विजयनगर स्टेशन पर १० अप्रैल की रात को उतरे, प्रातः काल बस के द्वारा शाहपुरा में आये। महल के फाटक पर आकर ज्ञात हुआ कि अभी मकान के नियुक्त होने में दो चार दिन की देर है। अतः यह आदेश हुआ है कि मुझे अतिथि गृह में ठहराया जाय।

अतिथिगृह का नाम सुनते ही मेरे प्राण सूख गये। मैंने समझा कि दो चार दिन हम दोनों को भूखा रहना पड़ेगा। मैं राजकीय अतिथिगृहों को होस्टलैस गेस्ट हाऊस (Hostless guest house) अर्थात् सुश्रुषा-विहीन अतिथिगृह कहा करता हूँ और राजों के वचनों को वह प्रोमिसरी नोट जिनके भुनाने

के लिये कोई बैंक नहीं है। यह क्यों ? बात तो पुरानी है परन्तु प्रसङ्ग आ जाने से कह देना ही उचित है।

बहुत दिनों की बात है। छतरपुर राज के महाराज थे श्री महराज विश्वनाथ सिंह जी। इनको साहित्य और साहित्यकारों से बड़ा प्रेम था। एक दिन उनके दीवान, प्रसिद्ध साहित्यकार श्री गुलाबरायजी का मुझे पत्र मिला कि महाराज ने तुम्हारे ग्रन्थ 'आस्तिकवाद' को बड़ा पसन्द किया है। वह तुमसे साक्षात् करना चाहते है। मेरे पुत्र डा० सत्यप्रकाश ने मुझसे कहा, "आप क्यों जाते हैं ? राजों से आपको लेना ही क्या है ? जब राजा साहेब यहीं आवें तो मिल लेना।" मैंने धन्यवाद और शिष्टाचार के साथ यही उत्तर लिख दिया कि मेरा आना कठिन है जब कभी महाराज प्रयाग में तीर्थ करने पधारेंगे तो मैं भी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर लूंगा। परन्तु जब श्री गुलाबराय जी का आग्रह हुआ तो मैं दो दिन की छुट्टी में छतरपुर को चल पड़ा। महोबा स्टेशन पर रात को दस बजे पहुँचा तो एक रेल के कर्मचारी ने मुझसे कहा, "छतरपुर की कार आई हुई है। पूछ-ताछ कर लीजिये शायद आपके लिये ही हो।" मैंने बाहर जाकर पूछा तो मुझे बताया गया कि "एक स्वामी प्रयाग से आने वाले हैं। राजा साहेब की आज्ञा हुई है कि रात में ही उनको ले आओ।" मैंने कहा "वह स्वामी मैं ही हूँ। मैं चलने को तैय्यार हूँ।" कार बड़ी थी। जाड़े के दिन थे। मैं रजाई ओढ़कर सो गया जब आंख खुली तो देखा प्रातः काल हो गया है और मैं छतरपुर से तीन मील दूर राजकीय विशाल अतिथिगृह के एक कमरे में ठहराया गया हूँ। परन्तु जब खाने का समय हुआ तो मेरे सामने विना घी की दाल और विना घी के सूखे फुलके रख दिये गये। मैंने ऐसा खाना किसी दरिद्र के यहाँ भी नहीं खाया था। मुझे ज्ञात हुआ कि राज की ओर से घी, दूध, चीनी, शाक

आदि सभी चीजों का आदेश है। परन्तु बनाने वाले बीच में खा जाते हैं। रात को भी ऐसा ही हुआ और दूसरे दिन दोपहर को भी और तमाशा यह कि उस अतिथिगृह में ठहरे हुये अतिथियों की सुविधा के लिये एक पढ़ा लिखा विशेष कर्मचारी नियत था, जो बड़ी मीठी मीठी बात करता था। दो बजे गाड़ी मुझे लेने आई और मैंने महाराज से भेंट की। शिष्टाचार के पश्चात् बहुत देर तक डीकार्टे, मेलब्रांश स्पीनोजा आदि पाश्चात्य दर्शनकारों के विषय में बात होती रही। महाराज ने यह भी इच्छा प्रकट की कि मैं छतरपुर आजाऊँ और महाराज को दर्शन के अध्ययन में सहायता दूँ। मैंने अपनी परवशता प्रकट की। श्री गुलाबरायजी उस दिन अन्यत्र गये हुये थे। दूसरे दिन मुझसे भेंट करने गये और पूछा कि कोई कष्ट तो नहीं है। मैंने शिष्टाचार के अनुसार धन्यवाद दिया और कहा, सब ठीक है। उन्होंने यह भी आग्रह किया कि मैं दो चार दिन वहीं रहूँ। तीसरे पहर महाराज स्वयं आये और मुझसे कहा, "आप ठहरिये और बहुधा आया कीजिये।" आप समझते हैं कि मेरी प्रवृत्ति क्या रही होगी। इसी छतरपुर के अतिथि गृह से शङ्कर कवि ने दीवान को वह साहित्य-प्रसिद्ध पंक्ति लिखी थी :—

चार हम दी पाये और तीन चार पाई हैं ?"

यह था मुख्य कारण अतिथि गृह का नाम सुनकर मेरे प्राण सूख जाने का। परन्तु एक घड़ी के भीतर ही मुझे अनुभव होने लगा कि शाहपुरा वैसा नहीं है। मेरे खान-पान और रहन-सहन का यथोचित और सुचारू प्रबन्ध था। भोजन अच्छा, शुश्रुषा भी अच्छी। कर्मचारियों का व्यवहार भी अच्छा। तीन चार दिन के पीछे रहने के लिये मकान मिल गया। मैं अतिथि गृह को छोड़कर वहाँ रहने लगा। इस प्रकार अठारह

महीने व्यतीत हो गये। शाहपुरा का जलवायु मेरे अनुकूल निकला। महाराज की निरन्तर कृपा रही और युवराज महोदय श्री सुदर्शनदेव जी ने तो मेरी सुविधा में कोई कसर उठा नहीं रक्खी। दरबार की दरबारदारी से मैं सर्वथा मुक्त था। मुझे शिष्य और शिष्या पर नियंत्रण रखने की खुली छुट्टी थी। शिष्य तो स्वयं भी बड़े सुशील और आज्ञाकारी थे। शिष्या जी पर उनकी माता जी श्री युवरानी जी का विशेष नियंत्रण रहता था। यदि वह सुन लेतीं कि उन्होंने किसी प्रकार भी मेरी आज्ञा में आनाकानी की वह तुरन्त उनको क्षमा-याचना के लिये बाधित करतीं। मैं उनको संध्या सिखाता, उपासना कराता और थोड़ी सी संस्कृत भी पढ़ाता था। कभी कभी आर्य्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में भी ले आता था। शाहपुरा में कोई असाधारण बात नहीं हुई। दो एक विनोद की बातें सुना दूँ :—

अतिथि गृह का रसोइया था पीतू महाराज। यह सचमुच पीतू था। इसने मुझे आरम्भ में भक्ति से भोजन कराया। यह अतिथियों की सेवा तो करता ही था। इसको नगर के देवताओं से भी विशेष प्रेम था। मैं प्रातःकाल बहुत तड़के, जब भ्रमण को जाता तो नित्य प्रतिदिन जाड़ा हो या वर्षा पीतू जी तालाब में स्नान करके लोटा लिये काँपते हुये सब छोटे बड़े देवालयों की मूर्तियों की प्यास बुझाते हुये दिखाई पड़ते थे। देव-प्रीति पीतू का गुण था।

जब मैं पहुँचा ही था तो एक सज्जन अतिथिगृह में मुझे मिलने आये। लम्बे, सुन्दर, सुडोल और शानदार। मैंने पूछा, "आप कौन हैं ?" उत्तर मिला "राज का सेनापति।"

"नाम ?"

"ज़ोरावर सिंह।"

मैंने मन में कहा, "यथा नाम तथा गुण।"

एक दिन मार्ग में एक सज्जन मिले। मुझे नमस्ते की। मैंने पूछा, "आप कौन हैं?"

"मैं सरकारी कोष का एक कर्मचारी हूँ।"

"आपका नाम।"

"दौलतमल!" मैंने फिर मन में कहा, "यथा नाम तथा काम।"

कुछ दिनों पीछे एक और सज्जन से भेंट हुई।

"आप अपनी प्रशंसा कीजिये।"

"मैं यहाँ का डाक्टर हूँ।"

"शुभ नाम?"

"कुशल सिंह।"

एक और सज्जन थे माल के अफ़सर। मेरे बड़े मित्र हो गये थे। उनका नाम था "दौलत सिंह।"

विदाई के अवसर पर श्री युवराज जी ने १० अक्टूबर १९४६ को जो मुझे सहभोज दिया था उसमें भाषण देते हुये मैंने कहा था कि इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि शाहपुरा के लोग इतने साहित्य प्रिय हैं कि उनके कर्मचारियों के नाम भी उनके काम को प्रकाशित करते है।

यह तो थी हास्य रस की बात। परन्तु वहाँ एक सज्जन से भेंट हुई जो प्रज्ञाचक्षु हैं। श्री पं० हरिश्चन्द्र जी। इनको महाराज ने अपने व्यय पर अन्यत्र कई स्थानों पर भेज कर संस्कृत पढ़वाई थी। यह संस्कृत के बड़े अच्छे पण्डित हैं। मैंने संस्कृत-काव्य का आरम्भ इन्हीं के सम्पर्क से किया था। और 'आर्यस्मृति' का बहुत सा भाग इन्हीं की सहायता से लिखा गया था। यह नित्य मेरे मकान पर आया करते और कहते :—

"प्रोफेसर साहेब। मैं आप के दर्शनों को आया हूँ।"

मैं हंसकर उत्तर देता—

"पंडित जी महाराज। मेरे दर्शन करना तो आप के लिये असम्भव हैं। हाँ। आप मुझे दर्शन देने अवश्य आते हैं।"

मेरा पोता विजय कुछ नटखट था। वह कहता "पंडित जी, आगे मत बढ़िये कुत्ता बैठा है।" जब वह ठिठकते तो कहता, "नहीं, नहीं कुत्ता नहीं है। मैं तो आपको बहकाता था।"

महाराज से बात करते भी कभी-कभी धृष्टता हो जाती थी। एक दिन महाराज बोले, "कहिये। आप की धर्म पत्नी जी कुशल से हैं।"

मैंने हाथ जोड़ कर कहा, "महाराज धर्मपत्नियाँ तो राजों की हुआ करती हैं। हम गरीबों की धर्म पत्नियाँ कहाँ।"

वह आश्चर्य में पड़ गये।

मैंने कहा, "पत्नी के साथ विशेषण 'धर्म' तो तब लगाया जाय जब कई पत्नियाँ हों। मुझ गरीब की तो एक ही पत्नी है।" बड़ी हंसी हुई। उस दिन से महाराज उनको 'पंडितानी' जी कहने लगे।

माँस भक्षण पर बहुधा छेड़छाड़ हो जाती थी। मैंने "हम क्या खायें, घास या मांस," पुस्तक यहीं लिखी थी। एक दिन दावत थी। महाराज पूछने लगे "पंडित जी। आप घास पार्टी में हैं या मांस पार्टी में"। मैंने कहा, "मांस भेड़िये खाते हैं। और घास भेड़ें। मैं तो पूरी पार्टी में हूँ।"

एक दिन मैं और महाराज अजमेर की कोठी में बैठे थे। प्रातःकाल का समय था। सामने घास पर चिड़ियाँ कीड़े बीन-बीन

पर खा रही थीं।' महाराज बोले, "पण्डित जी, यह चिड़ियाँ तो मांसाहारी हैं।"

मैंने कहा "महाराज, इन्होंने पातंजल का योग शास्त्र नहीं पढ़ा है, इनको हिंसा अहिंसा का ज्ञान कैसे हो?"

इस प्रकार शाहपुरा के स्मरण बहुत ही विनोदमय हैं। जब मैं दिल्ली में सार्वदेशिक सभा का मंत्री हुआ तो महाराज बहुधा आकर दर्शन दे गये और "पंडितानी" जी से भी भेंट की।

अब भी जब कभी पत्र आ जाते हैं और वह पूर्वपरिचित "पंडितानी जी" की कुशल पूछ लेते हैं।

सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध

पहले सिन्ध प्रदेश बम्बई प्रांत का एक भाग था। १ अप्रेल १९३६ से इसका अलग एक प्रांत बना दिया गया। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों का ऐसा करना अकारण न था। जैसे गंगा नदी सैकड़ों मील पहाड़ों में गुप्त बहती हुई जब गंगोत्री में आ प्रकट होती है तभी लोग जानते हैं उसी प्रकार इन नीतियों का परिणाम संसार को उस समय ज्ञात होता है जब अन्यथा होने के लिये कोई संभावना शेष नहीं रह जाती। बुद्धिमता इसी को कहते हैं। भारत विभाजन की ओर यह पहला पग था।

एक दिन १९४२ या १९४३ ई० में मैं श्री प्रकाशनारायण सप्रू जी से मिला वह स्टेट कौंसल के सदस्य थे। प्रसङ्ग वश मैं कह बैठा कि मुसलमानों के आर्य्य समाज के प्रति विरोध का मुख्य कारण यह है कि आर्य्य समाज ने भावी और प्रस्तावित पाकिस्तान के विरुद्ध घोर आन्दोलन कर रक्खा है। वह कहने लगे की अमेरिकन राजदूत से मुझसे बात चीत हुई थी। उनका कथन था कि पाकिस्तान की मांग करने में मुसलमान लोग न्याय पर हैं। यह तो एक न एक दिन करना ही होगा। मैंने इसका यह परिणाम निकाला कि पाश्चात्य देश ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर रहे हैं। जिससे पाकिस्तान का निर्माण एक आवश्यक कर्तव्य हो जाय। पाकिस्तान रूपी वृक्ष का बीजवपन तो इंग्लैण्ड की भूमि में उस दिन हो गया था जब श्री मुहम्मद अली जिन्हा कांग्रेस से मिलकर भारत-स्वातंत्र्य के उद्योग में लगे हुये थे। यह प्रस्ताव मुहम्मद अली जिन्हा के मस्तिष्क

की उपज न थी । कौन इसका वास्तविक पिता था पता नहीं परन्तु सबसे पहले लन्दन में बैठे रहमत अली नाम के एक युवक ने एक पुस्तक में इसका चित्र खींचा था और जिन्हा साहब ने इसको 'पागल-पन' कहकर उड़ा दिया था। रहमत अली का प्रस्ताव था कि इण्डिया (India) को दीनिया (Dinia) बनाकर उलट फेर कर देना चाहिये क्योंकि भारत में मुस्लिम-प्रभाव की कमी नहीं है। हैदराबाद, भूपाल, भावलपुर अजमेर शरीफ आदि कई मुसलमानी संस्कृति के गढ़ हैं और भारत में कौन सा ऐसा स्थान है जहाँ मुसलमान नहीं है। पहले पाकिस्तान की मांग की जाय। 'पी' (P) से पंजाब, 'ए' (A) से अफगानियां अर्थात् फरण्टियर, 'के' (K) से काश्मीर, 'ऐस' (S) से सिन्ध इस प्रकार इन तीन चार अक्षरों और तदनुरूप चार प्रान्तों से मिलकर पाकिस्तान बन जाता है। पीछे से

हँस के लिया पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान

की गीतिका भी चरितार्थ हो जायगी।

आर्य्य समाज में और कितने ही दोष क्यों न हो एक बात का श्रेय तो इसको देना ही पड़ेगा।

Coming events cast their shadows before.

आगन्ता या समापत्तिः, तस्याश्छाया निपात्यते ।
प्रत्यक्ष यन्न लोकेभ्यः, तत्तत् पश्यन्ति सूरयः ।

जो आने वाली आपत्तियाँ अन्य आँखों से छिपी हुई हैं उनकी परछाईं इनको दीखने लगती है। और यह पहले से ही शोर मचाने लगते हैं। जब अल्लामा मशरकी ने पंजाब के एक सर्वथा अज्ञात स्थान में खाकसारों के आन्दोलन की नींव डाली और छिप-छिप कर उर्दू में इसका साहित्य मुसलमानों में बाँटा जाने लगा तो सबसे पहले खोज करने वाले आर्य समाजी थे।

लोगों को उस समय तक इस भयंकर झंझावात से आशंका नहीं हुई जब तक कि खाकसारों ने लखनऊ पार्लीमेण्ट पर धावा नहीं बोल दिया। इसी प्रकार हसन निज़ामी की "दाइये इस्लाम" का पहला पता लगाने वाले आर्य्य समाजी थे। पाकिस्तान के विरुद्ध भी सबसे पहले आन्दोलन आर्यसमाज से आरंभ हुआ। आर्य समाज को लोग व्यर्थ ही बदनाम कर देते हैं। विपत्ति को सबसे पहले यह सूंघ लेते हैं। यही इनका दोष है।

सिन्ध प्रान्त के अलग होने का सबसे पहला कड़वा फल आर्य्य समाज को ही चखना पड़ा। सिन्ध ने घोषणा कर दी कि 'सत्यार्थ प्रकाश' के चौदहवें समुल्लास को जिसमें इस्लामी धर्म की आलोचना है जब्त कर लिया जाय। इसका सीधा-साधा अर्थ यह था कि जिस हाथी की पूँछ पकड़ ली गई वह समूचा भागकर कहाँ जायगा। सिन्ध की एक इस्लामी जमाअत ने विधिपूर्वक सार्वदेशिक सभा से माँग की कि जिस प्रकार डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज ने सत्यार्थ प्रकाश के अंगरेज़ी अनुवाद में संस्कृत-पाठविधि का वह भाग छोड़ दिया है जो आङ्गल भाषा भाषी अगरेज़ों के लिये अनावश्यक प्रतीत हुआ इसी प्रकार समाज को चाहिये कि वह सत्यार्थ प्रकाश का चौदहवां समुल्लास निकाल दें क्योंकि यह मुसलमानों के दिलों को दुखाता है। आर्य समाज ने इसका घोर विरोध किया। मैंने लाहौर के बच्छोवाली समाज के उत्सव पर एक लेख पढ़ा था जिसमें मैंने दिखाया था कि

(१) सत्यार्थ प्रकाश आर्य समाज का वैसा ही धार्मिक ग्रन्थ है जैसा कुरान, बाइबिल, रामायण आदि अन्य धर्मों के।

(२) कुरान आदि सभी धर्म ग्रन्थों में अन्य धर्मों का उसी प्रकार खण्डन विद्यमान है जैसे सत्यार्थ प्रकाश में।

(३) कौन सा हमारा धर्म ग्रन्थ है और उसकी मान्यता

कितनी है इसके निर्धारण का अधिकार हमीं को है अन्य को नहीं।

(४) स्वामी दयानन्द आर्य समाज के संस्थापक हैं अतः उनके ग्रन्थ हमारे लिये उतने ही पवित्र हैं जैसे बुद्ध भगवान के उपदेश बौद्धों के लिये या भगवान महावीर के उपदेश जैनियों के लिये।

(५) यह कहना गलत है कि १४ वां समुल्लास स्वामी दयानन्द का लिखा नहीं। केवल इसलिये कि यह भाग उनकी मृत्यु के पीछे छपा। यदि ऐसी कल्पनाओं को स्थान दिया जायगा तो सभी ग्रन्थों के विषय में यह शंका उठाई जा सकेगी। बुद्ध के ग्रन्थ बुद्ध के जीवनान्त से कई सौ वर्ष पीछे संग्रहीत किये गये। ईसा के सौ वर्ष पीछे तक इंजील की पुस्तकें बनने नहीं पाई थीं। असली इब्रानी भाषा की इंजीलें तो आज तक प्राप्त नहीं है। कुरान की आयतें मुहम्मद साहेब के बहुत बाद खलीफों के समय में संग्रहीत की गई थीं। स्वामी दयानन्द का सत्यार्थ प्रकाश तो आधा उनके जीवन में छप चुका था। शेष आधा प्रेस में था। हस्तलिपि अब भी दृष्टि पथ के भीतर है।

(६) किसी अदालत को यह अधिकार नहीं है कि किसी धर्म के मंतव्यों के असत्य या सत्य होने का निर्णय करे। या उनकी परीक्षा करे।

आर्य समाज में उन दिनों इसी बात की चर्चा रहती थी। ऐसे जोशीले लोग भी थे जो पहले कभी चौदहवें समुल्लास को पढ़ते भी न थे। अब उन्होंने इसको कण्ठ करना आरम्भ कर दिया था जिससे यदि पुस्तक जब्त हो जाय तब भी सुरक्षित रहे। हैदराबाद सत्याग्रह के समान सिन्ध के सत्याग्रह की भी बात चीत चल पड़ी। १९४४ ई० में दिल्ली नगर में एक अखिल भारतीय आर्य महासम्मेलन किया

गया जिसके प्रधान थे बंगदेश के प्रसिद्ध नेता श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी। ऐसा प्रतीत होता था मानो आर्य समाज का ज्वालामुखी फिर उबल पड़ा।

जब मैं शाहपुरा में था तो एक दिन श्री घनश्याम सिंह जी का पत्र मिला कि सिन्ध का सत्यार्थ प्रकाश सम्बन्धी सत्याग्रह होने वाला है। तुम्हारी जरूरत होगी। तुम चले आओ। मैंने उत्तर में लिखा कि मैं आने को तैयार हूँ। यहाँ सदैव रहने को तो आया नहीं। परन्तु आप पहले यह निश्चय कर दें कि सत्याग्रह होना भी चाहिये या नहीं। क्योंकि सिन्ध देश की अवस्था हैदराबाद से सर्वथा भिन्न थी। सिन्ध में गाँवों में तो केवल मुसलमान ही बसते थे। करांची हैदराबाद आदि बड़े शहरों में हिन्दू थे। वह भी बड़े-बड़े व्यापारी लखपति और करोड़पति जिनके अपने व्यसन थे। वे क्या सत्याग्रह करते। सिन्ध अब भी हैदराबाद के समान कोई रियासत न थी, न निजाम जैसा कोई शासक था। यह था ब्रिटिश इण्डिया का एक प्रान्त और सन्देह था कि यहाँ सत्याग्रह को वह सफलता प्राप्त हो सकेगी जो दक्षिण में हुई। फिर भी आर्य समाज सिन्ध के शासकों से बातचीत कर रहा था। हमारा आन्दोलन जारी था। हर तरफ सत्याग्रह की तैयारियाँ हो रही थीं। वीरों के बाजू फड़कने लगे थे। मुझ जैसी कमजोर आत्मा भी तर्क वितर्क के चक्कर में पड़ी हुई थी। जब की यह बात है उसके कुछ दिन पीछे ही, ठीक पाँच मास पीछे, मैं शाहपुरा से इलाहाबाद लौट आया। और नवम्बर १९४९ के अन्त में सार्वदेशिक सभा के मंत्री पद पर आ जमा।

उस समय सत्याग्रह के बादल काफ़ी उमड़ चुके थे। आधी से अधिक तैय्यारियाँ हो चुकी थीं। सर्वाधिकारी नियुक्त हुये आर्य्य समाज के वही पूर्व परीक्षित नेता महात्मा नारायण

स्वामी जी जिनके निज़ाम की जेल में चुपचाप बैठने ने ही निज़ाम की समस्त रियासत को हिला दिया था। उस समय आर्य्य समाज के एक मात्र प्राण थे महात्मा नारायण स्वामी। उनकी आयु ८० वर्ष से ऊपर थी। उनका स्वास्थ्य अच्छा न था। हैदराबाद की जेल-यातनाओं ने उनके स्वास्थ्य को बड़ा विकृत कर दिया था। उनके रक्त में उष्णता बढ़ गई थी। पहले तो यहाँ तक भी लोगों ने आशंका की थी कि उनको जेल में कोई अनिष्ट पदार्थ तो नहीं दिया गया। डाक्टरी परीक्षा से यह सन्देह तो दूर हो चुका था परन्तु जेल तो जेल ही ठहरा। वहाँ का आराम भी घर के दुःख से कहीं बढ़कर होता है। परन्तु वह थे हमारे प्रमुख और अनुभवी सेनानी। जैसे गुरु गोविन्द सिंह ने बाल्यावस्था में अपने गुरु तेगबहादुर से कहा था कि आपसे प्यारा देश के लिये कौन है। आप ही के त्याग से काम चलेगा। इसी प्रकार आर्य्य समाज ने भी इस महात्याग के लिये अपने सबसे प्रिय सेनानी नारायण स्वामी की ओर देखा और स्वामी जी तैय्यार हो गये।

दिसम्बर १९४६ के अन्त में कन्या गुरुकुल सासनी और गुरुकुल वृन्दावन के उत्सव थे। मैं उन दोनों में उपस्थित था। स्वामी जी का स्वास्थ्य अत्यन्त चिन्ताजनक दिखाई दिया। उनसे ठीक बैठा भी नहीं जाता था। मैंने शुष्क शब्द में उनसे कहा, "ऐसी दशा में तो आपको अपने आश्रम से हिलना भी नहीं चाहिये था।" वह बोले, "यह तो होता ही रहता है। काम भी तो करना है।" मैं दिल्ली पहुँचा ही था कि आदेश मिला कि "मैं शीघ्र सत्याग्रह के लिये करांची जाने वाला हूँ। सभा के कार्यालय के लेखक श्री प्रेमचन्द्र जी से कहो कि वह तुरन्त ही मेरे साथ सिन्ध जाने के लिये तैय्यार हो जायँ।" फिर क्या था? भेरी बज गई। महात्मा खुशालचन्द्र (आजकल

"आनन्द स्वामी"), कुँवर चाँदकरण शारदा, राजगुरु धुरेन्द्र-शास्त्री जी, श्री घनश्याम सिंह जी गुप्त और कई अन्य वीर जैसे पंडित लक्ष्मीदत्त दीक्षित आदि आदि करांची जा पहुँचे। मैंने श्री स्वामी जी महाराज को लिखा कि यदि आज्ञा हो तो मैं भी चला आऊँ। आदेश मिला कि "अभी नहीं। अभी तुम दिल्ली में ही मंत्री पद को सम्भाले रहो। जब आवश्यकता होगी लिखूँगा।"

कराँची में आर्य्य लोग सत्यार्थप्रकाश को गले में लटकाये फिरते रहे। स्थान-स्थान पर चौदहवें समुल्लास की कथायें की गई। सत्यार्थप्रकाश की कापियाँ पाँच-पाँच सौ रुपयों में बेची गइ। अधिकारियों को गिरफ्तार करने के लिये चुनौती दी गई। परन्तु किसी ने पकड़ा नहीं। स्वामी जी ने अपनी विजय-घोषणा करके सत्याग्रह बन्द कर दिया। और सब लोग 'वैदिक-धर्म की जय" बोलते हुये दिल्ली लौट आये। परन्तु यह आधी विजय थी क्योंकि सिन्ध सरकार ने जब्ती की विज्ञप्ति वापिस नहीं ली थी। केवल आँखें मीच ली थीं। शायद यह उनका चातुर्य था क्योंकि ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत को पूर्ण स्वराज देने की घोषणा लेबर पार्टी के प्रमुख नेता और इंग्लैण्ड के प्राइममिनिस्टर मिस्टर एटली कर चुके थे। जिन्हा साहेब को गुप्त आशायें थीं कि सिन्ध में तो पाकिस्तान होने वाला है। आर्य्य समाज के नेता इससे अधिक कर भी क्या सकते थे। उन्होंने निर्भीकता से अपने कर्तव्य का पालन किया।

परन्तु यह सत्याग्रह आर्य समाज को बहुत महंगा पड़ा। जब स्वामी जी महाराज करांची से लौटे तो उनका स्वास्थ्य बहुत ही चिन्ता-जनक था। दो मास भी नहीं व्यतीत होने पाये थे कि वह 'प्रोस्टेट ग्लाण्ड' के भीषण रोग से पीड़ित हो गये। महाशय

कृष्ण जी को यह मालूम हुआ तो वह शीघ्रातिशीघ्र उनको चिकित्सा के लिये लाहौर ले गये। उनका प्रारम्भिक आपरेशन कराया गया तो पता चला कि कैंसर हो गया है! डाक्टरों ने गुप्त रीति से महाशय जी को कह दिया था कि रोगी छः मास से अधिक जीवित नहीं रह सकता। परन्तु स्वामी जी पूर्व की भाँति प्रसन्न थे। मैं लाहौर हस्पताल में उनको देखने गया तो उनके चेहरे से यह प्रतीत नहीं होता था कि वे बीमार हैं। उन की नाभि के पास रबर की एक नली लगी हुई थी। उसी के द्वारा लघुशंका करते थे। उन्होंने कहा "इतना भी ठीक है जो होगा सो देखा जायगा"। उनको अपनी दिनचर्या पर इतना नियंत्रण था कि वह मुझ से कहने लगे, "मुझे आश्चर्य है कि मैं बीमार कैसे हो गया? बीमार पड़ना पाप है।" मुझे तो रोग का पता था। मैंने ठंडी श्वास ली और उत्तर दिया, "स्वामी जी! इसमें आपका दोष नहीं है। पापी तो हम हैं जिन्होंने ऐसी अस्वस्थता की दशा में आपको सिन्ध के भयंकर सागर में ढकेल दिया। आप का स्थान हस्पताल था न कि जेल!"

इधर-उधर बहुत दौड़ धूप की गई। मैंने पटने जाकर वहाँ के डाक्टरों से परामर्श किया। बम्बई को भी लिखा गया। परन्तु लाहौर के विशेषज्ञों की रिपोर्ट पर सब ही कान पर हाथ धरते थे। १५ अक्टूबर सन् १९४७ को बरेली में डाक्टर श्याम स्वरूप जी के मकान पर श्री स्वामी जी ने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया। मैं १६ अक्टूबर के प्रातःकाल बरेली पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि उनका तो कुछ घण्टे पूर्व शरीरान्त संस्कार भी हो चुका था।

जहाँ स्वामी जी का भस्मान्त संस्कार हुआ था वहाँ बरेली के उत्साही सज्जनों ने एक सुन्दर वैज्ञानिक ढंग का श्मशान-

स्थल बनाने की एक सुन्दर योजना बनाई है। उनकी योजना प्रशंसनीय, दर्शनीय और अनुकरणीय है।

जैसा मैंने ऊपर लिखा है। सिन्ध के सत्याग्रह के ठीक थोड़े ही दिनों पश्चात् भारत का विभाजन हो गया। श्री प्रकाश नारायण सप्रू का कथन और मेरी आशंका ठीक निकली। जो कुछ हम को मिला वह बहुत मंहगा पड़ा। और आज कल जब अमेरिका के संयुक्त देश और पाकिस्तान में सैनिक सन्धि हो गई है जिसका विरोध भारत संघ कर रहा है तो अमेरिकन राजदूत के कथन तथा पाश्चात्य देशों के गुप्त मन्तव्यों पर पूरा प्रकाश पड़ जाता है।

———

सार्वदेशिक सभा का मंत्रित्व

मैं १२ अक्टूबर १९४६ ई० को शाहपुरा से लौटा था। उन दिनों पूर्वी बंगाल नवाखोली आदि स्थानों में हिन्दू मुसलमानों के दंगे आरंभ हो गये थे। मुसलमानों के भीषण अत्याचारों के दुःखद समाचार देश भर में फैलकर एक विचित्र वातावरण तैयार कर रहे थे। जिस स्वराज्य के लिये २५ वर्ष पहले हिन्दु-मुस्लिम एकता के अनुपम दृश्य दिखाई देने लगे थे वही स्वराज्य जब दरवाजे से झांकने लगा तो उसका स्वागत अपने ही भाइयों और देशवासियों के रक्त से किया गया। स्वराज्य आता तो हमेशा रक्तपात के साथ ही है। परन्तु या तो देशवालों के हाथ से विदेशियों का रक्तपात हो या विदेशियों के हाथ से देशवासियों का। महात्मा गांधी के कार्यक्रम में दोनों के लिये स्थान न था। स्वराज विना रक्तपात किये ही लेना था। परन्तु जिन्हा साहेब के नूतन सिद्धान्त ने जिसे "टू नेशन्स थियरी (Two nations theory) कहते हैं हिन्दू मुसलमानों में फूट डाल दी। एक प्रसिद्ध पाश्चात्य देश के सम्वाददाता ने लिखा कि जब वह जिन्हा साहेव से इस विषय पर बात करने लगे तो जिन्हा साहेब उठे और अपने पुस्तकालय से एक सड़ी गली पुस्तक निकाल लाये। इसमें जौन ब्राइट (John Bright) के एक व्याख्यान का हवाला थां जो इंग्लैण्ड की पार्लीमेण्ट में शायद सन् १८५८ में दिया गया था। उसमें उल्लेख था कि भारत कई जातियों का देश है इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों से सिद्ध है कि जिन्हा साहब को प्रेरणा कहीं और स्थान से मिल रही

थी और जो प्रलोभन उनके सामने रक्खे गये थे उन्होंने उनकी आंखों पर परदा डाला हुआ था। मैं जब रेल से उतरा तो दिल्ली में ही इलाहाबाद के दंगे की खबर मिल चुकी थी। नगर में कर्फ्यू लगा हुआ था। हम सोच में थे कि रात्रि को शायद स्टेशन पर ही रहना पड़ेगा। जब गाड़ी स्टेशन के भीतर पहुँची तो हमने देखा कि मेरे दूसरे पुत्र विश्वप्रकाश भोजन लिये हुये प्लैटफार्म पर प्रतीक्षा कर रहे थे। बोले "मैं यहाँ शाम को ही आगया था। नगर में बड़ा दंगा हो रहा है। करफ्यू लगा हुआ है। मैं खाना साथ लाया हूँ। आज तो प्रतीक्षालय में ही रहना है। कल प्रातः काल घर चल सकेंगे।" मैं था और मेरी पत्नी, सामान बहुत था क्योंकि बंधना बोरिया समेट कर शाहपुरा से चले थे। अभी बाबू को टिकट देकर बाहर आये ही थे कि एक सज्जन ने नमस्ते की और बोले "आप यहां कैसे ?" मैंने कहा "मैं शाहपुरा से आया हूँ।" वह बोले "चलिये हमारी मोटर पर बैठिये। नगर में दंगा हो रहा है। हमने हिन्दू यात्रियों की रक्षा के लिये पुलिस की सहायता से विशेष प्रबन्ध किया है।" मैं उनको नहीं जानता था। वे मुझे जानते थे। हम झट समस्त सामान सहित मोटर पर बैठ गये और उन्होंने मिनटों में हमको सुरक्षित घर पहुँचा दिया। हमने ईश्वर को धन्यवाद दिया और रात को मजे से घर में विश्राम किया।

मैं बहुत दिनों पीछे घर आया था। कई मास पीछे। इच्छा यह थी कि अभी कुछ दिनों घर से बाहर पैर न देंगे। १० या ११ नवम्बर को एक मित्र आये और बोले, "अभी श्री राजगुरू जी स्टेशन से गुजरे हैं। मुझे मिले थे। मुझे बुलाकर कह गये हैं कि ९ नवम्बर की अन्तरङ्ग सभा (सार्वदेशिक) सभा ने उपाध्याय जी को मंत्री चुना है। उनसे कहना कि किसी प्रकार भी आनाकानी न करें, तुरन्त ही दिल्ली जाकर मत्री पद का चार्ज

ले लें। मैं संकोच में पड़ गया। सार्वदेशिक सभा से मेरा अधिक संपर्क हैदराबाद सत्याग्रह से आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् कई बार मैं सार्वदेशिक का उपप्रधान रह चुका था। परन्तु उपप्रधान को तो कोई काम करना नहीं पड़ता। वह तो आभूषण का पद है। मंत्री के ऊपर तो सभा का समस्त भार रहता है। मैं असमंजस में पड़ गया। मैं दिल्ली में रहने का प्रबन्ध नहीं कर सकता और विना दिल्ली में रहे सभा का कार्य्य नहीं हो सकता। प्रधान थे श्री नारायण स्वामी जी। मैंने उनको लिखा कि मेरे लिये तो मंत्री पद पर काम करना कठिन है। उधर कई मित्रों ने निज पत्र लिखे और मुझको तुरन्त दिल्ली पहुँचने को प्रेरणा की। स्वामी जी महाराज ने लिखा कि वर्ष की समाप्ति में चार मास रह गये हैं। इस थोड़े से समय के लिये तो आजाओ नये निर्वाचन में सभा कुछ अन्य प्रबन्ध कर देगी।

इस प्रकार २७ या २८ नवम्बर को मैं दिल्ली पहुँचा। उस दिन दिल्ली में भी करफ्यू था। मैंने स्टेशन पर ही रात काटी। और प्रातःकाल कार्य्यालय में उपस्थित हो गया। श्री लाला नारायण दत्त जी से मिला और उनसे कार्यालय के विषय में बातचीत की। गत निर्वाचन में मंत्री पद पर श्री इन्द्र जी चुने गये थे। परन्तु वे थे बीमार। काम करते रहे श्री ला० नारायण दत्त जी जो कोषाध्यक्ष भी थे और मंत्री भी। जब ९ नवम्बर को श्री पं० इन्द्रजी का त्याग पत्र पेश हुआ तो मित्रों की दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी और मुझे मंत्री चुन दिया गया :—

ले दिया मेरा नाम बेपूछें।
वाह क्या हैं जनाब की बातें॥

यह थी मेरे मंत्री चुने जाने की कथा। सबसे पहला प्रश्न जो मेरे समक्ष उपस्थित हुआ मेरे व्यय का था। महात्मा नारा-

यण स्वामी जी ने कार्यालय को आदेश दे रक्खा था कि सभा की ओर से मेरे खान-पान का पूरा प्रबन्ध किया जाय। दिन थे मँहगाई के। मुझे औषधियों की भी आवश्यकता रहती है। मैंने देखा कि सभा का मेरे ऊपर बहुत व्यय होगा। एक सप्ताह में जितना व्यय सभा मेरे ऊपर कर चुकी थी उसको हिसाब लगाकर मैंने अपनी जेब से दे दिया और निश्चय कर लिया कि दिल्ली रहने का व्यय मैं सभा से न लूँगा। मुझे चार पाँच मास रहना ही है। शाहपुरा की नौकरी में मुझे अठारह मास में ८०००) रुपये मिले थे। ५०००) व्यय कर डाले। शेष ३०००) बैंक में थे। उन्हीं के सहारे कूद रहा था। जब देखा कि पत्नी जी के आ जाने से व्यय भी कम पड़ेगा और प्रबन्ध में भी सुभीता होगा तो उनको इलाहाबाद लिख दिया और वह शीघ्र ही आ गईं। वह घर का प्रबन्ध देखतीं और मैं पूरा समय सभा के काम को देता। कार्यालयों के काम का मुझे बहुत पुराना अनुभव है। जब मैं सरकारी स्कूलों में सहायक अध्यापक था उस समय हैडमास्टर लोग बहुत सा काम मुझसे ही लिया करते थे। वस्तुतः जब १९०२ ई० में मैं अलीगढ़ में अध्यापक नियुक्त हुआ श्री कूपर साहेब हैडमास्टर का जो मेरे गुरु भी थे यह विचार था कि मुझे वह क्लर्की के विश्वसनीय काम में नियुक्त करेंगे। शिष्य होने के नाते उनका मेरे ऊपर विश्वास था। और उन्होंने एक अनुभवी सज्जन को आदेश दिया कि इनको कार्यालय का समस्त काम सिखा दो। उन्होंने वर्ष भर पढ़ाई के अतिरिक्त मुझसे क्लर्की का भी काम कड़ाई के साथ लिया। यह अनुभव मुझे हैडमास्टरी की अवस्था में भी लाभ पहुँचाता रहा। आर्य समाज के काम में भी मेरी इसने सहायता की। जब मैं संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा का प्रधान था तो छोटी-छोटी बात का भी मुझे पता रहता था। और मैं कार्यालय के

लेखकों को अनुशासन में रख सकता था। मैं कई कार्यालयों में कई अध्यक्षों को देख चुका था कि उनके लेखक उनको उंगलियों पर नचाया करते थे। उनके सम्बन्ध में, मैंने एक श्लोक बना रक्खा था। (ज्ञात नहीं कि आप इसको 'बनाना' कहेंगे या बिगाड़ना)। श्लोक यह है।

अफ़सराधीने जगत् सर्वम्,
आफ़िसाधीनाश्च अफ़सराः।
ते आफ़िसा क्लर्काधीना:
तस्मात् किलारक दैवतम् ॥

जब सार्वदेशिक सभा में मैं आया तो मुझे अनुभव हुआ कि समस्त कार्यालय बहुत विश्वसनीय है। उपमंत्री थे श्री पं० धर्मदेव जी विद्यालंकार, मेरे पुराने मद्रास के परिचित, सद्भावना वाले, संस्कृत के अद्वितीय विद्वान्, अंगरेजी, संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी के सुयोग्य वक्ता। आफिस के अध्यक्ष थे श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक जिनमें मंत्रियों तथा सभी अधिकारियों को सन्तुष्ट रखने की विचित्र योग्यता है। श्री प्रेमचन्द जी हिसाब-किताब बहुत अच्छा जानते थे। और जिनको विश्वसनीय पाकर ही श्री नारायण स्वामी जी ने अपने साथ करांची ले जाने का आदेश दिया था। इन सहयोगियों की सहायता से मुझे कार्यालय का काम अखरता नहीं था। श्री लाला नारायण दत्त जी का भी मुझे आशीर्वाद प्राप्त रहा और धीरे-धीरे उनका सहयोग बढ़ता ही चला गया।

सब से पहली समस्या जो मेरे आते ही सामने आई सिन्ध का सत्यार्थ प्रकाश सम्बन्धी सत्याग्रह था जिसका पीछे उल्लेख आ चुका है। यह फरवरी १९४७ के मध्य तक समाप्त हो गया। और मैं यह सोचने के लिये स्वतंत्र हो गया कि सार्वदेशिक सभा

की नीति क्या होनी चाहिये। दैनिक काम तो चलता ही था। उसके विषय में अधिक चिन्ता न थी। पक्की सड़क बनी हुई थी आँखें मीच कर चले जाइये। श्री नारायण स्वामी जी हर बात में उचित परामर्श देते ही थे। परन्तु मैं इसको कोई काम नहीं समझता। अंगरेजी में इसका नाम है 'मार्क टाइम्' करना (mark time)। आपने सैनिकों को कवायद करते देखा होगा। जब सेना आगे नहीं बढ़ती अपितु एक ही स्थान पर रहती है तो वह अपने पैरों को उसी स्थान पर मारती रहती है। इसका नाम है "मार्क टाइम"। अर्थात् पैर बराबर चलते रहें जिससे आलस्य न आ जाय परन्तु एक इंच भी आगे न बढ़ा जाय। यह 'मार्क-टाइम' की नीति उद्देश्य नहीं है केवल समय-यापन है। यदि यही करना है तो मुझे कष्ट उठाकर देहली में रहने की क्या आवश्यकता। यह मैं बराबर सोचा करता। 'सार्वदेशिक सभा' संसार भर के समाजों की शिरोमणि संस्था है। शिरोमणि नहीं अपितु 'शिर स्वयं।' शिरोमणि तो शिर के आभूषण को कहते हैं। वह शिर को सजाने के लिये हैं शिर का काम करने के लिये नहीं। मैं चाहता हूँ कि सभायें शिरोमणि बनने के स्थान में शिर बनें। उनकी आँखें विश्व की प्रगतियों पर हों, वह भूमण्डल की समस्त धार्मिक सभाओं और संस्थाओं के काम से अभिज्ञ हों। समस्त देशों की समाजों पर उनका ऐसा ही नियंत्रण हो जैसा शिर का अङ्गों पर होता है। यह कैसे हो इसी का मुझे चिन्तन था। कार्यालय के लेखक मुझे सहायता दे सकते थे। मेरे लिये सोच नहीं सकते थे। सभा के अन्य सदस्य भी मेरे लिये ईश्वर से प्रार्थना कर सकते थे। परन्तु ऐसे बहुत कम थे जो धन के लेखे के सिवाय नीति की चिन्ता कर सकें। मैं समझता हूँ कि मंत्री का काम केवल फायलों पर हस्ताक्षर करना नहीं है। उसका काम है मंत्रणा करना।

मैं दीर्घ काल तक विचार करता रहा। मन के उद्यान में बहुत से पौधे उगे। कुछ अंकुर निकलते ही मुरझा गये। कुछ इतने कोमल थे कि एक पाले की भी मार को सहन न कर सके। कुछ बढ़े परन्तु सूर्य्य के आतप से झुलस गये। लोगों ने उनको बढ़ते भी देखा और मरते भी। और अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाओं से उन पर दृष्टि डाली। कुछ फूले भी और फले भी। उनमें भी किसी का रंग रूप तथा स्वाद लोगों को अच्छा लगा। कुछ सुगन्धहीन, सुरभि-शून्य और नीरस प्रतीत हुये।

जाकी रही भावना जैसी।
भव मूरत देखी तिन तैसी।

२८ नवम्बर १९४६ से लेकर जब मैंने सार्वदेशिक सभा का मंत्री पद ग्रहण किया, ६ मई १९५१ ई० तक जब मैंने मंत्रित्व के लबादे को अपने तन से उतारा, लगभग ५ वर्ष और ठीक ठीक १६२१ दिन की यह मेरी जीवनी इन्हीं भिन्न-भिन्न पौधों की जीवनी है। इनका कुछ संक्षिप्त वृत अलग अलग लिखा जायगा मुझे सन्तोष है कि मेरे सभी सहयोगियों ने, उन्होंने भी जो मुझसे सहमत थे और उन्होंने भी जो मुझसे थोड़ा या बहुत मतभेद रखते थे, और उन्होंने भी जो उदासीन थे मेरे साथ न केवल शिष्टता का अपितु प्रेम का व्यवहार किया। मंत्री का विशेष सम्बन्ध रहता है प्रधान से, जब मैं गया था प्रधान थे श्रीनारायण स्वामीजी। यह मेरे ऊपर पहले से ही कृपालु थे। दूसरे वर्ष प्रधान तो वही रहे परन्तु रोग-शय्या से न उठने के कारण कार्य कर्त्ता प्रधान रहे मेरे चिरकाल के मित्र श्री मदन मोहन जी सेठ। स्वामीजी के मृत्यु के पश्चात्य श्री सेठ जी ही प्रधान होगये। दो वर्ष श्री पं० इन्द्र जी भी प्रधान थे। श्री राजगुरू धुरेन्द्र शास्त्री जी जिनकी योग्यता और कार्य कौशल देश भर में प्रसिद्ध है, यह तो

हिन्दुस्तान की जमीन का गज़ है। कौन सा स्थान है जहाँ यह नहीं गये। कौन सा मनुष्य है जो इनको नहीं जानता। यह कहना अशिष्ट न होगा कि यह चारों सज्जन चार विभिन्न प्रकृति के थे या हैं, उनमें से हर एक के गुण अलग-अलग हैं। मनोविज्ञान का विद्यार्थी होते हुये भी मुझे इनकी प्रकृतियों और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना शोभा नहीं देता। गुण गाना खुशामद है और अवगुण खोजना गद्दारी। इतना कहना पर्याप्त है कि मुझे इन सबका आशीर्वाद सदैव बिना मांगे भी उपलब्ध रहा:—

बिन मांगे हुये मिलते साग़र को यहीं देखा।
साक़ी सा सखी कोई हमने तो नहीं देखा॥

हर बार जब मैं मंत्री चुना गया सर्वसम्मति से और हर्ष-सम्मति से, मजबूरी से नहीं। मैंने कई अपनी निर्बलताओं के कारण १९५१ की जनवरी में यह निश्चय कर लिया था कि अब मंत्री न रहूँगा। अतः जब मैं आर्य समाज चौक प्रयाग की जयन्ती में सम्मिलित होने आया तो प्रयाग आते ही मैंने प्रधान सभा के नाम त्याग पत्र भेज दिया और अलग एक पत्र में उनको लिख दिया कि—

(१) मेरा मन मंत्री पद पर काम करने का नहीं है। मैं त्याग पत्र देता हूँ।

(२) वर्ष का बीच है। अतः तीन सुझाव हैं—

१—या तो श्री ला० रामगोपालजी शालवाले जो उपमंत्री हैं मंत्री पद का काम संभाल लेंगे। मेरे अफ्रीका जाने पर छः मास तक इन्होंने इस काम को संभाला था।

२—या अभी अन्तरंग बुलाकर नया चुनाव कर लीजिये।

३—या यदि आप इससे सहमत न हों तो शेष दिनों किसी

प्रकार में ही निबाहता रहूँगा। परन्तु अगले वर्ष मंत्री रहना मुझे किसी प्रकार स्वीकार नहीं है।

श्री राजगुरू जी ने लिखा कि मैं अमुक तिथि को अमुक स्थान पर जा रहा हूँ। प्रयाग स्टेशन पर मिलो।

मैं जब भेंट करने गया तो उन्होंने बिना कुछ बात कहे मेरे त्याग पत्र को जेब से निकालकर चीर चीर करके रेल के नीचे फेंक दिया। मैंने बहुत कुछ कहना चाहा उन्होंने कहने न दिया। मेरे कार्यालय ने एक ग़लती की थी। उसने त्याग पत्र की लिपि नहीं रक्खी थी। मेरे लिफाफे को सीधा प्रधान जी के पास भेज दिया था। समय थोड़ा था। रेल चल पड़ी और मेरी बात कही तो गई पर सुनी नहीं गई।

त्याग पत्र तो दूसरा भी लिखा जा सकता था। दिल्ली के कई मित्रों ने निज पत्रों में लिखा कि यह तुमने क्या किया। श्री इन्द्र जी ने पं० धर्मदेव जी द्वारा लिखवाया कि मुझे ऐसी ग़लती न करनी चाहिये। परन्तु मैं निश्चय कर चुका था। इतने में दिल्ली से श्री राजगुरु जी का तार आया "तुरन्त आओ देवी जी सहित।" मैं गया परन्तु अकेला गया। उन्होंने आग्रह किया कि वर्ष के अन्त तक तो रहना ही चाहिये। मैं इसके लिये उद्यत था। परन्तु मैं स्पष्ट कह देना चाहता था कि मेरी सेवाओं को असम्भावी निश्चित करके भिन्न-भिन्न सदस्य अपनी रुचि के अनुसार अपनी-अपनी छांट करलें। पिछले दिनों लोग और पदों के विषय में तो सोच कर आया करते थे परन्तु सब यही धारणा रखते थे कि मंत्री तो बना बनाया है। कुछ सोचना नहीं है। मैं अन्त तक कार्य करता रहा।

मैं अपने मंत्रित्व में सफल रहा या नहीं। यह प्रश्न है। मैं दूसरों से नहीं पूछता। न मैंने कभी यह जानने की कोशिश की कि—

कहती है तुझको खल्के .खुदा गायिबाना क्या ?

परन्तु मेरा हृदय कहता है कि कम से कम मुझ को विमल शुद्ध सफलता तो प्राप्त नहीं हुई। इसके लिये कई मनोवैज्ञानिक कारण हैं जिनका उल्लेख सभी पाठकों के लिये हितकर होगा।

कुशलमंत्री को विचार-सन्यासी होना चाहिये। अर्थात् मंत्री बनने से पूर्व उसको अपने सब व्यक्ति-गत विचार अपनी घर के अल्मारी में बन्द कर देने चाहियें। मंत्री लेजिस्लेटिव कौंसिल का प्रतीक नहीं है। एक्जीक्यूटिव कौंसिल का एजेएट हैं। अंगरेजी में कहा करते हैं कि

The secretary is a dignified clerk.

मंत्री एक सम्मानित लेखक है। उसका काम नीति-निर्माण नहीं। अपितु नीति वाहन है। जो प्रस्ताव किसी सदस्य ने किया उसे प्रधान या सभा के समक्ष उपस्थित कर दिया और जो निश्चय हुआ उसका तत्परता से पालन किया। अच्छा हो तो क्या और बुरा हो तो क्या ? अपने मत से मिलता हो तो क्या और न मिलता हो तो क्या ? मैंने यत्न तो बहुत किया कि ऐसा ही करूँ। परन्तु मुझ में पुरुषता अधिक है। श्री नारायणस्वामी जी में भी पुरुषता थी। न केवल इस समय अपितु आरम्भ से। मैंने उनको संयुक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा के मंत्री पद पर देखा। गुरुकुल वृन्दावन के अधिष्ठाता के दिनों में देखा और अन्यत्र भी। वह थे तो बड़े गम्भीर और चुपचाप। परन्तु कभी कभी भरी सभा में बड़े-बड़े लोगों को फटकार देते थे। परन्तु उनकी योग्यता, उनका तेज, उनका त्याग, उनकी निःस्वार्थता इतनी बढ़ी हुई थी कि सभी उनकी फटकार को कान दबा कर सुन लेते थे। मुझ में वह

गुण नहीं हैं। संन्यस्तविचार भी नहीं हूँ। लचलचीलापन मुझ में नहीं है। यदि बचपन में मंत्री बनता और उस समय ऐसी बुद्धि भी होती तो शायद लचलचीलापन सीख लेता। छोटे वृक्ष की शाखा जल्दी नम सकती है। परन्तु ६६ बरस के बुढ्डे को इतनी सुगमता से लचाया नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में एक प्रसङ्ग से बाहर की बचपने की कहानी सुना दूँ। मेरे बाबा मर गये। मैं समझता था कि जब मनुष्य मर जाता है तो उसकी लाश गीली लिपलिपी हो जाती होगी। मैंने चाहा कि परीक्षा करूँ। परन्तु बच्चों को तो लाश के पास भी फटकने नहीं देते, मैं क्या करता! जब लाश को स्नान कराके कपड़े पहनाये और लाश उठाने का अवसर आया तो मेरी दादी बोलीं "बाबा जा रहे हैं? इनके पैर छूलो।" बिल्ली के भागों छींका टूट पड़ा। मैं लपका और पैर छूने लगा। श्रद्धा के भाव से नहीं अपितु परीक्षणार्थ। मुझे आश्चर्य हुआ कि बाबा जी के पैर अकड़ गये थे। माँस भी हड्डी के समान कठोर था। यह था मेरा दर्शन-प्रियता का पहला आविर्भाव।

तब से मुझे ज्ञात हो गया कि बुड्ढों की कमर तो लच जाती है परन्तु मानसिक परुषता बढ़ जाती है। बुड्ढे लचलचीले नहीं होते, चिड़चिड़े होते हैं।

दूसरी बात यह है कि मंत्री का चमड़ा गेंडे का सा होना चाहिये। उस पर कुछ भी, कैसा भी और किधर से भी प्रहार हो। तारीफ तो यह है कि तलवार टूट जाय और ढाल पर निशान भी न हो पाये। मेरा चाम नरम है। उस पर तिनके का भी निशान बन जाता हैं। ऐसा मंत्री कुशल और सफल नहीं कहा जा सकता। साराँश यह है कि मैंने अपने को

सार्वजनिक संस्था की मशीन में फिट नहीं पाया। यह है मेरे काम की मेरी आलोचना।

मेरे मंत्री काल के मोटे-मोटे शीर्षक यह हैं :—

(१) सार्वदेशिक-प्रकाशन-लिमिटेड।
(२) नव-प्राप्त स्वातंत्र्य के प्रति आर्य्य समाज की नीति।
(३) शुद्धि-आन्दोलन।
(४) दयानन्द पुरस्कार निधि।
(५) हिन्दू कोडबिल।
(६) १९५१ की जन-गणना।
(७) मेरी अफ्रीका-यात्रा।

इन सबका संक्षिप्त वर्णन अगले अध्यायों में होगा। इसमें अन्य महानुभावों का भी कहीं-कहीं वर्णन आयेगा। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह पुस्तक मेरे जीवन के ही चक्र से सम्बन्ध रखती है। अतः जहाँ अन्य सज्जनों का उल्लेख भी मिलता है वहाँ उसको गौणरीति से ही वर्णन किया गया है। उतना ही लिखा गया है जितना मेरे जीवन की घटनाओं के साथ उनका सम्पर्क है।

ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति।

इसमें सार्वदेशिक सभा के उन बीसियों कामों का भी वर्णन नहीं है जो पूर्व से चल रहे थे और मेरे समय में भी चलते रहे। और जिनमें मेरा कोई विशेष हाथ नहीं रहा। अपनी राम कहानी को सार्वदेशिक सभा की विवरण पत्रिका बनाना मेरा उद्देश्य नहीं है। सार्वदेशिक सभा के मंत्रित्व का काल मेरे आत्म-परीक्षण का काल, आर्य्य समाज के अतीत के गुप्त आलोचना का काल, आर्य्य समाज के वर्तमान के निरीक्षण का काल और आर्य्य समाज के भविष्य के संतुलित परिमापन का काल था। अतः उसी दृष्टि से मैंने इसका विवरण दिया है।

सार्वदेशिक-प्रकाशन लिमिटेड

पहली बात जो मुझको सूझी यह थी कि सार्वदेशिक सभा की ओर से एक अच्छा अंगरेजी का दैनिक पत्र निकाला जाय। मुझे आर्य समाज का 'प्रेस' इतना निर्बल दिखाई पड़ता है कि इसके उद्देशों को देखते हुये यह बात अक्षम्य है और असह्य भी। "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।" कैसे? क्या कूपमण्डूक बनकर? क्या कुएं की तह में बैठ कर चिल्लाने से जहाँ की अवाज कोई न सुने? यदि मैं समाज का डिक्टेटर बना दिया जाऊं और सब आर्य भाई बहन अपना तन मन धन मेरे समर्पण कर दें तो मेरा पहला काम यह होगा कि समस्त संस्थाओं को बन्द करके मैं समाज की संपूर्ण शक्ति को प्रेस के प्रबल करने में केन्द्रित कर दूँगा। परन्तु गंजे को ख़ुदा भी नाखून नहीं देता।

मेरी यह इच्छा क्यों है? मैं समझता हूँ कि यदि हम अपने उद्देश्यों का संदेश जनता को समझा पावें तो जनता हमारी जैसी संस्थायें आप खोल लेगी। यदि आप चाहते हैं कि जनता विशेष औषध से लाभ उठावे तो यह आवश्यक नहीं है कि आप उस औषध को स्वयं बनावें उसे पेटेन्ट करावें। और उसके सर्वाधिकार अपने लिये सुरक्षित करें। आपको तो चाहिये कि उस मांग को सब की जानकारी के लिये घोषित करदें। परन्तु यदि आप का उद्देश्य दुकान खोलना हो तो वही करना चाहिये जिसमें आजकल समाज की शक्ति लगी हुई है।

जब हैदराबाद सत्याग्रह का युद्ध हुआ तो अपने 'प्रेस' के

प्राबल्य का मूल्य कुछ-कुछ अनुभूत हो रहा था। श्री देशबन्धुजी गुप्त ने उस समय ऐसे विचार प्रकट किये थे कि तीन लाख रुपया लगाकर सार्वदेशिक की ओर से एक अंग्रेजी 'डेली' निकाला जाय। परन्तु जब विजय हो गई तो वह सब भावनायें भी विलुप्त हो गईं। मेरी माता जी एक कहानी कहा करती थीं।

एक थी लोमड़ी। जब वर्षा होती वह चिल्ला चिल्लाकर कहा करती "द्व्यौस, घर करूँ, द्व्यौस घर करूँ" (अर्थात् कल ही घर बनाऊंगी, कल ही घर बनाऊँगी", परन्तु जब वर्षा बन्द हो जाती औरसूर्य निकलता तो कहती, "बलाय घर करे, बलाय घर करे।" अर्थात् बला से! यही हाल हमारा है। हमारे पास हमारी सस्थाओंकी घोषणा के लिये भी 'प्रेस' नहीं है। जगत् में पचासों। आन्दोलन संस्थायें हैं जिनके न स्कूल हैं न कालिज। परन्तु इनका 'प्रेस' इतना प्रबल है कि दूसरों के पालित और पोषित स्कूल और कालेज उनके विचारों के हो रहे हैं। हम यही सोचते रहते हैं कि औषध हमीं तैयार करें और हमीं बेंचे। हम समझते हैं कि हम नमूना तैयार कर रहे हैं। हमारे काम दूसरों के लिये आदर्श होंगे। परन्तु हमारी नमूना-साज़ी हमारे व्यवसाय में विलुप्त हो रही है।

मैंने कार्यालय में आकर फायलें टटोलीं तो ज्ञात हुआ कि एक बार पूर्व इसकी चर्चा चली थी। ऐसा सोचा गया था कि शायद इतना दान तो न मिल सके, हाँ यदि एक कम्पनी खोली जाय तो यह संभव होगा। मुझे लगा कि यह रीति उपयुक्त है। मैंने श्री नारायणस्वामी जी की सेवा में अपने विचार रक्खे। उन्होंने इस स्कीम को पसन्द किया। और कहा "चलाने का यत्न करो।" मैं श्री लाला नारायण दत्त जी के पास गया। वह बोले, "स्कीम तो चंगी है परन्तु आशा नहीं कि चल सके। हम तुम्हारे जोश को भी ठण्डा करना नहीं चाहते। उद्योग करो। हम

यथाशक्ति तुम्हारा साथ देंगे।" पहले मैंने पत्रों को लेख लिखे। आर्य मित्र के सुयोग्य सम्पादक श्री पं० हरिशंकर शर्मा ने भी मेरे विचारों की पुष्टि की। वे तो आरंभ से ही 'आर्य्य मित्र' को एक प्रबल दैनिक बनाने के पक्ष में थे। यह इच्छा कोई नई नहीं थी। पचास वर्ष के लगभग व्यतीत हुये कि पं० तुलसीराम स्वामी 'वेद प्रकाश' नाम का एक मासिक निकालते थे। वह एक बार कहने लगे। "काम तो तब बने जब एक ऐसा पत्र निकाला जाय जिसका केवल ।।) शुल्क हो और जो लाखों की संख्या में निकलता हो।

इसके पश्चात् प्रतिनिधि सभाओं को लिखा गया। पता नहीं कि कहाँ से क्या उत्तर आया। मुझे स्मरण पड़ता है यू० पी० सभा की अन्तरंग में अप्रेल १९४७ ई० के अधिवेशन में यह विषय रक्खा गया और उनका निश्चय इस प्रस्ताव के पक्ष में था।

अब प्रश्न हुआ मैमोरेंडम तैयार करने का। मुझे तो कम्पनियों के निर्माण का कोई अनुभव न था। एक उप-समिति सभा की ओर से बनाई गई जिसमें मैं, श्री लाला देशराज जी, तथा शायद गाजियाबाद के श्री लाला हरशरणदास जी थे। मुख्य काम मेरे ऊपर था। लाला नरायणदत्त जी अनुभवी थे। उन्होंने मुझे कई कम्पनियों के मैमोरेण्डम दिये। मैंने विशेष कर लाला देशराज जी की सहायता से मैमोरेण्डम बनाया। सभा की अन्तरङ्ग ने निश्चय किया कि सभा दस हजार रुपये के भाग खरीद लेगी। लाला नारायणदत्त, लाला हंसराज और उनके दो तीन और मित्रों ने पांच पांच हजार के भाग खरीदे। कम्पनी को आरंभ करने के लिये सात सदस्य चाहिये। मेरा विचार कम्पनी खुलवाना था कम्पनी में भाग लेने का न था। मेरे पास न धन था न अनुभव। परन्तु छः सभासद तो मिल गये। सातवां दिखाई न पड़ा। मैनेजिंग बोर्ड की मेम्बरी के लिये

कम से कम एक सहस्र के भाग-क्रय करना अनिवार्य था । अतः उस समय यही उचित समझा गया कि जिस प्रकार हो सके मैं एक सहस्र के भाग मोल ले लूं । ऐसा ही किया गया मैंने आरंभिक २५०) दाखिल कर दिये ।

मैमोरेंडम तैयार भी हो गया और सभा से स्वीकृत भी हो गया । मेरा विचार था कि पहले यू० पी० से आरंभ करूँगा और फिर देश भर में भ्रमण करने का यत्न करूँगा । सन् १९४७ विचित्र वर्ष था । दिन में कई बार बादल आजाते थे और फिर झट तेज़ धूप निकलने लगती थी । हमारे बचपन में बाज़ारों में एक कपड़ा बिका करता था, उसका नाम था "धूप छाँव" । इस वर्ष को भी यदि धूप छाँव का वर्ष कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा । मेरे निकलने में कुछ देर लगी । कुछ हवा चली । कुछ बादल आये और यकायक आस्मान पर अँधेरा छा गया । कानूनी काम तो चलता रहा परन्तु हिस्सों के बेचने का काम शिथिल पड़ गया । नियम यह रक्खा था कि पाँच लाख के हिस्से बेचे जायँगे और जब दो लाख के हिस्से बिक जायँगे और एक लाख कोष में आ जायँगे, तो काम आरम्भ कर दिया जायगा । अंगरेजी की लोकोक्ति है ।

Make the hay when the sun shines.

अर्थात् ज्योंही धूप निकले घास सुखालो ।

बादल आ गये और मेरी घास सूखने के स्थान में सड़ने लगी । जहाँ-जहाँ से आरम्भ करने की आशा थी वहीं से निराशा होने लगी । कई कारणों से मैं इसका विस्तृत वर्णन नहीं करना चाहता । मैं अपनी निराशा का वर्णन कर रहा हूँ । दूसरों की मनोवृत्ति या प्रतिक्रियाओं का नहीं । मैं लगभग चुप बैठ गया । मेरे जी में आया कि योजना को समाप्त कर दिया जाय और

हिस्से वापिस कर दिये जायँ। एक दिन दीवानहाल समाज में श्री लाला नारायणदत्त जी मिले। मैं उदास भी था और उदासीन भी। वह बोले, "हिम्मत क्यों हारते हो? काम शुरू करो। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।" पहले कभी उन्होंने इतने जोश की बात नहीं कही थी। मैंने उनकी मनोवृत्ति को ताड़ा। मुझे ज्ञात हुआ कि देश की विचित्र और आकस्मिक परिस्थिति को देखकर वह मेरी भाँति ही समाज के 'प्रेस' को सुदृढ़ करने की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। बात थी भी ठीक! परन्तु मैं अपने को इस दलदल में फँसाना नहीं चाहता था। दलदल इसलिये कि जब मेरे मन में विचार उठे थे तब तो सूखा था। अचानक पानी की एक बौछार आई। मिट्टी थी नरम। कीचड़ हो गया।

लाला नारायणदत्त जी का रुख़ बदला तो काम शुरू हो गया। श्री ज्ञानचन्द्र जी सेवक बी० ए० लाहौर से आ गये। लाला जी ने उनके हाथों में काम सौंपा और स्वयं देखभाल करने लगे। मैं साधारण सदस्य रहा। लाला जी प्रधान थे। मेरी सहानुभूति कम्पनी के साथ थी। इस कम्पनी का नाम रक्खा गया "सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड।" इसके दो उद्देश्य थे। पत्र निकालना और समाज के साहित्य की वृद्धि करना। थोड़े ही दिनों में दो लाख रुपये के भाग बिक गये। कुछ कम एक लाख कोष में आ गया। कम्पनी को व्यय करने की वैधानिक आज्ञा मिल गई। बीस हजार में एक भूमि पाटोदी हाउस के निकट दरियागंज में क्रय कर ली गई। हिन्दू सभा का सत्तर अस्सी हज़ार का एक प्रेस था, नया। उसको लेने की भी इच्छा थी। परन्तु लिया न जा सका। कारण क्या थे ज्ञात नहीं। यह सब काम तो ला० नारायण दत्त ही करते थे। सब का उन पर विश्वास था।

पहले श्री ला० हंसराज जी के परामर्श से एक हिन्दी दैनिक का विचार हुआ। हिसाब लगाया तो पहली साल बासठ हज़ार का और दूसरी साल ३८ हज़ार का घाटा कूता गया। परन्तु परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि लोग इसके लिये भी तैय्यार थे। काम में धन तो लगता ही है और यदि उद्देश्य पूरा हो तो घाटे की परवाह नहीं होती। फिर भी इतनी हानि की सम्भावना देखकर शायद लाला नारायणदत्त जी ने इतना आगे दौड़ना स्वीकार न किया। और पहले एक साप्ताहिक पत्र 'पुण्यभूमि' निकाला गया। उन दिनों शायद मैं अफ्रीका में था।

उसके थोड़े ही दिनों पीछे मैं दिल्ली से चला आया। जब मंत्री पद से त्याग पत्र दिया तो कम्पनी की डायरक्टरी से भी त्याग पत्र दे दिया। क्योंकि दूर रहकर कम्पनी पर साधारण दृष्टि रखना भी कठिन था। 'पुण्यभूमि' तो घाटे के कारण बन्द हो गया परन्तु कम्पनी के वर्तमान संचालक साहित्य प्रकाशन का काम जोश से कर रहे हैं। अभी महर्षि दयानन्द के जीवन चरित्र का एक सस्ता संस्करण छापा है जिसकी थोड़े ही दिनों में १६ सहस्र कापियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। सत्यार्थ प्रकाश का भी बहुत सस्ता और सुन्दर संस्करण कई सहस्र की संख्या में छप चुका है। दूसरा साहित्य भी छप रहा हैं। फल न सही तो फूल ही सही। फल की भी आशा रखनी चाहिये।

यही आस अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
अइहैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन वै फूल॥

नव-प्राप्त स्वातंत्र्य के प्रति आर्य समाज की नीति

१९४६ और १९४७ का आधा भाग हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों और अंगरेजों के भारत छोड़ने में व्यतीत हुआ। भूमण्डल भर की राज-नीति रूपी माता ने भारत-स्वातंत्र्य रूपी नव-बालक को जन्म दिया। प्रसव वेला जच्चा और बच्चा दोनों के लिये कष्ट प्रद होती है और विशेष कर वह वेला जिसमें कुछ अस्वाभाविक जीवनचर्या का भी उत्तरदायित्व रहा हो। यों तो भारत एक अंश में कभी पूर्णतया परतंत्र नहीं हुआ। हजारों वर्ष की राजनैतिक दासता के दिनों में भी भौतिक अर्थों में गुलाम होते हुये भी भारत ने स्वातंत्र्य के लिये हाथ पैर मारे। परन्तु यह स्वातंत्र्य-प्रसव भी अत्यन्त कष्टदायक था। इसमें आर्य समाज को भी हानि उठानी पड़ी। आर्य समाज की अधिकतर सम्पत्ति तो पंजाब और सिन्ध में थी। वहाँ इसके बड़े-बड़े कालेज, स्कूल, गुरुकुल और अनाथालय थे। करांची में इनके कई मन्दिर और स्कूल थे। लाहौर तो आरम्भ अर्थात् १८७७ ई० से ही आर्य समाज की शक्ति का मुख्य केन्द्र गिना जाता था। सरहद्दी सूबे में पेशावर, रावलपिण्डी आदि में भी बड़ी-बड़ी संस्थायें थीं। जैसे सिक्खों को अपने बड़े-बड़े पवित्र स्थानों से हाथ धोना पड़ा उसी प्रकार आर्य समाजियों को क्षण भर में जीवन भर की कमाई खो देने का बड़ा क़लक़ था। इनके बहुत से आदमी मारे गये थे।

यह अवस्था थी जब नव-जात स्वातंत्र्य का जन्म हुआ। जब कभी बच्चा पैदा होते समय माता मर जाय या मरणासन्न हो जाय उस समय परिवार की जो दशा होती है वही भारत की थी। स्वातंत्र्य प्राप्ति की खुशी थी। भारत की पीड़ा और उसके मरणासन्न होने का दुःख था। यदि आप जेल में हों और अकस्मात् आप से कहा जाय कि अब आप मुक्त हुये, निकलो जेल से परन्तु एक शर्त है फाटक में होकर मत निकलो, इस छोटी सी खिड़की में होकर निकलो जिसके दोनों ओर नुकीली-कीलें निकली हुई हैं, और आप खिड़की में होकर बाहर तो निकल आवें परन्तु शरीर को लोहू लुहान देखें, उसी प्रकार भारतवासी थे। थे तो अंगरेजी जेल के बाहर परन्तु इनका शरीर चारों ओर से छिल गया था। पंजाब में तो शायद ही कोई परिवार है जिसका कोई न कोई प्यारा न मारा गया हो। सम्पत्तिहीन तो सभी हो गये थे। बड़े-बड़े लखपति पोटरी सिर पर धरे झोंपड़ों के लिये तरस रहे थे। लाख के थे पर खाक खाये हुये।

इस प्रकार यह स्वाभाविक था कि स्वातंत्र्य का हर्ष पूर्वक स्वागत न हो। परन्तु एक और भी दृष्टि-कोण था जो राज-नीतिक दृष्टि से अस्वाभाविक या बुद्धिमत्ता-हीन नहीं कहा जा सकता। प्रसव के दृष्टान्त में कुछ विषमता है। प्रायः ९० प्रति-शत मातायें हंसी खुशी बच्चा जनती हैं। परन्तु स्वातंत्र्य तो कभी हसी खुशी नहीं मिला। एक ओर विजय की दुन्दुभि बजती दूसरी ओर वीरों की मृत्यु के शोक पर आँसू बहाने पड़ते हैं। शिवाजी महाराज ने सिंहगढ़ की विजय पर रोते हुये हर्ष मानाया था क्योंकि

गढ़ आला पर सिंह गेला।

अर्थात् गढ़ तो जीत लिया गया परन्तु उनका परम भक्त

वीर ताना जी मारा गया। ट्रैफलगर की विजय पर लन्दन में हर्ष भी मनाया जा रहा था और वीर नेल्सन की मृत्यु पर शोक का समुद्र भी कुछ कम उमड़ नहीं रहा था। संसार के इतिहास में यहीं हुआ है। कई विजयी सम्राटों को अपनी विजय के उत्सव अपने प्रिय पुत्रों की लाश पर मनाने पड़े हैं। यह है राजनीति के इतिहास की परम्परा।

अतः जब १९४७ ई० की १५ अगस्त को स्वतंत्रता का हर्ष मनाया गया तो बहुत से आर्य समाजों में यह प्रश्न था कि आर्य समाज को इस हर्ष में सम्मिलित होना चाहिये या नहीं। इस तिथि से पूर्व सार्वदेशिक सभा की अन्तरङ्ग में यह प्रश्न उठा तो बहुमत स्वातंत्र्य दिवस मनाने के पक्ष में था। कुछ ऐसे भी लोग थे जो उस दिन समाजों में काले झण्डे निकालने के पक्ष में थे। परन्तु ऐसा कहीं किया नहीं गया।

१५ अगस्त को दिल्ली में अन्य स्थानों से कहीं अधिक महोत्सव का जोश था। कई सौ वर्ष के पीछे यह शुभ अवसर आया था कि दिल्ली के लाल किले पर भारतीय झंडा लहराये और भारत का सपूत जवाहर लाल जनता को स्वातंत्र्य-लाभ पर बधाई दे। लाल किले के मैदान में बड़ी भीड़ थी, तिल रखने को जगह न थी।

उसी दिन प्रातःकाल दीवानहाल में भी सार्वदेशिक सभा के आदेशानुसार स्वातंत्र्य दिवस मनाया जाने वाला था। सभा का आदेश था कि उस दिन समाजों में यज्ञ हो और 'ओ३म्' की ध्वजा फहराई जाय। दीवानहाल आर्य्य समाज का मुख्य केन्द्र है। यहां साप्ताहिक अधिवेशनों में भी हाल भरा रहता है दिल्ली में आर्य्य समाज के बड़े बड़े नेता रहते हैं। उन दिनों तो पंजाब से भागकर सभी नेता दिल्ली में आ विराजे थे। परन्तु आर्य्य समाजिक मनोवृत्ति का अनुमान केवल एक बात से लगा

सकता है कि झंडा फहराने के लिये मुझसे उच्च किसी सज्जन का नाम चुना न जा सके। यों तो कहने के लिये मैं भी भूमण्डल की प्रतिनिधि सभा अर्थात् सार्वदेशिक सभा का मंत्री होने के नाते वैयक्तिक रूप से नहीं, वैधानिक रूप से "बड़ा आदमी" गिना जा सकता था। परन्तु जब मैंने हाल में जाकर देखा तो मुट्ठी भर आदमी मक्खी सी मार रहे थे। इसका अर्थ यह था कि किसी प्रकार रसम पूरी करनी थी। मैंने झंडा फहराया। और छोटी सी वक्तृता भी थी। उसमें मैंने कहा कि "आज मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ कि अपने जीवन में भारत भूमि को स्वतंत्र पाता हूँ। मुझे यह आशा नहीं थी कि इसी जीवन में मुझे ऐसा सु-अवसर देखने को मिलेगा" वक्तृता पर कोई हर्ष प्रकट नहीं किया गया। सब ने चुपचाप सुना और दो एक ने तो दबी जबान यह भी कटाक्ष किया कि "आपको आज अपार हर्ष है।"

वस्तुतः मेरा दृष्टि कोण तो यही था जो मैंने ऊपर वर्णन किया। यही राजनैतिक दृष्टिकोण है। यदि नैलसन के समान प्राण निकलते समय भी मेरे कानों में यह ध्वनि पड़ जाती कि हमारी विजय हुई तो मेरा मरना मुझे कम अखरता।

परन्तु आर्य्य समाज में सामान्यतः भीतर भीतर मुझसे विरुद्ध ही भावना थी। प्रथम तो हम कष्टों की पीड़ा में स्वातंत्र्य के लाभों को ठीक-ठीक आंकने में असमर्थ थे। दूसरे "मुस्लिम-नवाज़ी" की नीति ने आर्य्य समाज को कांग्रेस और गांधीजी के विरुद्ध कर दिया था। यद्यपि मैं इस मत का नहीं हूँ तथापि कहा यही जाता था कि पाकिस्तान का समस्त उत्तरदायित्व कांग्रेस के सिर है और कांग्रेस ने पाकिस्तान के बटवारे को स्वीकार करके देश के साथ गद्दारी की है। यह तो ठीक ही है कि पाकिस्तान का बटवारा भारत के लिये अत्यन्त हानिकारक था इसको

कांग्रेस वाले भी स्वीकार करते थे। परन्तु यह भी ठीक है कि पिछले साल के झगड़ों से पंजाब और बंगाल के लोग इतने तंग आ गये थे कि वह यह सोचने लगे थे कि इस मारकाट से तो अलग अलग रहना ही अच्छा है। बंगाल और पंजाब के अप्रेल मई, और जून के पत्र पढ़िये और लगभग सभी हिन्दू नेताओं की मनोवृति का पता लगाइये। तो यह स्पष्ट हो जायगी। हाँ एक भेद अवश्य है। जिनकी इच्छा थी की सीमित पाकिस्तान (Truncated Pakistan) देकर इस झगड़े को समाप्त करो उन्होंने यह नहीं विचारा था कि क्या हमको अपना ही घर देना पड़ेगा। सब यह सोचते थे कि हमारा घर बच जाय। हमारे पड़ोसी का घर दे दिया जाय। पजाब में लाहौर न देने को इच्छा थीं। बंगाल में कलकत्ता अपने पास रखने की। बटवारा हमारे हाथ में तो न था। और न हम अपनी चाही कर सकते थे। यदि उटवारा होता तो कुछ तो देना ही पड़ता। जिसका घर उजड़ता उसी का बुरा बनना था और बुरा बनना था उन्हीं को जिनके हाथ में शासन की बागडोर जानी थी। चाहे वह कोई पार्टी क्यों न होती। इस बार वह पार्टी थी कांग्रेस। अतः कांग्रेस पर ही चोट थी।

तीसरी एक बात और थी। जब बाग लगाया जाता है तो सभी साझीदारों की सहायता की आवश्यकता होती हैं। कोई जमीन जोतता है। कोई क्यारी बनाता है। कोई पौधे लगाता है। कोई सींचता है। और कोई फलों को चिड़ियों से रखाता हैं। परन्तु जब फल लगते हैं और उनके खाने का समय आता है तो सब अपने अपने काम को दूसरे से अधिक मूल्यवान बताकर फसल का उत्तम भाग लेना चाहते हैं। जब भूमण्डल की राजनैतिक परिस्थिति ने भारत-का स्वातंत्र्य अवश्यम्भावी घोषित कर दिया और अंगरेजों की सेनायें भारत से पश्चिम की ओर

जाती दिखाई दीं तो हर एक के मुँह में पानी भर आया। हर पार्टी अपने को मुख्य और दूसरे को गौण बताने लगी। जब मैं शाहपुरा में था तो यकायक एक सज्जन ने सूचना दी कि चर्चिल हार गया और एटली महामंत्री हो गये। उसके थोड़े ही दिनों पीछे स्वराज की घोषणा हो गई। शर्तें निश्चित नहीं हुई थीं। पाकिस्तान का भी प्रश्न पीछे ही पड़ा था। कोई नहीं समझता था कि पाकिस्तान होगा ही। उस समय कुछ राजे और क्षत्रिय यह सोच रहे थे कि यदि अंगरेज़ चले जायं तो हमको अपने अपने राज्यों के बढ़ाने और सुदृढ़ करने का अवसर मिल जाय। किस प्रकार उनके पूर्वजों से उनकी सम्पत्तियाँ छीनीं गईं थीं, यह बात उनको पुनः स्मृत हो रही थी। यों कहिये कि भीतर भीतर आग सुलग रही थी। कांग्रेस का ज़ोर था। शासन की बागडोर उसी के हाथ में आनी थी। अतः सबके विरोध का निशाना भी कांग्रेस ही थी। गली कूंचे में यह कहा जाता था "क्या हुआ कि कांग्रेस की कोशिशों से स्वराज मिला। लड़ाई जीतने वाला तो चर्चिल था, फिर भी इंग्लैण्ड ने उसे कोने में बिठाकर एटली को प्रधान मन्त्री बनाया। गांधी जी का काम समाप्त हो गया। अब इनसे कहो कि राम नाम जपें। शासन यह नहीं कर सकते।" आर्य समाज के पंच भी यही चिल्लाते थे। "गांधी जी पूजे जाने के योग्य हैं। बूढ़ी नानी के समान इनकी पूजा करो। परन्तु इनका अनुसरण ठीक नहीं है।" १५ अगस्त से पांच छः दिन पूर्व श्री वीर सावरकर जी के सभापतित्व में हिन्दू महासभा के भवन में एक अखिलदल सम्मेलन हुआ था जिसमें कांग्रेस को छोड़कर और कई दल के लोग सम्मिलित थे। भरतपुर पटियाला आदि के शासक या उनके प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। मैं भी उस समय मंच पर उपस्थित था। मुझे तो यह लगा कि हर एक अपने स्वार्थ की बात कहता था जो सर्वथा एक दूसरे से भिन्न थी।

सामानता केवल एक बात में थी अर्थात् कांग्रेस के विरोध में। देखने वाले उस समय देख सकते थे कि हवा का रुख किधर को है।

आर्य समाज में भी उस समय एक दल था। जो बिना देखें भाले राजनीति में कूदना चाहता था। उनका कहना था कि भारत जब स्वतंत्र हो गया तो इसका शासन स्वामीजी के 'सत्यार्थ-प्रकाश' के छठे समुल्लास और वैदिक पद्धति के अनुसार होना चाहिये। आर्य समाज के मुख्य नेता इसको सुगम और व्यवहार्य नहीं समझते थे। उनकी आदिकाल से यहीं नीति रही है कि आर्य समाज के विधान को राजनीति के दलदल से अलग रक्खा जाय। उनका कहना है कि वैदिक शासन की कामनायें तो शुभ हैं परन्तु उनको व्यवहार में लाने के लिये परिस्थिति भी तो होनी चाहिये। बिल्ली के गले में घंटी बंध जाय तो अच्छा, परन्तु बंधे कैसे? जब आर्य समाज में यह प्रश्न उठा तो इसके विचार के लिये 'सार्वदेशिक सभा' ने एक उपसमिति बनाई। उससे भी पूर्व जनता की मांग हुई कि एक विराट सभा बुलाई जाय और उसमें नीति निर्धारित की जाय। मैंने यह प्रस्ताव किया था कि बड़ी सभा बुलाने से पूर्व कुछ लोगों की एक अवैधानिक कमेटी बुलालो और ढाँचा तो सोच लो कि क्या करना अभीष्ट है। हजारों की भीड़ में यह काम कैसे सम्पन्न होगा। एक बार कुछ मुख्य लोगों को पत्र लिखे गये। यह निश्चित हुआ कि श्री देशबन्धु जी के घर पर चाय पार्टी की जाय और वहीं आरम्भिक बात चीत चले। वहाँ अधिक लोग नहीं आये। विशेष कर मुख्य लोग। हम लोग मिठाई खाकर और चाय पीकर लौट आये। मुझे एक चिंता थी। मैं कहता था कि पहले अपनी इच्छाओं को भी तो निश्चित कर लो कि क्या चाहते हो और उसको किस प्रकार प्राप्त कर

सकोगे। यह भावना औरों की नहीं थी। मेरा एक व्यावहारिक प्रश्न यह भी था कि 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'वैदिक पद्धति' के अनुसार वर्तमान भारत की परिस्थिति में शासन व्यवस्था क्या होनी चाहिये। यह बात निश्चित रूप से नहीं तो *लगभग* निश्चित रूप से अवश्य मालूम होनी चाहिये। अतः मैंने निम्न-लिखित प्रश्नावली बनाई और आर्य समाज के सभी नेताओं की सेवा में भेजी। विशेषकर उनकी जिनकी ध्वनि सब से अधिक थी। परन्तु मैंने आश्चर्य और खेद से देखा कि रचनात्मक विचार के लिये कोई तैयार न था।

आर्य्य समाज के राजनीतिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रश्नावली

१—वैदिक राजनीतिक दार्शनिक आधार क्या हैं ?

२—राजनीति के वर्तमान दार्शनिक आधारों में और इसमें क्या भेद है ?

३—चक्रवर्ती राज्य से क्या तात्पर्य है ?

४—जनतन्त्रवाद का चक्रवर्ती राज्य से कैसे समन्वय होता है ?

५—राजा का क्या अर्थ है ? दशरथ के समान राजा या अमेरिका के प्रेसीडैण्ट के समान ?

६—राजा की वंशानुगतता कहाँ तक विहित और किन दिशाओं में निषिद्ध है ?

७—देश के नर-नारी का देश के शासन में कहाँ तक अधिकार है और उस अधिकार को किस प्रकार व्यक्त किया जाय ?

८—देश के नर-नारी देश के शासन में किस २ दशा में कोई अधिकार नहीं रखते।

९—रिपब्लिक और फैडरेल रिपब्लिक में कौन सा वैदिक सिद्धान्त के निकटतर है ?

१०—यदि किसी देश के सम्पूर्ण निवासी या बहुसंख्यक आर्य्य हों तो वह किस प्रकार का विधान बनायेंगे ? और अल्प संख्यक अन्य मतावलम्बियों या विदेशीय अन्य मतावलम्बियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध होना चाहिये ?

११—जिस देश में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी (Religions) रहते हों, वहाँ प्रत्येक को देश के शासन में क्या अधिकार होना चाहिये ?

१२—भारतवर्ष में वर्तमान परिस्थिति में क्या शासन विधान होना चाहिये ?

१३—आर्य्य समाज का उस शासन में कितना भाग होना चाहिये ?

१४—क्या भारतवर्ष के शासन विधान के निर्माण और शासन मे प्रत्येक नर-नारी का नर-नारी के समान्थ व्यक्तित्व के हिसाब से सीधा हाथ होना चाहिये या प्रतिनिधि द्वारा ।

१५—यदि प्रतिनिधि द्वारा हो तो प्रतिनिधित्व का क्या रूप हो ?

१६—प्रतिनिधित्व वैयक्तिक हो अथवा श्रेणियों द्वारा ।

१७—यदि श्रेणियों द्वारा, तो श्रेणियाँ धार्मिक आधार पर हों अथवा आर्थिक और श्रमिक आधार पर ?

१८—रूस, फ्रान्स, स्विटजरलैण्ड, अमेरिका आदि के जनतंत्रवाद से वैदिक शासन पद्धति किस-किस अंश में समान और किस-किस अंश में भिन्न होगी ?

१९—विदेशियों से भारतीयों का किस प्रकार का सम्बन्ध आर्य्य समाज के सिद्धान्तों के अनुकूल होगा ?

२०—भारतीय शासन में किन-किन विचारों या कृत्यों को वर्जनीय समझा जाना चाहिये ?

२१—क्या कोई सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट आर्य्य समाज का सभासद् रह सकता है ?

जिस उपसमिति का मैंने ऊपर उल्लेख किया है वैठी। अकस्मात् मैं उस दिन का सभापति चुन लिया गया। सभा का नाम 'राजार्य सभा' रक्खा और यह निश्चित हुआ कि वैदिक शासन पद्धति की रेखा तैयार की जाय जिसकी निश्चित रूप से अन्य शासन-पद्धतियों के ऊपर उच्चता सिद्ध की जाय और यह यत्न किया जाय कि इसके अनुसार विधान बनाया जाय (२) राजार्य सभा के चलाने के लिये नियम बनाये जायँ। मेरी सम्मति में पहली बात बहुत आवश्यक और परम मुख्यता रखती थी। उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। था भी कठिन काम। दूसरी पद्धतियों का खण्डन कठिन न था। परन्तु अपना पक्ष नियत करना कठिन था। दूसरी बात सरल थी। वह तैयार हो गई। परन्तु नियम जो बने मुझे अत्यन्त दूषित प्रतीत हुये। उनमें 'राजार्य सभा' को अखिल भारतीय रूप दिया गया था और छोटे समाज से लेकर ऊपर 'सार्वदेशिक' तक दो समाजों का विधान समानान्तर चलता था। अर्थात् हर स्थान पर एक आर्य समाज हो और दूसरी राजर्य सभा। इसी प्रकार प्रान्तों में प्रान्तीय दो सभायें और केन्द्र मे सार्वदेशिक दो सभायें। इसको मैं दूषित ही नहीं अत्यन्त भयावह समझता था। यदि कहीं ऐसी सभा नियत हो जाती तो प्रत्येक स्थान पर दो समानान्तर सभायें होतीं और हर बात पर उनके झगड़े होते। एक ही क्षेत्र में समानान्तर दो शक्तियों से भयानक दूसरी कोई चीज़ हो नहीं सकती चाहे उनके उद्देश्य कितने ही समान क्यों न प्रतीत होते हों। मैंने इन नियमों की आधार भूत वृत्ति का विरोध किया। दूसरों को यह बात साधारण प्रतीत होती थी। मेरे लिये यह मौलिक प्रश्न था। विरोधी था मैं ही अकेला। पक्के पक्षपाती तो दो ही एक थे। परन्तु जो तटस्थ थे वह भी व्यावहारिक रूप से मेरे विरोधी ही थे। अतः मैंने त्याग पत्र दे

दिया। जिस समिति के मूल से ही मैं सहमत न हूँ उसमें तटस्थ रहना भी मेरे लिये असंभव हो जाता है। मैं अलग हो गया। परन्तु सभा मन्दगति से चलती रही।

इसी बीच में आर्य्य सामाजिक राजनीतिज्ञता की एक और धारा फूट निकली। एक दिन मेरे मित्र श्री ला० हरशरण दास जी रईस गाज़ियाबादी दिल्ली पधारे और मुझसे और मेरी पत्नी जी से कहने लगे कि हमारे यहाँ यज्ञ होगा। तुम दोनों आओ। कुछ अन्य मित्रों को भी बुलाया है। आर्य्य समाज की प्रगति पर बात-चीत भी करेंगे।

निमंत्रणानुसार हम दोनों गाजियाबाद पहुँचे तो बड़ी धूम-धाम देखी। नगर के बाहर लाला जी के एक खेत में शामियाना लगा हुआ था। कई राजनीतिज्ञ पधारे हुये थे, यज्ञ तो शायद किसी बड़ी योजना का प्रतीक मात्र प्रतीत होता था। सभा आरम्भ हुई। अध्यक्ष बनाये गये श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज। कार्यवाही का आरम्भ हुआ सार्वदेशिक सभा की रीति नीति की विरोधात्मक आलोचना से। मैंने और पं० धर्मदेवजी ने कुछ कहना भी चाहा। परन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि समस्त अन्य उपस्थित सज्जन किसी विशेष योजना को लेकर इकट्ठे हुये हैं। प्रस्ताव का निष्कर्ष यह था कि एक 'लोक-संघ' की स्थापना की जाय। मैंने जो बात चीत सुनी (कहने का तो अवसर ही न था) उससे मुझे बड़ा ग़ोलमाल दिखाई दिया। श्री लाला नारायणदत्त जी भी मध्याह्न में आये और चले गये। मैं भी सभा को होता छोड़कर ही दिल्ली लौट आया। लाला जी के खेत के गन्नों को छोड़कर मुझे कोई चीज़ मीठी या रसीली न लगी। गन्ना खाते समय मेरे साथियों को भी विनोद का अवसर मिल गया। जब मैं कड़े चीनी बनाने वाले गन्नों को खाने लगा तो ७० वर्ष के

लगभग अवस्था वाले बूढ़े को गन्ना खाते देखकर कई मित्र तमाशा देखने के लिये इकट्ठे हो गये।

इस तमाशगाह आलम में गये थे शौक से
हम तमाशे के लिये, खुद ही तमाशा हो गये।

शाम को श्री पं० इन्द्र जी को जो सभा के प्रधान थे जब मैंने यह सब कथा सुनाई तो वह कहने लगे, "आप वहाँ गये ही क्यों थे ?" 'लोक-संघ' बन गया और जोर से चलने लगा। एक दिन दीवानहाल में श्री स्वामी आत्मानन्द जी से बात चली तो मैंने उनको स्पष्ट कह दिया कि आपने 'लोक-संघ' का अध्यक्ष बन कर गलती की है। आपके नाम से गोलमाल होगा और आपकी बदनामी होगी। उन्होंने मुझको उत्तर दिया की मैं बहुत सावधानी से काम लूँगा और विशेष नियंत्रण रक्खूँगा। मैं तो जानता था कि उनके लिये ऐसा करना असम्भव होगा। उस दिन के बाद स्वामी से भेंट न हो सकी। पता नहीं कि उनको मेरी बातों का स्मरण रहा या नहीं और उनका अनुभव क्या निकला। परन्तु यह तो संसार ने देखा कि प्रथम तो उपर्युक्त 'राजार्यसभा' का नाला शीघ्र ही 'लोक-संघ' की गंगा में जाकर विलीन हो गया। और 'लोक-संघ' की लम्बी चौड़ी और जोर से कलकल करती हुई धारा कुछ दूर की यात्रा के पश्चात् बंगाल के खाल में गिरकर निर्वाण को प्राप्त हो गई।

मैं कभी कांग्रेस का सदस्य नहीं रहा। अन्य राजनैतिक संस्थाओं का भी नहीं। मैंने राजनैतिक पुस्तकों का तो अध्ययन किया है। यूरोप की भी और भारतीय की भी। परन्तु मैं इस शास्त्र का पंडित नहीं हूँ। यह प्रवृति का प्रश्न है। पच्चीस वर्ष पूर्व मैं हिन्दू सभा के सम्पर्क में आया था। परन्तु मेरा दृष्टिकोण तो सदैव आर्यसामाजिक रहा

और वही मेरा कार्य क्षेत्र रहा है। हिन्दू सभा की नीति मुझे कुछ अनिश्चित सी लगी। काँग्रेस की भी मैंने उन प्रवृत्तियों का विरोध किया जो आर्य समाज के काँग्रेस में विलीन हो जाने के पक्ष में थीं। परन्तु मुझे पहले से ही यह विश्वास था कि यदि कभी स्वाराज-प्राप्ति में सफल होगी तो काँग्रेस। मैं नर्म और गर्म सभी प्रकार की राजनैतिक प्रगतियों पर दृष्टि डालता रहा हूँ। और बहुत सी बातों में काँग्रेस से सहमति प्रकट करना भी मेरे लिये संभव नहीं रहा। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि जिन आर्य समाजियों ने काँग्रेस का साथ दिया वह बुद्धिमान थे और जिन्होंने पीछे से निर्वाचन सम्बन्धी वैफल्य अथवा अन्य छोटे-छोटे कारणों से काँग्रेस को छोड़ दिया उन्होंने बड़ी भूल की। इसका यह अर्थ नहीं कि काँग्रेस की नीति वैदिक नीति है। काँग्रेस की नीति तो सर्वथा वैदिक तभी हो सकेगी जब समस्त भारत आर्य समाजी हो जाय। जब तक ऐसा नहीं होता उस समय तक आर्य समाज को भी गैर-आर्य समाजी भावनाओं का सम्मान करना पड़ेगा। जो लोग इस सूक्ष्म बात को समझ नहीं सकते उनसे मुझे आर्य समाज या देश के कल्याण की आशा नहीं है।

स्वतंत्रता के जन्म से ही इस विषय में आर्य समाजियों की ओर से भूल होती रही। आर्य समाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक सभा या अन्य सभाओं ने वैधानिक रूप से इस विषय का कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया परन्तु आर्य समाज के नेताओं तथा उपदेशकों ने आर्य समाजी मंच से किसी न किसी रूप में काँग्रेस की लगभग सभी बातों का विरोध किया है।

सब से पहला विरोध हुआ शासन के 'सैक्यूलर' होने पर। युक्ति यह थी कि जब पाकिस्तान मुसलमानी राष्ट्र हो गया तो

भारत को 'हिन्दू राष्ट्र' होना चाहिये। 'सैक्यूलर' शब्द के धात्वर्थ कुछ भी क्यों न हों, शासन शास्त्र में सर्वसम्मत और सर्वसम्मानित अर्थ यह है कि शासन के किसी विभाग में भी किसी मनुष्य के अधिकार उसके *धर्म के आधार पर* कम या अधिक नहीं होने चाहिये। इस परिभाषा के अनुसार आर्य समाज भी एक 'सैक्यूलर' संस्था है और वैदिक धर्म एक 'सैक्यूलर' धर्म। मुसलमान मानते हैं कि एक फ़ासिक और फ़ाजिर मुसलमान महात्मा गाँधी से उत्कृष्ट है, स्वामी दयानन्द के मत में यह बात अन्याय पूर्ण, अवैदिक और अधर्म है। जिन विद्वान आर्य समाजियों ने "सैक्यूलर" शब्द के अधार्मिक, विधर्मी, अनीश्वरवादी, जड़वादी या अन्य इसी प्रकार के अर्थ किये उन्होंने अनर्थ किया। मुझे तो आर्य समाज का कल्याण भी इसी में मालूम होता है कि न केवल भारतवर्ष में ही 'सैक्यूलर' सरकार हो अपितु सर्वत्र। आर्य समाज और वैदिक संस्कृति राजनैतिक स्वातंत्र्य के साथ-साथ धार्मिक स्वातंत्र्य का भी पक्षपाती रहे। स्वामी दयानन्द ने अनेक मतमतान्तरों का केवल इसलिये खण्डन किया है कि वह धार्मिक स्वातंत्र्य को अपने में स्थान नहीं देते। यदि आज भारतीय शासन हिन्दू शासन हो जाय तो आर्य समाज भारत में भी घाटे में रहेगा और भारत के बाहर भी। जब अफगानिस्तान में एक कादियानी को उसके धार्मिक विचारों के कारण प्राण-दण्ड दिया गया था तो समस्त आर्य समाजों ने विरोध किया था।

एक बात और है जिसको भी याद रखना चाहिये। यदि आर्य्य समाज की नीति काँग्रेस-विरोधिनी न होती या न रहे तो काँग्रेस को 'मुस्लिम नवाज़ी' की कम ज़रूरत पड़े और वह 'मुस्लिम नवाज़ी' के दोष से अधिक मुक्त रह सकें।

गाँधी जी को मैं बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ। वह माली सबसे बड़ा भाग्यवान है जो स्वयं अपने लगाये हुये वृक्षों पर

फल आता देखले। महात्मा तिलक, ला० लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, महामना मालवीय, महात्मा गोखले आदि आदि बाग़ को सींचते-सींचते ही मर गये। गाँधी जी अपनी आँख से देख सके कि भारत स्वतंत्र हो गया। यह बड़ी बात थी। परन्तु यदि गाँधी जी को सफलता नहीं हुई तो 'हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य' में। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि 'हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य' महात्मा गाँधी की अपनी निकाली हुई नीति न थी। काँग्रेस इस नीति को आरम्भ से बरतती आई थी। जब काँग्रेस खुली तो मुसल्मानों ने सर सय्यद अहमद के नेतृत्व में पृथकता ग्रहण की। उस समय लोगों ने उनको मिलाने की कोशिश की। महात्मा गोखले कहा करते थे कि त्रिभुज की दो भुजायें मिलकर तीसरे से बड़ी होती हैं। हिन्दू मुसल्मान और अंगरेज भारतीय राजनीति रूप त्रिभुज की तीन भुजायें हैं। अंगरेज और मुसल्मान मिलकर हिन्दुओं से बढ़ जायंगे। और हिन्दू, मुसल्मान मिल कर अंगरेजों से। यह दृष्टान्त भ्रान्तिपूर्ण है। मुसल्मान इसका लाभ उठाते रहे।

तफ़रक़ै बाज़ी व फ़िरक़ै बाज़ी में किस तरह क़ौमियत बनेगी।
जा शाख़े नाज़ुक पै आशियाना बनेगा ना पाइदार होगी॥

राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिकता के विष से दूर ही रखना चाहिये। यह काम कठिन है परन्तु विश्व-संशोधिनी संस्था आर्य्य समाज को तो इसका ध्यान रखना ही पड़ेगा। अन्यथा सम्भव है कि आर्य्य समाज को क्षणिक अभ्युदय की प्राप्ति हो जाय। परन्तु उसको हम आर्य्य समाज की तात्त्विक उन्नति न कह सकेंगे।

रह रास्त बुरो अगर्चि दूरस्त।
गन्तव्यं सत्यमार्गेण दीर्घेणापि सदा बुधैः।

———

शुद्धि-आन्दोलन

आर्य समाज की भाषा में 'शुद्धि' शब्द का पारिभाषिक अर्थ यह है कि जो लोग या उनके पूर्वज वैदिक धर्म को त्यागकर अन्य धर्मों को ग्रहण कर चुके हैं उनको यदि वह स्वीकार करें तो फिर वैदिक-धर्म में प्रविष्ट किया जाय। और शुद्धि आन्दोलन का अर्थ है समस्त जगत् को वैदिक धर्म ग्रहण करने के लिये मौखिक या लिखित समस्त शिष्ट और वैधानिक उपायों द्वारा प्रेरणा करना।

आरम्भ में सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय और सभी यही करते हैं। यह तो स्पष्ट ही है। यदि ऐसा न होता तो उनका आरंभ ही न हो सकता। जब नानक पंथ का आरम्भ हुआ होगा तो पहले लोगों को प्रवृष्ट होने की प्रेरणा की गई होगी और जब लोग आने लगे होंगे तो उनके प्रवेश के नियम बनाये गये होंगे। जब लिंगायत पन्थ चला तो उनके गुरू वासप्पा ने भी यही किया। जैनियों के प्रथमाचार्य महावीर स्वामी और बौद्धों के आदि गुरू गौतम बुद्ध ने भी इसी नीति का अवलम्बन किया। परन्तु कुछ दिन पीछे हिन्दुओं की नीति बदल गई। इन्होंने अपने को इतना पवित्र और दूसरों को इतना अपवित्र समझा कि कोई गैर हिन्दू इस जन्म में हिन्दू हो ही नहीं सकता। उसको निर्मल बनाने और हिन्दू-कल्पित-पवित्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए मृत्यु और पुनर्जन्म की भट्टी में से गुजरना पड़ेगा। फिर भी क्या गारंटी है कि इस कठोर अग्नि परीक्षा के पीछे कोई धोबी संकेत की उंगली न उठा बैठे और उस विचारे को फिर हिन्दू धर्म छोड़ कर अन्यत्र धक्के खाने पड़ें।

यह चक्र लगभग दो हजार वर्ष से भी अधिक से चला आता है। इसने हिन्दू जाति को केवल क्षीण ही नहीं किया अपितु अपवित्र भी कर दिया। कहते हैं किसी ब्राह्मण की उंगली पर किसी चुहिया ने पेशाब कर दिया। वह था पवित्रता का साक्षात् अवतार। उसने सोचा कि ऐसा अपवित्र अङ्ग मेरे शरीर का अवयव नहीं रह सकता। इसको काटकर फेंक देना चाहिये। पास में एक लोहार रहता था। वह उस समय अपनी निहाई पर लोहा पीट रहा था। मतिमान ब्राह्मण जी उससे जाकर बोले, "मेरी इस उंगली को हथौड़े से काट दे।"

"क्यों महाराज क्या हुआ ?"

"हुआ क्या ? चुहिया मूत गई।"

"तो फिर ?"

"फिर, फिर, क्यों करता है। जल्दी से इसे काट अन्यथा इसकी अपवित्रता तो शरीर के शेष भाग को भी अशुद्ध कर देगी।"

"पानी से क्यों नहीं धो डालते ? मिट्टी लगाकर उंगली को मांज डालो।"

"नहीं, नहीं, नीच लोहार तू ब्राह्मणों की बात क्या समझे ? जानता नहीं हम बाला के शुक्ल हैं। हमसे ऊँचा ब्राह्मणों में कोई नहीं होता। हम अपवित्रता को तनिक भी सहन नहीं कर सकते।"

"आप अजीब ब्राह्मण हैं। मैंने बहुत से पवित्र ब्राह्मण देखे, आज तक कोई मेरे पास उंगली कटवाने नहीं आया।"

"मूर्ख तू क्या जाने ? बक बक करेगा तो हम तुझको सराप देकर भस्म कर देंगे। ख़बर है कुछ तुझे। ब्राह्मण ने विष्णु महाराज की छाती में ऐसी लात मारी कि छाती में निशान पड़

गया। परसराम को जब क्रोध आया तो दुनिया भर के क्षत्रिय लोग काँपने लगे। हम हैं उन ब्राह्मणों की सन्तान। जल्दी कर उंगली काट।

लोहार ने पंडित जी महाराज की उंगुली को निहाई पर रक्खा और धीरे से एक हथौड़ा मारा। उँगली में पीड़ा हुई तो ब्राह्मण देवता चिल्लाने लगे और उँगली को मुँह में दे लिया।

यह थी हिन्दुओं की पवित्रता की कसौटी। कहते हैं कि सम्राट अकबर ने बीरबल से कहा था "क्या तुम हमको हिन्दू बना सकते तो"। इसके उत्तर में बीरबल एक दिन गधे को साबुन लगा कर निहलाने लगे। अकबर ने पूछा "क्या कर रहे हो ?"

"महाराज ! मैं इस गधे को बछड़ा बना रहा हूँ।"

"कहीं गधा नहलाने से बछड़ा बनता है ?"

"नहीं बनता तो एक मुसलमान हिन्दू कैसे बन सकता है ?"

स्वामी दयानन्द ने इस अवस्था को देखा। मुसलमान प्रतिदिन बढ़ रहे ? ईसाई बढ़ रहे। दुनिया बढ़ रही। घट रहे हिन्दू दास। इनकी दशा यह थी। किसी ने मुसलमान का छुआ पानी पी लिया, "चल निकल ! तू आज से मुसलमान हैं।" कोई विधवा घर वालों के अत्याचार से तंग आकर किसी मुसलमान के चंगुल में जा फँसी, "चल निकल, तू हिन्दू नहीं रह सकती।" स्वामी दयानन्द ने कहा, "अरे मूर्खो, जागो। अपने पैर में कुल्हाड़ी मत मारो। इनको शुद्ध कर लो। यदि दूसरों के क़लमें में यह बल है कि गैर-मुस्लिम मुसलमान हो जायँ तो क्या तुम्हारी गंगा, तुम्हारी गायत्री, तुम्हारे गुरुमंत्रों में कोई बल नहीं कि किसी को हिन्दू बना सको।" किसी की समझ में नहीं आया।

"दयानन्द प्रच्छिन्न ईसाई है। यह हिन्दुओं को भ्रष्ट करना चाहता है।"

जब मैं वैदिकाश्रम अलीगढ़ में रहता था तो एक युवक ने शुद्धि के अवसर पर किसी शुद्ध हुये मुसलमान के हाथ के बताशे खा लिये। शोर मच गया, उसके मां बाप उसे चारों धाम के तीर्थ करा लाये तब भी विचारे को बिरादरी में लेने से लोग आनाकानी करते रहे।

परन्तु आर्य समाज की तीन चौथाई शताब्दी की निरन्तर कोशिशों का यह नतीजा हुआ कि हिन्दुओं के भी कान खुले। वह भी निस्स्वार्थ भाव से नहीं। जब राजनैतिक अधिकार देने का प्रश्न उठा तो मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार से कहा कि संख्या के अनुपात से सीटें देनी चाहिये। भंगी, चमार, नीच जातियाँ हिन्दू नहीं हैं। उनको न हिन्दू छूते हैं न अपने मन्दिरों में घुसने देते हैं। इसको हिन्दुओं से अलग गिना जाय। हिन्दू मुसलमानों से संख्या में अधिक नहीं है और उनको सीटें भी अधिक नहीं मिलनी चाहिये।"

जाति से सीटें अधिक प्यारी थीं। जो काम आर्य समाज से न हो सका मुसलमानों की एक धमकी से हो गया। आर्य समाज का दरवाजा खटखटाया जाने लगा, "आप बड़े अच्छे है। शुद्धि करते हैं। आप हिन्दू जाति के संरक्षक हैं। चौकीदार हैं।"

आर्य लोगों ने इतने को भी ग़नीमत समझा। शुद्धि का काम आगे बढ़ा। १९२० ई० में जब मौपला विद्रोह हुआ और उन्मत्त मौपलों ने सैकड़ों हिन्दू नर नारियों को या तो मुसलमान बना डाला या उनकी लाशों से कुयें भर दिये तो लोगों को निश्चय हो गया कि आर्य्य समाज के अतिरिक्त और कोई संस्था हिन्दुओं को मुसल्मानों के हाथ से बचा नहीं

सकती। उन दिनों शुद्धि का काम इतने जोर से चला कि देश भर में धूम मच गई। मलकाने राजपूत जो इसलामी शासन के दिनों में कई कारणों से मुसल्मानों के बाड़े में ढकेले जा चुके थे और इनके नाम, काम, रस्म रिवाज, रहन, सहन, आचार विचार अन्य हिन्दुओं से भिन्न न थे, भरतपुर मथुरा आदि प्रान्तों में हज़ारों की संख्या में शुद्ध होकर राजपूत बन गये। उससमय स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, महात्मा नारायण स्वामी जी और उनके सैकड़ों आर्य्य भक्त शुद्धि के काम में जुट पड़े। यहाँ तक कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का काल्पनिक स्वप्न देखने वाले महात्मा गाँधी और अन्य काँग्रेसी नेताओं के पीठ भी हिल गये। परन्तु परिस्थिति ऐसी विकट थी कि पं० मदन मोहन मालवीय तथा अन्य सनातन धर्मियों को भी आर्य्य समाज के साथ सहयोग देने के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं सूझता था। एक ओर तो यह प्रश्न था कि यदि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के मोती में बाल पड़ा तो स्वराज्यप्राप्ति असम्भव हो जायगी। दूसरी ओर सोचते थे कि हिन्दू न रह गये अथवा आधे रह गये तो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का ही क्या अर्थ होगा। मुसल्मानों का मुसल्मान बनाने का काम जारी था। शंका केवल हिन्दुओं के ही सम्बन्ध में थी। शुद्धि के विरुद्ध युक्तियाँ यह थीं :—

(१) धर्म आत्मा का विषय है। शुद्धि ऊपर का कृत्य है। इससे आडम्बर बढ़ता है।

(२) हिन्दू धर्म कभी प्रोस्लिटाइजिंग रिलीजन (Proselytising religion) अर्थात् दूसरों को मिलाने वाला धर्म नहीं रहा।

(३) दूसरों को अपने धर्म में मिलाने से शुद्ध दूध में गंदला पानी मिलने के तुल्य धर्म नष्ट हो जाता है।

(४) यदि मुसल्मान लड़कियाँ हिन्दुओं से विवाह करेंगी तो उनकी सन्तान में मुसल्मान रजवीर्य के परमाणु रहेंगे और हिन्दू जाति विकृति हो जायगी।

(५) मुसल्मानों को नाराज नहीं करना चाहिये।

(६) व्यक्तिगत शुद्धि हो भी जायँ। कुछ हानि नहीं। परन्तु शुद्धि आन्दोलन होने से देश की शान्ति भङ्ग होती है।

(७) आर्य्य समाज प्रलोभन देकर शुद्धि करता है। यह न्याय संगत नहीं है।

इसके उत्तर में आर्य्य समाज का कहना था कि :—

(१) आत्मा का विषय शरीर के विषय से अलग नहीं हो सकता। शरीर का आत्मा पर और आत्मा का शरीर पर प्रभाव पड़ता है! तभी तो आर्य्य समाज ने जिनको शुद्ध किया उनके आन्तरिक आचार भी अधिक पवित्र हो गये। वह माँसाहार और गोमाँसाहार से परहेज करने लगे। इससे हिन्दू-संस्कृति के संरक्षण की पुष्टि हुई।

(२) यह कहना सर्वथा मिथ्या हैं कि हिन्दू धर्म ने कभी किसी बाहर वाले को अपने में नहीं मिलाया। अति प्राचीनकाल में तो आर्य्यों ने पूर्व और पश्चिम दोनों ओर पहाड़ों और समुद्रों को लाँघ कर दूरस्थ और निकटस्थ द्वीपों में अपने धर्म का प्रसार किया। मध्यकाल में भी बौद्धों का लंका, ब्रह्मदेश, स्याम, आदि में तथा ईरान, आदि में अपने धर्म का प्रचार करना सिद्ध करता है कि बाहर के लोग हिन्दुओं में मिलते रहे। हूण, शक, आदि कई जातियाँ जो बाहर से भारत पर आक्रमण करने आईं वह हिन्दुओं में ऐसी हिल मिल गईं कि उनका पता खोजना भी कठिन है। शिवाजी ने कई मुसल्मानों की शुद्धि की थी।

(३) दूध पानी का दृष्टान्त ठीक नहीं हैं। अब भी हिन्दू धर्म रूपी दूध में मुसल्मानी रस्मों का गंदला पानी मिल चुका है, जैसे पीर-परस्ती, ताजिया-परस्ती, मियों की जात इत्यादि। हिन्दू स्त्रियाँ मुसल्मान नमाज़ियों से फूँक दिलाने के लिये नित्य मस्जिदों के दरवाज़ों पर देखी जाती हैं।

(४) मुसलमान वेश्याओं के साथ संपर्क रखने वाले राजे महराजे, धनी मानी रईस, व्यापारी अपने रक्त को अब भी पर्याप्त मात्रा में विषैला कर चुके हैं। उनके आचार विचार ही बता रहे हैं कि उनका रक्त कितना शुद्ध है। अतः शुद्धि के विरोध में असार युक्तियां देना और नये नये दृष्टान्त गढ़ना ढकोसला मात्र है। इनका रज-वीर्य जितना शुद्ध है उतना जगद्विख्यात है। अलमिति विस्तरेण।

(५) मुसलमानों में जब हिन्दुओं के मुसलमान बनाने की प्रथा जारी है तो न्याय चाहता है कि मुसलमान भी हिन्दुओं से उसी प्रकार का काम करने में नागज न हों।

(६) जिस प्रकार हम एक व्यक्ति को शुद्ध होने से इनकार नहीं कर सकते उसी प्रकार उसके परिवार और उसके सम्बन्धियों को शुद्ध करने से भी इनकार नहीं कर सकते। किसी मनुष्य को शुद्ध करके यह शर्त लगाना कि उसके अन्य सम्बन्धी उसका साथ न दें कभी युक्ति संगत नहीं है। मुसलमानों ने नगर के नगर और देश के देश बलात्कार एक साथ मुसलमान बनाये हैं। जैसा कि मुहम्मद साहेब के पश्चात् का कई शताब्दियों का इतिहास साक्षी देता है।

(७) आर्यसमाज किसी पर बलात्कार नहीं करता। प्रलोभनों के लिये तो आर्य समाज के पास है ही क्या? न देश,

१६

न सम्पत्ति, न अधिकार, न जागीरें, न नौकरियाँ। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कई मलकाने सरदारों को कांग्रेस के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा, "इनसे पूछो। हमने क्या प्रलोभन दिये हैं और कहाँ तक इन पर बलात्कार किया है ?"

यह थी शुद्धि-आन्दोलन की प्रगति। परन्तु चीते की पीठ के धब्बे एक साथ ही तो नहीं चले जाते। सनातन धर्मियों की सहानुभूति ऊपरी थी। वह शुद्ध हुओं को पचाने में असमर्थ थे। उनके पंडित संस्कार करा देते थे परन्तु हुआ खाते नहीं थे। बहुत से घर आकर कपड़े बदल डालते थे। बहुत से देवालयों में इनको प्रविष्ट कराने के पश्चात् भी समस्त भवन को गंगाजल से धोया जाता था। इससे शुद्धि-आन्दोलन को बड़ी क्षति पहुँची। और स्वयं आर्य समाजियों में भी यह निर्बलतायें बनी रहीं। लाभ केवल एक हुआ कि शुद्धि के विरुद्ध जो कोलाहल मचा करता था वह बन्द हो गया और राजनीतिज्ञों का दृष्टि-कोण बदल गया।

आर्य समाज ने भी एक भूल की। इसके प्रचार का अधिकतर काम हिन्दू-मुसलमानों के शास्त्रार्थ तक सीमित रहा। आरंभ में तो इससे बहुत लाभ हुआ। वातावरण को अनुकूल बनाने वाले तो यह शास्त्रार्थ ही थे। मुसलमानों ने समझ रक्खा था कि हिन्दूधर्म कच्चा घड़ा है। इनकी बुत परस्ती की गुदड़ी हमारे एक ईश्वरवाद के समक्ष क्या कर सकती है ? इनको पहले से आदत पड़ी थी कि कृष्ण और गोपियों का मखौल उड़ावें, लम्बोदर जी के वक्रतुण्ड का उपहास करें। वह इन शास्त्रार्थों में बहुत आते थे। और यह प्रभाव लेकर जाते थे कि आर्यों की युक्तियों का हमारे मौलवियों के पास सन्तोष जनक उत्तर नहीं है। पं० लेखराम जी के मुंह पर दाढ़ी न देखकर एक बार शास्त्रार्थ के समय एक मौलवी ने ताना दे डाला कि अजी आप तो अभी

बे-रीश (बिना डाढ़ी के बालक) हैं। आप हमसे क्या शास्त्रार्थ करेंगे ? पंडित जी गरज कर बोले :—

"मौलवी साहेब, दाढ़ी बकरों के हुआ करती है शेरों के नहीं।" पहले मौलवियों को यह आदत नहीं थी कि उनके धर्म की कोई आलोचना करे। ऐसे कुफ्र की सजा एक थी अर्थात् मौत। अब धीरे-धीरे आर्य समाजियों ने मुसलमानों को सिखा दिया कि अगर कहते हैं तो सुनना भी पड़ेगा। शास्त्रार्थ में तो दोनों पक्ष समान हैं। इस प्रकार तीस चालीस साल शास्त्रार्थों का सिल-सिला जारी रहा। इससे हिन्दुओं का साहस बढ़ गया। परन्तु मुसलमान नेताओं ने परिस्थिति को देखकर युद्ध-क्षेत्र बदल दिया। उन्होंने मुसलमान जनता का ध्यान राजनीति की ओर फेर दिया। पहले मुसलमानों को सत्यासत्य के निर्णय करने में कुछ मजा आता था। अब वह राजनीतिक अधिकारों के लिये लड़ने लगे। आर्य समाज के शास्त्रार्थ में भी सिवाय कुछ पेशावर-मौलवियों और उनके साथ ताली बजाने वालों के और शिष्ट जनता ने आना छोड़ दिया। इधर उधर से जो साहित्य निकला वह भी कर्कश था। इसमें सत्यासत्य की खोज करने वालों को मजा नहीं आता था। आर्य समाज की गलती यह थी कि उसने शास्त्रार्थों के साथ-साथ उसके लिये क्षेत्र तैयार करने के लिये कोमल और ऊँचे दर्जे का साहित्य तैयार नहीं किया। यह मिलीटरी बने रहे, सिविल की इन्होंने परवाह नहीं की। इस बारे में ईसाई लोग चतुर थे। उनके पक्ष का उच्च साहित्य भी हर प्रकार के लोगों की रुचि के अनुसार तैयार होता रहा। इससे भारत की जनता बिना ईसाई बने हुये भी अर्द्ध-ख्रिष्टीय (Semi christian) बन गई।

१९४७ ई० में जब स्वराज मिला और बहुत से मुसलमान पाकिस्तान भाग गये तो भिन्न-भिन्न कारणों से शुद्धि का प्रश्न

फिर आगे आया। अलवर, भरतपुर आदि के बहुत से मुसलमान किसी न किसी कारण शुद्ध हिन्दू बन गये। इतस्ततः दोनों ओर से कुछ अति भी हुई। पाकिस्तान-भारत के साम्प्रदायिक दंगों में यह स्वाभाविक था। परन्तु कई स्थानों पर जहाँ मुसलमान राजपूती वंश के थे फिर हिन्दू बनने के लिये राजी थे। आर्य समाज, क्षत्रिय सभा, हिन्दू सभा तीनों ने मिलकर कहीं-कहीं काम करना आरम्भ किया। सितम्बर या अगस्त का महीना था। दिल्ली के प्रसिद्ध डाक्टर जोशी ने मुझ से कहा, "शुद्धि का काम बढ़ाना चाहिये। It is the last ditch for the Hindus अर्थात् हिन्दुओं के बचने का यह अन्तिम उपाय है।" मैं उस दिन श्री ओ३म् प्रकाश जी के साथ शुद्धि की प्रगति देखने के लिये अलवर जा रहा था। उसके थोड़े ही दिन पीछे दिल्ली का दंगा आरम्भ हो गया। मैं उन सब बातों की आलोचना नहीं करना चाहता। उसका देश की प्रगति पर क्या बुरा भला प्रभाव पड़ा इसका यहाँ प्रश्न नहीं है। परन्तु मेरी समझ में शुद्धि को उससे धक्का पहुँचा। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया बढ़ गई। सब जानते हैं कि डाक्टर जोशी की हत्या का कारण साम्प्रदायिक उन्मत्तता थी।

इस घटना के पश्चात् शुद्धि का आन्दोलन मृत-प्रायः सा ही है। आन्दोलन तो है ही नहीं। रस्म जारी है। वह भी वैज्ञानिक ढंग पर नहीं। केवल लकीर की फकीरी है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि शुद्धि नहीं की जाती तो आर्य समाज सार्वभौमिक संस्था नहीं बन सकती। चाहे यह कितनी ही सार्वभौमिकता की डींग क्यों न भरे। यह हिन्दुओं का एक छोटा सा फ़िर्क़ा ही बना रहेगा।

परन्तु शुद्धि जादू से तो नहीं हो सकती। पहले यह कठिनाई थी कि मुसल्मान हिन्दू बनने को तैय्यार थे हिन्दू उनको लेने

के लिये तैय्यार न थे। आज हिन्दुओं ने अपना फाटक खोला है तो कोई उस फाटक की ओर देखता तक नहीं। यह शास्त्रार्थ के लिये चेलेंज देते हैं कोई चेलेंज स्वीकार नहीं करता। यह पुस्तकें लिखते हैं कोई पढ़ता नहीं। हिन्दुओं ने अपनी आन्तरिक बुराइयों को छोड़ा नहीं। अतः यदि कभी कोई भूला भटका आ भी जाय तो वह पचता नहीं। आर्य्य समाज की ओर से कोई इस प्रकार का कोमल साहित्य तैय्यार नहीं किया जाता जो वैज्ञानिक ढंग से दूसरों के विचारों को बदल सकें।

मैंने सन् १९५० या ५१ में जब मैं सभा का मंत्री था इस बात पर विचार किया। मेरे सामने एक आर्य्य समाज की एक घटना आई। शायद वह राजपूताने या मध्यभारत की है। एक स्थान पर एक मुसल्मान दिल से आर्य्य हो गया। आर्य्य समाज में आने जाने लगा। शुद्धि नहीं कराई। न अपना घर बार छोड़ा। परन्तु आर्य्य समाज का सभासद हो गया। शनैः शनैः मंत्री भी चुन लिया गया। इस पर उसका विरोध आरम्भ हुआ। शायद प्रान्तीय सभा में प्रश्न उठा। वह कहता था कि जिस प्रकार दूसरे आर्य्य अपने पौराणिक परिवारों में मिले हुये हैं, उनके परिवारों में माँसाहारी भी हैं और मूर्तिपूजक भी। इसी प्रकार मेरे घर वाले मुसल्मान रहें। आपको मुझसे मतलब है न कि संसार भर से। बात तो ठीक थी। इस युक्ति का उत्तर तो था नहीं। परन्तु एक तरकीब सोची गई। उससे लिखकर पूछा गया। "क्या तुम पूर्ण आर्य्य हो?" यह ऐसा प्रश्न था जिसका ठीक-ठीक उत्तर वही था जो उसने दिया। अर्थात् "मैं पूर्ण आर्य्य नहीं। आर्य्य बनने का यत्न कर रहा हूँ।" बस! तरकीब चल गई। उसको कह दिया गया। "तुम पूरे आर्य्य नहीं समाज छोड़ो" मालूम नहीं फिर क्या हुआ?

उसका उत्तर तो ठीक था परन्तु यह उत्तर उसके निकालने के लिये उचित निमित्त न था। यदि मुझसे यह प्रश्न किया जाता तो मैं भी सत्यता के आधार पर यही उत्तर देता। एक बार किसी ने किसी सिद्धान्त के विषय में मुझसे पूछा था कि तुम्हारे मन में जब अमुक शंका है तो तुम आर्य्य कैसे? मैंने उत्तर दिया था कि जब तक बद्ध अवस्था है शंका रहेगी। शंका तो केवल मुक्तों को ही नहीं रहती।

जब मुझे इस घटना का पता लगा तो मैंने सोचा। बात तो ठीक है। अगर मैं कल ईरान में जाकर प्रचार करूँ। और चार छः मास में किसी मुसल्मान के विचार परिवर्तित कर सकूँ तो क्या मैं उससे उसका घर छुड़ा सकूँगा। और क्या इससे आर्य्य समाज का कल्याण होगा? आजकल दशा यह है कि यदि किसी पौराणिक को आर्य्य बनाते हैं तो वह चन्दा देता है। और माँगता कुछ नहीं। अपने लिये न खाना माँगे, न अपनी लड़की के लिये वर माँगे, न अपने लड़के के लिये बहू माँगे। उसका शेष सम्बन्ध तो पूर्ववत् चलता ही रहता है। और वह शनैः-शनैः अपने घर वालों को भी आर्य्य समाज की ओर आकर्षित करता रहता है। मैंने भी ऐसा ही किया और हजारों और आर्य्य भी ऐसा ही करते रहे।

परन्तु यदि कहीं किसी मुसलमान को आर्य बनाया तो हमने उससे उसका घर छुड़ा दिया। परिणाम यह हुआ कि आते ही उसने अपनी माँगें आरम्भ कर दीं "मेरे लिये अच्छी नौकरी लाओ। मेरी लड़की के लिये एक पढ़ा लिखा धनी उच्च घराने का वर लाओ। मेरे लड़के के लिये एक योग्य बहू लाओ।" महीनों और बरसों हम उसको दमदिलासा देते रहे और उस पर सैकड़ों रुपया भी व्यय किया। परन्तु अन्त में असन्तुष्ट

होकर वह जहाँ से आया था वहाँ चला गया। हम हाथ मलते रह गये।

मैंने इस पर प्रस्ताव किया कि किसी को आर्य बनाने के साथ-साथ यह शर्त उड़ा देनी चाहिये कि वह अपना पुराना सम्बन्ध छोड़ दे। मैंने पहले लाला नारायण दत्त के समक्ष बात रक्खी। वह कहने लगे 'बात तो ठीक प्रतीत होती है।" महाशय कृष्ण जी भी सहमत हुये। मैंने प्रताप में और शायद रिफार्मर में एक लेख लिखा। उस पर बड़ा विरोध हुआ। नेताओं ने भी राजनैतिक चुप ग्रहण कर ली। परन्तु रोग का कोई अन्य नुसखा नज़र नहीं आया। मैं यह नहीं कहता कि मेरा नुसखा सुगम है। उसमें भी कई कठिनाइयाँ हैं। प्रश्न गम्भीर है, परन्तु इस समय दशा यह है कि शुद्धि सब चाहते हैं परन्तु शुद्धि बिल्ली के गले की घण्टी बनी हुई है। हम सब "किं कर्तव्यविमूढ़" हो रहे हैं। विदेश की यात्रा ने मेरे समक्ष शुद्धि के प्रस्ताव की गंभीरता को और भी बढ़ा दिया है। मैं समझने लगा हूँ कि यदि शुद्धि अर्थात् सबको वैदिक धर्मी बनाने का काम करना है तो कुछ-कुछ उसी ढंग से करना होगा जैसा मेरा प्रस्ताव है। अन्यथा नहीं। देश काल की अपेक्षा से उस प्रस्ताव में किंचित् परिवर्तन या परिवर्धन भले हो, मूल रूप में तो यही प्रस्ताव ठीक प्रतीत होता है। शुद्धि के वर्तमान साधन और शुद्धि का वर्तमान रूप तो सफल होता दीखता नहीं।

अभी पिछले दिनों की बात है। आर्य समाज चौक में एक सभासद ने पूछा "क्या कारण है कि शुद्धि में सफलता नहीं होती।"

मेरा उत्तर यह था "मुसलमानों के पास शुद्धि (अपने धर्म में मिलाने) की फैक्टरी है शो रूम नहीं। वह विना शास्त्रार्थ, विना विज्ञापन, विना शोर मचाये सैकड़ों नर नारियों को

हिन्दुओं में से हड़प लेते हैं। ईसाइयों के पास फैक्टरी भी है और शो रूम भी। उनके पत्र हैं, उनके पादरी हैं। उनके चर्च हैं। और समस्त भारत में जाल के समान फैले हुये हैं। आर्य समाज के पास फैक्टरी कोई नहीं। शोरूम अवश्य है। माल बनता नहीं परन्तु माल का विज्ञापन बड़े जोर से दिया जाता है :—

"वेदों का डंका आलम में बजवा दिया स्वामी दयानन्द ने।"

मैंने जो उत्तर दिया उसकी उचित मीमांसा करना पाठकों का कर्तव्य है। मैं १९५४ तक की अवस्था लिख रहा हूँ। १९५४ अभी आरम्भ हुआ है। कौन कह सकता है कल क्या होगा। अभी तो

*गाड़ी रुकी हैं शुद्धि की आगे बढ़ावे कौन !**

———

*इस लेख को लिखे कई मास बीत चुके। इधर भारतवर्ष में ईसाई-मिशन का काम बड़े जोर से होने लगा। राजनैतिक क्षेत्रों में भी सनसनी फैल गई। आर्य समाज में नये जोश ने उबाल दिखाया। परन्तु मौलिक प्रश्न ज्यों का त्यों है।

दयानन्द पुरस्कार निधि

आरम्भ में 'श्रुति' का राज था। एक गुरु के पास कुछ शिष्य इकट्ठे हो जाते थे। गुरु उनको वेद मंत्रों अथवा वेद मंत्रों के आधार पर अन्य सूक्तियों का उपदेश करता था। कहे जाने से उनको "सूक्त" और सुने जाने से 'श्रुति' कहते थे। लिखना आरम्भ नहीं हुआ था। आवश्यकता भी नहीं थी। संसार था छोटा। समीप रहने वालों को लिखने की क्या आवश्यकता?

होते-होते संसार बढ़ा। लोगों में दूरी भी होने लगी। कहने और सुनने की आवश्यकतायें भी शनैः-शनैः बढ़ीं। विस्मृति भी अखरने लगी। अतः "रेखा" अर्थात् 'लेखा' की आवश्यकता हुई। लिपि का आविष्कार हुआ। भोजपत्र और पत्थर या लकड़ी की तख्तियों का रिवाज हुआ। पैपीरस (Papyrus) जिससे अंगरेजी का वर्तमान शब्द पेपर (Paper कागज) बना है वस्तुतः एक वृक्ष की छाल थी भूर्जपत्र के समान। इस पर लोग लिखा करते थे। गुरु लोग शिष्यों को जो उपदेश नोट करा देते, उनको वह गूंथ या गाँठ लेते। इसीलिये उनका नाम 'ग्रन्थित' से 'ग्रन्थ' पड़ा। मुद्दतों इसी प्रकार के ग्रन्थ बनाये जाते रहे। इन्हीं का विकसित रूप आजकल के कागज हैं।

यह युग जिसमें हम रह रहे हैं कागज युग (पेपर एज Paper age) है। यदि कोई ऐसी घटना घटित हो जाय कि भूमण्डल में जितना कागज है वह सब नष्ट कर दिया जाय तो क्या हो? समझ में नहीं आता। आज तो विचारों के प्रचार

का एक ही साधन है जिसको कहते हैं साहित्य। यदि साहित्य का सह और सहित से कुछ सम्बन्ध है तो कहना पड़ेगा कि कोई संगठन बिना साहित्य के बन ही नहीं सकता। जो समाज संगठन चाहता है उसको अपना साहित्य निर्माण करना चाहिये। साहित्य के द्वारा ही हम भूत, वर्तमान और भविष्यत् के सम्बन्ध को दृढ़ कर सकते हैं। साहित्य के द्वारा ही हम समय की दूरी और फासिले की दूरी को कम करके अपने स्थान से दूर और अपने युग से दूर रहने वालों के विचारों का लाभ उठा सकते और अपने विचारों से उनको लाभान्वित कर सकते हैं। आजकल केवल बातों से काम नहीं चल सकता। वाणी का प्रतिनिधि है लेखनी और काम का प्रतिनिधि है आँख। आज प्रत्यक्ष (प्रति + अक्ष) मुख्य है प्रतिश्रोत्र (प्रति+श्रोत्र) गौण। श्रुतियाँ भी लिखी जाती हैं। छापी जाती हैं। शब्द को रूप का रूप देने के लिये अनेक आविष्कार किये जा रहे हैं।

आर्य समाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने भी साहित्य के महत्व को समझा और जिस सन् में (१८७५ ई० में) आर्य समाज की स्थापना की उसी सन् में आर्य समाज के कार्य-क्रम को निर्धारित करने के लिये सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ छपवाया। ग्रन्थ की छपाई के काल में ऋषि ने छापने वालों के पास जो पत्र भेजे उनसे प्रकट होता था कि ऋषि कितने उतावले थे। वह प्रत्येक पत्र में जल्दी छापने के लिये आग्रह करते हैं। वह समझते थे कि उनके व्याख्यान हवा में उड़ जाँयगे। उनका शरीर भी एक दिन नहीं रहेगा। उनके उपदेशों की वही दुर्गति होगी जो अन्य धर्मसंस्थापकों के उपदेशों की हुई। पीछे आनेवाले लोग मन मानी बातों को उनके नाम से संबद्ध करेंगे। लोग इधर उधर पूछ कर पता लगावेंगे कि दयानन्द ने क्या कहा। ऐसा ही महात्मा बुद्ध के बाद बुद्ध के उपदेशों के साथ किया गया। ऐसी ही इंजील

की दशा हुई। ऐसी ही कुरान की। इसलिये उन्होंने साहित्य निर्माण पर इतना बल दिया। और इसी का फल है कि आज ७० वर्ष पीछे भी हम ऋषि के मंतव्यों के विषय में अधिक जान सकते हैं उन लोगों की अपेक्षा जो ईसा, मुहम्मद या गौतम बुद्ध की मृत्यु के ७० वर्ष पीछे उनके विषय में जानते थे। और आजकल तो उनके विषय में केवल अटकल या अन्ध विश्वास ही रह गया है।

ऋषि दयानन्द के पश्चात् आर्य्य समाज में साहित्य के लिये कोई उतावलापन नहीं रहा। संस्कारों के लिये संस्कार-विधि, वेदों की झलक देखने के लिये ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, मतमतान्तर वालों से बात-चीत करने के लिये सत्यार्थ प्रकाश। इतना ही पर्याप्त समझा। व्यक्तियों ने अपनी मति तथा शक्ति के अनुसार कुछ हाथ पैर हिलाये। कुछ ग्रन्थ भी लिख गये। परन्तु कोई सामूहिक और संगठित काम नहीं हुआ। न इसकी आवश्यकता समझी गई। आर्य्य समाज की पूरी शक्ति स्कूलों, कालिजों, अनाथालयों, आश्रमों, समाज-सुधार आदि आदि में लग गई। यह सब भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम था। इसने आर्य्य समाज को यश दिया, ख्याति दी। परन्तु जड़ में पानी देने के स्थान में फूलों और पत्तियों को भीगे कपड़े से पोंछने का काम हुआ।

थोड़े ही दिनों में इस भूल के दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने आरम्भ हुये। इस बीच में दुनियाँ जागी। उसने अपना साहित्य निर्माण करना आरम्भ किया। ईसाइयों ने सैकड़ों भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद कर डाले। इनके ट्रैक्टों और पुस्तिकाओं ने तो संसार भर दिया। मुसल्मानों के नव-जात सम्प्रदाय कादियानी धर्म पर न केवल भारत में अपितु इंग्लैण्ड और अमेरिका में पर्याप्त साहित्य बना। कम्यूनिष्टों ने तो अपनी

पुस्तकों को ही अपने प्रचार का साधन समझा और इन्हीं के द्वारा उन्होंने दूसरों के पालित पोषित स्कूल और कालिजों के विद्यार्थियों पर अपना सिक्का जमा दिया। गत महायुद्ध में जब लड़ाई छिड़ी तो अंगरेजी हवाई जहाजों ने जर्मनी पर गोलों के स्थान में पुस्तिकायें और पैम्फ़लेट बरसाये जिससे जर्मनी वालों के दिलों पर विजय प्राप्त कर सकें। हम पिछड़ गये। और हमने इस पिछड़ने का कोई नोटिस नहीं लिया।

प्रयाग में हिन्दी के प्रचार के लिये १९१६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नींव पड़ी और कुछ दिन पश्चात् ही हिन्दी साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिये श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी की प्रेरणा से श्री गोकुल चन्द जी ने अपने भाई मंगला प्रसाद की स्मृति में चालीस सहस्र रुपये का दान देकर मंगला प्रसाद पारितोषिक की नींव डाली। इसके ब्याज से १२००) का पुरस्कार प्रति वर्ष सबसे उत्कृष्ट पुस्तक के लेखक को दिया जाता है। इस पुरस्कार ने साहित्यकारों को बड़ा ही प्रोत्साहन दिया है। और साहित्य की प्रगति बहुत तीव्र हो गई है। पहले की अपेक्षा अब बहुत ऊँचे स्तर की पुस्तकें आ रही हैं। इस बीच में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा कई अन्य पुरस्कार भी चालू किये हैं। जैसे :—

(१) सेक्सरिया महिला पारितोषिक ५००) का केवल महिलाओं के लिये।

(२) गोविन्दराम सेक्सरिया विज्ञान पारितोषिक १५००) का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान की पुस्तक के लिये। यदि आर्य्य समाज चाहता तो आरम्भ में ही इस प्रकार के पुरस्कारों की स्थापना के लिये दो चार लाख रुपये लगा देता क्योंकि इसने अपने जीवन काल में करोड़ों रुपये दान में इकट्ठे किये और करोड़ों का व्यय किया। परन्तु आर्य्य समाज ने अपने साहित्यकारों

की साधारण भजनीकों के बराबर भी कभी क़दर नहीं की। यह तो हुआ कि जब कभी किसी आर्य्य समाजी की रचना के लिये किसी बाहर की संस्था ने कुछ सम्मान प्रदान किया तो इन्होंने भी शिष्टाचार से उनको बधाई का तार या प्रस्ताव भेज दिया। परन्तु स्वयं समाज की ओर से कोई योजना काम में नहीं लाई गयी। इसका एक दृष्टान्त देता हूँ। मैं जब सभा का मंत्री होकर दिल्ली आया तो एक सज्जन एक छोटी पुस्तक लाये। श्री नारायण स्वामी जी ने उसे पसन्द कर लिया था। उसे सार्वदेशिक से छपवाना था। मैंने एक अधिकारी से बात की तो वह बोले—

"उसको कहीं से छपने के लिये रुपया भी तो लाना चाहिये।" मैंने कहा, "वह पुस्तक भी लिखे और रुपया भी लावे ?"

उत्तर मिला "क्या हुआ ? उसका नाम भी तो होगा।"

मुझे इस मनोवृति को देख कर बहुत बुरा लगा। परन्तु मैं चुप हो गया। यही कारण है कि आर्य समाज का नाम बाहर कोई नहीं जानता और न आर्य समाज के सिद्धान्त अपने मौलिक गुरुत्व के अनुपात से फैल पाये।

मुझे यह बात सदा अखरती रही। मैंने प्रस्ताव किया कि "दयानन्द पुरस्कार निधि" उसी प्रकार की स्थापित की जाय जैसी नार्वे में 'नोबिल पुरस्कार' है या हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मंगला प्रसाद पारितोषिक है। इसके लिये एक लाख इकट्ठा किया जाय। १५००) वार्षिक सब से उत्तम पुस्तक के लेखक को पुरस्कार दिया जाया करे और ५००) विविध व्यय के लिये रक्खा जाय। प्रस्ताव पास हो गया। श्री ठाकुरदत्त शर्मा (अमृत धारा) ने पाँच सहस्र रुपया उस समय देने का वचन दिया जब सभा अन्यत्र से ९५०००) जमा करले। मैंने बहुत यत्न किया।

कुछ लोगों ने दिया भी परन्तु ऐसी आशा न हुई कि मेरे जीवन काल में कुछ हो सकेगा। अकस्मात् कुछ साधन प्राप्त हो गये और जब मैंने मंत्री पद छोड़ा तो उस समय इस राशि में ५७०००) जमा थे। मैंने इसके नियम उपनियम भी "मंगला पारितोषिक" के नियमों के आधार पर बनाये और बहुत कठिनइयों से पास हो गये। इस आन्दोलन का एक लाभ तो हुआ कि श्री ठाकुरदत्त जी शर्मा अमृत धारा ने अपना एक अलग पारितोषिक ५००) वार्षिक का निर्धारित कर दिया है। पहला पारितोषिक मुझे "वैदिक कल्चर" पर मिला। इस प्रकार कई साहित्यकार उसे प्राप्त कर चुके है।

परन्तु अभी सार्वदेशिक सभा से किसी का सम्मान प्राप्त नहीं हो सका। मालूम नहीं कि पाठक गण मेरे इस प्रयास को सफल कहेंगे या असफल। मैंने तो यह कह कर अपने मन को सन्तोष दे लिया है—

There is many a slip betwixt cup and lip.

वेपनानि बहून्येव,
मध्ये पात्रस्य चौष्ठयोः ॥

———

हिन्दू-कोड बिल

आर्य्य समाज चौक इलाहाबाद का साप्ताहिक अधिवेशन था। शायद उन दिनों की बात है जब मैं आर्य्यप्रतिनिधि सभा यू० पी० का प्रधान था। एक सज्जन मेरे पास आये और कहने लगे, "काशी के कुछ पण्डित आये हैं। आप से बातचीत करना चाहते हैं। अधिवेशन की समाप्ति पर मैं उनसे मिला उन्होंने कहा कि विदेशी सरकार हिन्दुओं के धर्म को भ्रष्ट करने के लिये हिन्दू कोड बिल पास करना चाहती है। आर्य्य समाज हिन्दू संस्कृति का सदा से रक्षक रहा है। हम चाहते हैं कि इसके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन किया जाय और आर्यसमाज इस सांस्कृतिक युद्ध में हमारा पूरा-पूरा सहयोग दे। मैंने समाचार पत्रों में कुछ-कुछ चर्चा तो पढ़ी थी। परन्तु इस विषय का पूरा अध्ययन नहीं किया था। मैंने उनको कहा कि जब तक मैं 'बिल' का पूरा पूरा अध्ययन न करलूँ और अपने मित्रों से बिल के गुण दोषों पर परामर्श न करलूँ मेरे लिये यह कहना कठिन होगा कि आर्य्य समाज कहां तक आपका सहयोग दे सकेगा। उनकी बातों से ऐसा प्रतीत हुआ कि वह बिल के गुण दोषों पर बहस करना नहीं चाहते थे। वे तो एव सैद्धान्तिक बात पर आग्रह करते थे अर्थात् एक विदेशी और गैर-हिन्दू सरकार को इस प्रकार का प्रश्न उठाना ही नहीं चाहिये। शायद उस समय श्री सुल्तान अहमद 'ला मेम्बर' थे। इस बात ने "करेले को नीम चढ़ा" बना दिया था। और कुछ लोगों का यह भी नारा था कि

यह बिल सुल्तान ऋषि के दमाग की उपज है। मैंने उन पण्डितों की सेवा में निवेदन किया कि शायद आर्यसमाज इस दृष्टिकोण में आपसे सहमत न हो क्योंकि आर्य समाज है एक सुधारक संस्था। और हिन्दू पंडितों की सदैव से एक मनोवृत्ति रही है वह यह कि सुधार के काम में रोड़ा अटकाना। हिन्दूसमाज मरणासन्न हो रहा है। आप स्वयं चिकित्सा का उपाय नहीं सोचते औरदूस रों को रोगी के समीप तक नहीं फटकने देते। आर्य्यसमाज से पूर्व जब श्री राजाराम मोहन राय ने सती की अवैदिक, अधार्मिक और हत्यारी प्रथा को बन्द करना चाहा तो सनातनी पण्डितों ने इसका घोर विरोध किया। और उनको सती प्रथा के रोकने के लिये विदेशी सरकार की सहायता लेनी पड़ी। १८५६ ई० में जब श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह का कानून पास कराया तो उस समय भी समस्त पण्डित मण्डली ने घोर विरोध किया, उस सनय भी विदेशी सरकार का ही आश्रय लेना पड़ा। आर्य्य समाज को भी अपने जन्म से अद्यपर्यन्त यही कटु अनुभव रहा। बाल-विवाह-निषेध के कानून में आपने विरोध किया। अनुमति कानून Consent-bill जैसे अत्यावश्यक कानून के पास होते समय भी यही आवाज आई कि विदेशियों और विधर्मियों को हस्ताक्षेप करने का अधिकार नहीं। आर्य समाज अपने सुधार में हर एक उचित साधन का प्रयोग करता रहा। और एक अंश में तो आप भी विदेशी सरकार से पीछा नहीं छुड़ा सके। आप अपनी आत्मरक्षा के लिये विदेशी सरकार की कचहरियों, पुलिस सेना आदि का प्रयोग करते हैं।

पण्डित लोग चले गये। मैंने कुछ कुछ सोचना आरम्भ किया। इसके पहले मैं दो पुस्तकें लिख चुका था एक तो "मनुस्मृति" का हिन्दी अनुवाद जिसमें लगभग डेढ़ सौ पृष्ठ की

आलोचनात्मक भूमिका हैं। दूसरी अंगरेजी में Marriage and Married Life (विवाह और वैवाहित जीवन)। इन दोनों पुस्तकों में विवाह, गोत्र, सम्बन्ध-विच्छेद, जायदाद इत्यादि का कुछ-कुछ उल्लेख है। सन् १९१८ में मैंने एक और पुस्तक लिखी थी 'विधवा विवाह मीमांसा', उसमें प्रसंगवश गोत्र के प्रश्न पर विचार करना पड़ा था। परन्तु फिर भी 'हिन्दू कोड-बिल' का मैंने अध्ययन नहीं किया था। जब मैं सार्वदेशिक सभा का मंत्री बना तो मुझे इस पर विचार करना ही पड़ा क्योंकि सभा में प्रायः अनेक पत्र आते रहे कि आर्य्य समाज इस पर अपने विचार प्रकाशित करें। उन दिनों हिन्दू-कोड-बिल की चरचा बढ़ गई थी। इससे पूर्व दो बार गोत्र का प्रश्न मेरे समक्ष व्यावहारिक रूप में आ चुका था। बहुत दिन हुये एक आर्य्य नेता ने मुझे लिखा कि मेरी लड़की के लिये एक बहुत सुन्दर जोड़ा मिल रहा है। कोई सम्बन्ध भी हमारे परिवारों का नहीं है। परन्तु गोत्र एक है। तुम्हारी क्या राय हैं? मैंने श्री मास्टर आत्माराम जी लिखित 'विवाह-आदर्श' पुस्तक पढ़ी थी। उसमें गोत्र के अर्थों पर विचार किया गया था कि वस्तुतः गोत्र है क्या वस्तु? इसका अर्थ ही क्या है? और कहाँ तक इसका विचार करना आर्य्य समाज के सिद्धान्तों के अनुकूल है। मैंने उनको लिखा कि मुझे तो कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। मैं होता तो अवश्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेता। उन दिनों मैंने आर्य्य-मित्र में एक लेख भी दिया था, जिसकी किसी-किसी ने बड़ी कड़ी, भावुकतापूर्ण और युक्ति-शून्य आलोचना की थी। उन नेता महाशय को तो आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। परन्तु शाहपुरा में एक ब्राह्मण मेरे पास आये। उनका विवाह सगोत्र में तो नहीं हुआ था परन्तु लोकचाल के कुछ विरुद्ध था। वह भी भूल से हो गया था। उन्हें ज्ञात होता तो वह आग में न कूदते। उनके शत्रुओं

को अवसर मिल गया। यहाँ तक कि एक संस्कृत-कवि ने लिख डाला :—

"कन्दर्प-गर्तेऽपतत्"।

उनसे प्रायश्चित्त करने और स्त्री को परित्याग करने के लिये कहा गया। छोटा मोटा प्रायश्चित्त तो वह कर सकते थे। परन्तु स्त्री-त्याग तो महा अनर्थ था। ऐसी अमानुषिक व्यवस्थायें देना हिन्दू-पण्डितों के लिये एक साधारण सी बात रही है। मुझे विचार करने से ज्ञात हुआ कि बात का बतंगड़ बनाया गया है। केवल "पर का कौआ"। या कहना चाहिये, "बेपर का कौआ"। मैंने युक्तियाँ देकर उनका सन्तोष कर दिया, बात दब गई।

इस बार मैंने सोचा कि पद के नाते भी मेरा कर्तव्य है कि पूर्ण विचार होना चाहिये। मैंने पण्डित धर्मदेव जी विद्या वचस्पति से जो संस्कृत के बड़े सुयोग्य वक्ता तथा विद्वान् हैं निवेदन किया कि आप इसका अनुसन्धान करने की कृपा कीजिये। उन्होंने स्वीकार किया और कई मास तक निरन्तर भिन्न-भिन्न स्मृतियों तथा शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। उस समय मुझे प्रतीत हुआ कि हिन्दू-कोड-बिल का विरोध विना सोचे समझे सनातन धर्म के ठेकेदारों की ओर से खड़ा किया गया है। पण्डित धर्म देव जी की स्वाध्याय-शीलता तो अत्यन्त प्रशंसनीय है। कई कारणों से वह इस विषय में विख्यात नहीं है। मैंने उनसे कहा कि इस विषय में कुछ लिखिये। उन्होंने 'वीर-अर्जुन' में इस पर एक लेख माला प्रकाशित की। वह जब विचार कर रहे थे, उस समय वह डाक्टर अम्बेदकर से भी भिड़ जाया करते थे। और उनके विरुद्ध कई बार वह "सार्वदेशिक" में कड़ी आलोचना कर चुके हैं।

शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों 'हिन्दू-कोड-बिल' के पास कराने में वैधानिक प्रगति हुई त्यों-त्यों इसके विरुद्ध आन्दोलन का तूफान भी बढ़ा और इसने राजनीतिक रूप भी धारण किया। मैं उन दिनों दिल्ली में ही था। दिल्ली वाले परिचित हैं। जनता के भड़काने के लिये दो तीन बातें कही जाया करती थीं। पहली यह कि बिल भाई-बहन के विवाह को विहित ठहराता है। दूसरी, तलाक चलाना चाहता है। तीसरी, पुत्रियों को जायदाद में हक़ दिलाकर हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन को नष्ट करना चाहता है। यह तीनों बातें ऐसी थीं कि जनता सुगमता से भड़क सकती थी। उत्तेजक वक्ताओं के हाथ दियासलाई लग गई। जहाँ रूई का ढेर देखा छेड़ बैठे। क्षण भर में आग जल उठी। मैं दुर्भाग्यवश देखता हूँ कि आर्य्य समाज में भी ऐसी रूई की कुछ कमी नहीं है।

सच सही झूठ सही आधी सचाई भी सही।
कुछ खबर चाहिये लोगों की तसल्ली के लिये॥
सिदक से इश्क नहीं, किज़्ब से नफ़रत क्यों हो।
छोड़ देते हैं शगूफा नया दिल्ली के लिये॥

'हिन्दू-कोड-बिल' का बवण्डर यहाँ तक बढ़ा कि इसके सहारे निर्वाचन लड़े जाने लगे। पत्र निकलने लगे। नाटक लिखे जाने लगे। बाजार की मनोवृत्ति का तो प्रश्न ही क्या है? एक बहुत ही बड़े सम्मानीय और मेरे भी श्रद्धास्पद तथा पूज्य नेता 'हिन्दू-कोड-बिल' के विरुद्ध बोल कर आये। मैंने उनसे पूछा, "आपने हिन्दू कोडबिल का अध्ययन तो किया ही होगा?" उनके उत्तर ने मुझे चकित कर दिया। कहने लगे "मैंने तो नहीं पढ़ा। लोग कहते हैं।" इस प्रकार मैंने देखा कि कोडबिल क्या है। हौआ है। जानता कोई नहीं। डरते सब हैं।

शनैः-शनैः सभा के कार्य्यालय में भी प्रश्न आने लगे। विषय धर्मार्य सभा में रक्खा गया। मैं बिल के पक्ष में था। दो एक बातों में कुछ सन्देह था। परन्तु वह थीं केवल वैधानिक बातें जो विरोधियों ने अड़चन डालने के लिये पेश कर रक्खी थी। इनको अंगरेजी में टैक्टिक्स् (Tactics) कहते हैं। विचार आरंभ हुआ तो एक वैधानिक प्रश्न उठ बैठा। प्रश्न यह था कि वर्तमान अधिवेशन को इस पर विचार करने का अधिकार है या नहीं। प्रधान को इस विषय में कुछ शंका हो गई। विषय टल गया।

इसके पश्चात् मैं दक्षिण अफ्रीका चला गया। वहाँ से लौटा ही था कि कार्य्यालय ने मेरे हस्ताक्षर सहित एक छपी हुई भ्रमण पत्रिका मेरे सामने रख दी। इसमें आर्य्य समाजों को आदेश दिया गया था कि समाज सामूहिक रूप से 'हिन्दू-कोड-बिल के विरुद्ध है।' मैंने कार्य्यालय से विवरण मांगा तो ज्ञात हुआ कि उस दिन धर्मार्य सभा में उपस्थिति अधिक न थी। प्रधान और मंत्री बिल के अनुकूल थे। परन्तु विरोध में मत कुछ अधिक आये। विरोध का प्रस्ताव पास हो गया। उस पर प्रधान की ओर से एक आपत्ति उठाई गई। धर्मार्य सभा साधारण कार्यवाही की सभा नहीं है, जिसमें केवल हाथ उठाकर निश्चय कर दिये जाया करें। इसमें सैद्धान्तिक विषयों पर निर्णय होते हैं जिनका सम्बन्ध दूरस्थ भविष्य के साथ भी होता है। अतः जितना इस सभा के निर्णयों का मूल्य है उसी के अनुपात से इनके स्वीकार कराने में कठिनता भी रक्खी गई है। नियम यह है

(१६) साधारण विषय विद्वानों की लेखबद्ध सम्मति द्वारा निर्णय किये जायेंगे परन्तु आवश्यक विषय वार्षिक या विशेष अधिवेशन में पेश होकर निर्णीत हुआ करेंगे।

नोट—धर्मार्य सभा की वही व्यवस्था समझी जायगी जिसके

*लिये कम से कम दो तिहाई सभा के सभासदों ने अनुकुल सम्मति दी हो।**

विवाद इस बात पर था कि उपस्थित सदस्यों की दो तिहाई अनुकूल हो तब विषय पास हो या समस्त उपस्थित और

---

*धर्मार्य सभा के जिस १६ वें नियम का मैंने ऊपर उल्लेख किया है वह तथा अन्य नियम १९५२ ई० की किसी सभा में बदल दिये गये हैं। नये नियम इस प्रकार हैं:—

नियम २३ सभा के द्वारा दिये गये उसी निर्णय को व्यवस्था माना जायगा कि जिसके पक्ष में "*उपस्थित*" सदस्यों में से न्यून से न्यून दो तिहाई ने सम्मति प्रदान की हो।

इस प्रकार से 'उपस्थित' शब्द ने परिस्थिति स्पष्ट करदी और इस स्पष्टीकरण ने परिस्थिति को अत्यन्त भयानक बना दिया क्योंकि नियम १८ यह है:—

१८—अन्तरङ्ग सभा की, अधिकारियों सहित, सदस्य संख्या १५ होगी और कार्यवाहक संख्या (कोरम) ५ सदस्यों की होगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि ५ सदस्य उपस्थित हों और उनकी दो तिहाई तीन सदस्य किसी के विरुद्ध 'मत' दे दें तो वह स्वीकृत हो जायगा।

यह धर्मार्यसभा जैसी व्यवस्थापक सभा का निर्णय तो न हुआ आज यह तीन एक ओर हो गये। कल दूसरे तीन। इसमें ईर्ष्याद्वेष उसी प्रकार अनर्थ-कारी होंगे जैसे ईसाइयों ने अपनी शक्ति के दिनों में छोटी बातों पर निरापराध लोगों को तंग किया और जीवित भी जला दिया। जिन्होंने ईसाई या मुसलमान प्रदेशों के इन्किजीशन (Inquisition) आदि संस्थाओं के अत्याचारों की काली कहानियाँ पढ़ी हैं उनके तो रोमांच खड़े हो जावेंगे।

अनुपस्थित सदस्यों के मतों की गणना की जाय। धर्मार्य-सभा की एक विशेषता और है। इसमें लिखित सम्मतियाँ भी माँगी

आप '२० क' नियम को पढ़ेंः—

यदि धर्मार्य सभा किसी विषय को स्वतंत्र रूप से लेना चाहे तो निर्णयार्थ ले सकेगी। किन्तु उस विषय पर निर्णय करने से पूर्व सार्वदेशिक सभा के प्रधान से अनुमति लेना आवश्यक होगा।

'एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा' यदि कोई प्रधान किसी व्यक्ति से क्रुद्ध हो जाय तो वह धर्मार्य सभा में एक गुट्ट उत्पन्न करके उस व्यक्ति को पीस डाल सकता है। जैसा ईसाई पोप किया करते थे।

ऐसी दशा में धर्मार्य सभा के अत्याचार का सुदृढ़ यंत्र हो जाने का भय है।

मैं सभा से इस विषय पर पत्र व्यवहार कर रहा हूँ। सर्व-साधारण ने इन नियमों के बदलने के विषैलेपन पर विचार नहीं किया। इन नियमों के बदलने का अधिकार भी 'इस सभा' को होगा। अर्थात् धर्मार्य सभा को (देखो नियम ३०)

इस प्रकार धर्मार्य सभा पूर्णरूपेण स्वतंत्र हो गई। दो चार प्रतिक्रियाशील पंडित जो चाहें सो कर सकेंगे। यह तो होगा विचार स्वातंत्र्य पर पूरा कुठाराघात और पोप-डम का बोल बाला। जो हानि का अंकुर आज अकिंचित दिखाई पड़ता है वह समय पाकर उनको भी तंग कर सकता है जो इसके विधाता है। मालूम नहीं कि ऐसे नियम किस मनोवृति ने बनाये और किस मनोवृति ने स्वीकृत किये। अभी तो अवसर है कि धर्मार्य सभा को अविश्वास-पात्र होने से बचाया जाय।

जाती हैं और उनका मान किया जाता है। मेरी समझ में यह एक आवश्यक चीज है। यदि साधारण बहुसम्मति से निश्चय कर दिये जायं तो एक अधिवेशन में पास किये हुये निश्चय दूसरे अधिवेशन में सुगतमा से उलट सकते हैं। इससे निर्णयों का मूल्य घट जाता है। थोड़ी उपस्थिति अर्थात् कार्य-संख्या मात्र (Bare Quorum कोरम) में दो तिहाई की बहुसम्मति भी सुगम हो जाती है। विरोध का प्रस्ताव पास हो गया। प्रधान ने नियम के अर्थों में आपत्ति की। विषय अन्तिम निर्णय के लिये अन्तरंग में आया। हिन्दूकोडबिल के निर्णय के लिये नहीं, अपितु वैधानिक बात के निर्णय करने के लिये। सार्वदेशिक सभा के प्रधान थे प्रोफेसर इन्द्र जी। उन्होंने रूलिंग दे दी कि किसी विषय को पास करने के लिये उपस्थित सदस्यों का ही मताधिक्य पर्याप्त है।

मैं अपने हस्ताक्षरों से ऐसे थोथे प्रस्ताव को भेजना नहीं चाहता था। मैं इस विषय में इन्द्र जी के विचारों को जानता था। उस दिन वह प्रधान न थे। पिछले निर्वाचन में अधिकारी बदल चुके थे। मैंने उनको लिखा कि यह क्या हुआ। आप की रूलिंग तो मुझे ठीक नहीं जंचती। यदि ऐसा हुआ तो धर्मार्य सभा के निश्चयों का कोई मूल्य भी न रहेगा। उन्होंने कुछ ऐसा उत्तर दिया कि परिस्थिति कुछ ऐसी ही थी। मैं यहाँ उन सब बातों की आलोचना करना नहीं चाहता।

अब मेरे लिये यह प्रश्न था कि क्या करूँ। एक बार तो जी मेंआया कि अभी त्याग पत्र दे दूँ। परन्तु फिर विचार हुआ कि केवल एक बात पर चाहे वह कितनी ही मौलिक क्यों न हो त्याग पत्र नहीं देना चाहिये। यदि मेरे अफ्रीका से लौटने से पहले उपमंत्री जी अपने हस्ताक्षरों से भ्रमण पत्रिका भेज देते तो मेरी कठिनाई दूर हो गई होती। परन्तु इसमें उनका दोष नहीं

था। मैंने भ्रमण पत्रिका भेजने की आज्ञा दे दी। परन्तु मैं विचार न बदल सका। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आर्य समाज ने यह विरोध करके अपना नाम बदनाम कर लिया। अब से आर्य समाज का नाम, 'सुधारक' संस्थाओं की सूची से काट दिया जायगा। इसका यह अर्थ तो नहीं कि यदि आर्य समाज विरोध न करता तो यह बिल पास ही हो जाता। बिल के पास होने में कई अड़चनें थी। जैसे :—

(१) यह वैधानिक प्रश्न था कि उस समय की पार्लियामेण्ट को इस विषय के लेने का अधिकार है या नहीं।

(२) कांग्रेसी सुधारक अगले निर्वाचन की ओर भी आंख लगा रहे थे। वह हवा देखकर पीठ देने की नीति पर चल रहे थे।

(३) प्रतिक्रियाओं का प्राबल्य अधिक था। सनातनी मनोवृत्ति आर्य समाज में भी प्रविष्ट हो चुकी थी।

परन्तु मेरा कहना तो इतना ही था कि चाहे फल कुछ भी हो आर्य समाज को किसी अवस्था में भी सुधार के विरोधियों का साथ देकर सुधार-विरोधिनी मनोवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये। मैं हारूँ या जीतूँ। मुझे कहना तो वही चाहिये जो सत्य है।

मैंने कई स्थानों पर बिल के अनुकूल व्याख्यान दिये हैं। परन्तु यह स्पष्ट कहकर कि यह मेरी राय है।

विचारणीय प्रश्न इतने हैं :—

(१) गोत्र का अर्थ क्या है। और क्या 'हिन्दू-कोड-बिल' भाई बहन के विवाह का पोषक है ?

(२) तलाक

(३) दायभाग

———

गोत्र का प्रश्न

हिन्दू धर्म के कई कृत्यों में गोत्र का काम पड़ता है। अतः सभी हिन्दू गोत्र को बड़ा महत्त्व देते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि गोत्र क्या है। इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ पंडित भी गोत्र का वास्तविक अर्थ नहीं जानते। वस्तुतः पौराणिक युग के भिन्न-भिन्न भागों में गोत्र शब्द के चारों ओर इतना जगड्वाल उत्पन्न किया जा चुका है कि गोत्र वह हउआ है जिसको किसी ने नहीं पहचाना परन्तु सभी डरते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपनी ग्रन्थों में हर एक अनिश्चि बात को निश्चित करने का उद्योग किया है क्योंकि जो अनिश्चित है उसको व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। लेकिन आश्चर्य है कि गोत्र के विषय में आर्य्य समाज के विद्वानों की भी वैसी ही धारणा है जैसी अपने को सनातन धर्मी कहलाने वाले हिन्दुओं की। उनका तो स्वभाव ही पड़ गया है कि प्रत्येक वस्तु को अनिश्चित रक्खा जाय जिससे निरर्थक वितण्डा उठाने का अवसर मिले। आर्य्य समाजियों के लिये इस नीति का अनुकरण घातक है। फिर भी जब हिन्दू कोडबिल का प्रश्न उठा उस समय अधिकाँश आर्य्य समाजियों ने भी सनातनियों का साथ देकर उनके ही सुर में सुर मिलाया जो मेरे विचार से सर्वथा अनुचित, निरर्थक और आर्य्य समाज की उन्नति के लिये घातक था। उन्नत-शील आर्य्य समाजियों के लिये यह विचारणीय बात है।

विवाह के समय संस्कारविधि में ऋषि दयानन्द ने अन्य सूत्रों के आधार पर यह वाक्य दिया है :—

ओ३म् अमुक गोत्रोत्पन्नाममुकनाम्नीमलंकृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ।

इस पर संस्कारविधि में यह टिप्पणी दी है :—

"अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में बधू उत्पन्न हुई हो उसका उच्चारण अर्थात् उसका नाम लेना ।

यहाँ स्पष्ट है कि 'गोत्र' शब्द का अर्थ है 'कुल' 'जिस' एक-वचन है । जो गोत्र और कुल दोनों के लिये है । मूल में 'कुल' नहीं है, स्वामी जी ने इसको 'गोत्र' की व्याख्यारूप में लिखा है । अन्यत्र भी ऐसा ही मिलता है :—

तत्र गोत्रं नाम वंशः कुलं सन्ततिः इत्यपिनार्थान्तरम् ।

(गोत्र प्रवर निबन्ध कदम्बम्)

यस्मादृषेः प्रभृति संततिरादौ व्यभिद्यत सगोत्रर्षि रित्याख्यायते ।

(गोत्र प्रवर मजरी)

जिस ऋषि से लेकर सन्तति आदि काल में विभिन्न हुई उसको गोत्र-ऋषि कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि पूर्व काल में ऋषियों के नाम से कुल में विभिन्नता उत्पन्न हुई । अतः उस उस कुल वा गोत्र उस उस ऋषि के नाम पर पड़ा ।

यों तो समस्त प्रजा मनु-उत्पन्न मानी जाती है ।

'मानव्यो हि प्रजा इति विज्ञायते'

इस प्रकार तो संसार में सभी पुरुष और स्त्री परस्पर भाई बहन हुये । भाई बहन का विवाह वर्जित है । अतः किसी का किसी से विवाह हो ही न सकेगा ।

अतः गोत्र की मर्य्यादा बांधी गई । बोधायन का कहना है कि—

गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतानि अर्बुदानि च
ऊन पंचाश देवैषां प्रवरा ऋषि दर्शनात् ॥
विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः ।

अत्रिर्वशिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तऋषयः सप्तानां सप्त ऋषीणां अगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद् गोत्रमित्युच्यते ः

अर्थात् गोत्र तो सहस्रों, करोड़ों, अरबों हैं। परन्तु उनचास ऋषियों के नाम मिलते हैं। विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप यह सात ऋषि माने गये हैं। इस प्रकार इन सात ऋषियों और आठवें अगस्त्य की जो सन्तान हुई वह गोत्र कहलाईं।

ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रह्मा की सब सन्तान हैं। ब्रह्मा के चार पुत्र हुये (१) भृगुः (२) अङ्गिराः (३) मरीचिः (४) अत्रिः। इन्हीं चार की सब सन्तान हैं। भृगु का पुत्र था जमदग्नि; अङ्गिरा के दो पुत्र हुये गौतम और भरद्वाज; मरीचि के तीन कश्यप, वशिष्ठ अगस्त्य; अत्रि के विश्वामित्र इस प्रकार यह सात ऋषि गोत्रकार हुये।

पुराण और पौराणिक ग्रन्थों की इस वंशावली को देखने से सबसे पहली बात जो किसी अनुसन्धानकर्त्ता को दीख पड़ती है स्पष्ट असंगति है। ज्ञातव्य प्रश्न यह हैं। क्या ब्रह्मा के चार पुत्र मानस थे? अर्थात् क्या इनके पिता थे माता न थी? फिर इन चार के जो सात हुये वह मानस पुत्र थे अथवा औरस। फिर इन सात की सन्तान औरस हुई या मानस। यदि औरस हुई तो इनके विवाह के क्या नियम हुये। अर्थात् इनके सगोत्रत्व और असगोत्रत्व की मर्यादा कैसे स्थापित हुई। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर तो सात ऋषि यह माने गयेः—

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप।

दूसरी सूची में जो ब्रह्मा के चार पुत्रों की सन्तान हैं यह नाम हैं :—

जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, कश्यप, वशिष्ठ. अगस्त्य, विश्वामित्र।

एक सूची में अत्रि हैं, अगस्त्य नहीं, दूसरी में अगस्त्य हैं, अत्रि नहीं। अत्रि के पुत्र विश्वामित्र दोनों में हैं। अतः विश्वामित्र को अत्रि का स्थानापन्न नहीं कह सकते। अगस्त्य मरीचि की सन्तान हैं।

अतः पहली सूची में यह कैसे छोड़ दिये गये।

गोत्र के विषय में यह सब उलझनें हैं। आर्य समाजियों के लिये एक और उलझन है। सनातनी तो यह मान बैठे हैं कि जितने ब्राह्मण हैं, वे सब इन सात ऋषियों की सन्तान हैं और इनका ब्राह्मणत्व जन्म परक सिद्ध है। अतः अपने अपने गोत्र से बन्दरिया के मृत बच्चे की तरह चिपटे हुये हैं। ऋषि दयानन्द और आर्य समाजियों ने लगभग अस्सी वर्ष से शोर मचा रक्खा है कि वर्ण कर्म से होता है जन्म से नहीं। अतः यदि वर्ण परिवर्तन हुआ होगा जैसा कि इतिहास से सिद्ध है तो जन्म-परक गोत्रों की क्या दशा हुई होगी। और उनका प्रमाणत्व कहां तक मान्य है। यह एक प्रश्न है जो उन लोगों को नहीं खटखता जो अपने पुराने संस्कारों के कारण अपनी जन्म-परक जाति का अब भी अभिमान रखते हैं।

यह ठीक है कि सगोत्र विवाह विहित नहीं। परन्तु सगोत्र का अर्थ निश्चित किये बिना जो पौरणिक गाथाओं पर ही विश्वास रखते हैं उनको यह सोचना पड़ेगा और ठंडे

दिल से सोचना पड़ेगा कि वह दयानन्द के अनुयायी हैं या पुराणों के और यदि दोनों के तो संगति कैसे मिलती है।

पौराणिक मत में संगति की कोई आवश्यकता नहीं, न उनको संगति की परवाह है। उनका सिद्धान्त है कि हम लकीर के फकीर रहेंगे। यदि आवश्यकता होगी, तो कहीं-कहीं लकीर तोड़ भी डालेंगे। प्रायश्चित कर लेंगे। या चुप्पी साध लेंगे। या कोई अनोखी पहेली बूझ लेंगे। यह है पुराणों का आधार! क्या आर्य समाजी भी इसी प्रथा का अनुसरण करना चाहते हैं। यह सोचना है।

एक विचित्र बात जो देखने में आती हैं यह है कि जो गोत्र ब्राह्मणों के हैं वह अन्यों के भी पाये जाते हैं। इसके लिये आपस्तम्बप्रवर खंड में है :—

पुरोहितस्य प्रवरेण राजा प्रवृणींत इति विज्ञायते ॥ (१०)

राजा का प्रवर बताते समय "पुरोहित" का प्रवर देना चाहिये। इससे पता चला कि राजा का अलग प्रवर न था। उसका प्रवर वही होता था जो उसके पुरोहित था। यदि प्रवर और गोत्र का यह अर्थ लिया जाय तो एक पुरोहित के यजमानों में परस्पर विवाह निषिद्ध होगा। क्या आर्य समाज आज इस व्यवस्था को स्वीकार करेगा? सोचिये।

अब प्राचीन विवाहों की पद्धति पर भी विचार कीजिये। मानिये। या न मानिये। परन्तु अपने लिये एक मार्ग निश्चित कीजिये :—

मत्स्य पुराण में लिखा है :—

मरीचितनया राजन्सुरुपा नाम विश्रुता।
भार्या सांऽगिरसो देवास्तस्याः पुत्रा दशः स्मृताः।

सुरुपा जनयामास ऋषीनत्सेवैंश्वरानिमान्
वृहस्पतिं गौतमं च संवर्तं च महा ऋषिम्
अयास्यं वामदेवं च उचथ्यमुशिजं तथा।
इत्येते ऋषयस्सर्वे गोत्रकाराः प्रकीर्तिताः।

मरीचि की लड़की थी सरूपा । उसका विवाह हुआ अंगिरा के साथ । उसके दश लड़के हुये, वृहस्पति, गौतम आदि । यह सब गोत्रकार हुये।

यह विवाह कैसे विहित हुआ । यह जानें पुराणवाले । और लीजिये वीतहव्य के वंशवृत्त के देखने से पता चलता है कि यह मरीचि की सन्तान हैं इक्ष्वाकु इसी वंश के थे । श्री रामचन्द्र इक्ष्वाकु वंश के कहे जाते हैं । इक्ष्वाकु के पुत्र थे निमि (विदेह) और उनके पुत्र थे जनक विदेह । इस प्रकार सीता जी और रामचन्द्रजी दोनों इक्ष्वाकु मनुः और मरीचि के वंशज हुये । फिर इन दोनों का विवाह कैसे विहित हो गया । यदि कहो कि सीता जी जनक की पुत्री न थीं तो इतने मात्र से छुटकारा नहीं । क्यों दशरथ के तीन अन्य पुत्र भी तो इसी वंश में ब्याहे गये ।

और लीजिये । बोधायन के महा प्रवर के प्रथम अध्याय में लिखा है :—

एतेषु भृग्वङ्गिरसो भिन्नविवाहं कुर्वते न चेत्समानार्षेया बहवस्स्युरिति मतं बोधायनस्येति ।

इसका अर्थ यह है कि वीतहव्य. शुनक, मित्रयुव, वैन्य, हरित, कुत्स, कण्व, रथीतर, मुग्दल, विष्णुवृद्ध यह भृगु की भी सन्तान है और अंगिरा के भी । परन्तु यह अपने-अपने गोत्र को छोड़कर आपस में विवाह कर लेते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आदि में यह वंश एक थे । परन्तु पीछे से इनकी दस शाखायें हो गईं । अतः वंश या गोत्र भी बदल गये और अब नया नियम

यह हो गया कि यद्यपि प्रथमवंश-कर की अपेक्षा से यह सम-वंशी हैं तथापि पीछे से अन्य कुलों में विभक्त होने के कारण विवाह की मर्यादा पीछे से दूसरी कर दी गई। अर्थात् उनके मूल-कुल न बचाकर पीछे का शाखा कुल बचाना चाहिये।

हम आजकल कायस्थों में इसी प्रकार की परिपाटी देखते हैं। कायस्थ अपने को चित्रगुप्त के सन्तान बताते हैं। चित्रगुप्त के बारह पुत्र हुये। अतः कायस्थों की बारह शाखायें है (फ़िरके) हैं। जैसे भटनागर, श्रीवास्तव, कुलश्रेष्ठ, अष्ठाना आदि। यह पुरानी प्रथा के अनुसार अपने फिरके में विवाह करते हैं। फिरके के बाहर नहीं। परन्तु हर फिरके की कुछ उपशाखायें है जो अल्ल, या खेड़े कहलाते हैं। विवाह इनके भीतर वर्जित हैं। यदि शाखा का विचार किया जाय तो यह बहन भाई हुये अतः विवाह नहीं होना चाहिये था। परन्तु यदि उपशाखा की 'कुल' में गणना की जाय तो उपशाखा को बचाना होगा न कि शाखा को। यह प्रथा कब से पड़ी। यह कहना कठिन है। परन्तु एक बात निर्विवाद है। अर्थात् जब कुल बढ़ते गये तो प्राचीन सम्बन्ध शिथिल पड़ गये। और समान गोत्र और असमान गोत्र का अर्थ भी बदल गया अर्थात् जो पहले समान गोत्र थे वह अब असमान गोत्र हो गये और उनमें परस्पर विवाह विहित हो गया। नये गोत्र भिन्न-भिन्न नामों से प्रचलित किये गये और केवल उन्हीं का बचाना अभीष्ट ठहराया गया।

यह बात वेदों के मौलिक नियम से सुसंगत हैं। क्योंकि वहाँ 'दुहिता दूरेहिता' का नियम है। अर्थात् विवाह निकट-कुल में मत करो। परन्तु 'निकटता' की भी तो मर्यादा होनी चाहिये। दूरी कितनी हो ? दस पीढ़ी की या पचास पीढ़ी की या एक सहस्र पीढ़ी की। यदि मर्यादा न बाँधी जायगी तो समस्त संसार भाई बहन होने से या तो विवाह असम्भव होगा या सगे

भाई बहन भी विवाह कर सकेंगे। इसलिये यह निश्चित किया गया कि विवाह के प्रसङ्ग में भाई-बहन या समकुल या समगोत्र या सम-वंश वही समझे जायगें जिनका सम्बन्ध निकटस्थ है।

पाणिनी मुनि के समय में गोत्र सम्बन्धी कुछ विवाद चला होगा। इसलिये पाणिनी का सूत्र है :—

'*अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्*' (४।१।१६२ अष्टाध्यायी)

अर्थात् गोत्र पौत्र से गिना जाता है।

पौत्रप्रभृति यदपत्यं तद्गोत्रसंज्ञं भवति। संबन्धिवचनत्वादपत्य-शब्दस्य यदत्यं तदपेक्षया पौत्रप्रभृतेगोत्रिसंज्ञा विधीयते। गर्गस्यापत्यं पौत्रप्रभृति गार्ग्यः। वात्स्यः।... —...पौत्रप्रभृति किम् अनन्तरस्य माभूत्। कौञ्जिः। गार्गि।

(देखो काशिका)

यहाँ एक विचारणीय बात यह है कि गर्ग और वत्स का नाम न तो पहले आठ गोत्रकारों में हैं और न भृगु और अंगिरा के दश गोत्रकारों में है। फिर गार्ग्य गोत्र या वात्स्य गोत्र कैसे बन गये। इससे सिद्ध है कि गोत्र समय-समय पर नये बनते रहते हैं। जैसे कुल! कुछ पीढ़ियों तक के लोग एक कुल के समझे जाते हैं। फिर समीपता नष्ट होने के कारण कुल-पना भी पहले शिथिल पड़ता है फिर लुप्त-प्रायः होता है। फिर पूर्णरूपेण लुप्त हो जाता है। यही सुसंगत भी है और इतिहास भी इसी की पुष्टि करता है। इससे भिन्न कल्पनायें सर्वथा अव्यवहार्य, अनैतिहासिक, प्रमाणशून्य और हानिकारक होंगी। वैवाहिक नियम ऐसे होने चाहिये जिनसे सामाजिक और धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति भी हो जाय और अनावश्यक बाधायें भी न पड़ें। यदि नियम अत्यन्त कड़े होंगे तो भी उनके

उल्लङ्घन करने में प्रलोभन होने से मर्यादा नष्ट हो जायगी।

अब आप स्मृतियों के वचनों पर दृष्टि डालिये :—

(१) मनुस्मृतिः

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

यहाँ माता का सपिण्ड और पिता का सगोत्र बचाने का नियम है। सपिण्ड और सगोत्र का अर्थ नहीं दिया गया। जिस समय मनुस्मृति लिखी गई होगी उस समय निश्चित गोत्र ज्ञात होंगे। बहुत सों का मत है कि माता का सगोत्र बचाने का बन्धन नहीं है। माता का सपिण्ड मात्र बचना चाहिये। सपिण्ड और सगोत्र से यदि रजोवीर्य सम्बन्ध अभिप्रेत है तो फिर कोई न कोई नियम बनाना पड़ेगा, जहाँ तक गिनती की जाय। 'अप्रशस्त' और 'निषिद्ध' में कुछ भेद है या नहीं यह भी प्रश्न है। क्योंकि 'निषिद्ध' दण्ड्य है 'अप्रशस्त' दण्ड्य नहीं।

(२) याज्ञवल्क्य स्मृतिः

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।
पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा॥

यहाँ माता की पाँच पीढ़ियाँ और पिता की सात पीढ़ियाँ बचाने का विधान है। 'असमानार्षगोत्रजाम्' कहने मात्र से काम चल सकता था। परन्तु गोत्र की मर्यादा संकुचित और व्यवहार्य बनाने के लिये पाँच और सात पीढ़ियों की क़ैद लगा दी गई।

(३) पैठीनसी स्मृतिः

असमानार्षेयीं कन्यां वरयेत्। पंच मातृतः परिहरेत्। सप्त पितृतः। त्रीन् मातृतः पञ्च पितृतो वा।

(४) नारदः

सप्तमात् पंचमादर्वाग् बन्धुभ्यः पितृमातृतः ।
अविवाह्या सगोत्रा च समानप्रवरा तथा ॥

मूलतत्त्व यह है एक कुल में विवाह न करना। परन्तु कुल का क्षेत्र देशकाल की परिस्थिति के अनुसार घटता बढ़ता रहा है। और गोत्र का भी। कुल और गोत्र तो पर्याय से ही हैं।

आर्य्य समाज के पंडितों ने गोत्र के आधार पर हिन्दू-कोड बिल के विरुद्ध क्यों शोर मचाया ? यह एक आश्चर्य की बात है। सनातन धर्मी पंडितों के लिये तो यह एक सुगम बात हैं क्योंकि वह (१) लकीर के फ़क़ीर होते हैं। नई लकीर बनाना उनको प्रिय नहीं। हाँ यदि काल के प्रभाव से किसी की बनाई लकीर गहरी हो जाय तो वह उस पर भी चलने में संकोच नहीं करते। (२) वह जन्म से जातियाँ मानते हैं। (३) उनका कट्टर-पंथी भाग सभी सुधारों का सदैव विरोध करता रहा है।

परन्तु आर्य्य समाजियों की तो मनोवृत्ति ही आरम्भ से इसके विरुद्ध रही। यह जन्म-परक जातियों का खण्डन करते रहे। सुधार के पक्ष में रहे। सुधारकों का सहयोग करते रहे। आज इनके पुराने संस्कार उभर आये। यदि आर्य्य समाज को सार्वभौमिक बनाना है तो वह एक साथ दो गाड़ियों पर सवार नहीं हो सकते। या प्रगतिशील रहें या प्रति-क्रियावादियों का साथ दें। यदि इन्होंने मूलतत्त्व का विचार न करके शाखा-प्रशाखा की उलझनों में पड़ना पसन्द किया तो यह हिन्दुओं का एक संकुचित सम्प्रदाय होकर रह जायंगे। प्रश्न केवल हिन्दू कोड-बिल का नहीं है। प्रश्न मनोवृत्ति का है। इसी मनोवृत्ति के आधार पर तो नित्य नई उठने वाली समस्या का समाधन करना होगा। स्मृतियों के वचनों की व्याख्या भी मूल-धर्म-तत्त्वों को दृष्टि में रखकर ही करनी पड़ेगी।

तलाक़

वर्तमान पौराणिक हिन्दू प्रथा के अनुसार पुरुष और स्त्री को समानाधिकार प्राप्त नहीं हैं। जैसे, (१) पुरुष एक ही समय में कई विवाह कर सकता है। स्त्री नहीं। (२) पुरुष स्त्री को छोड़ सकता है। स्त्री नहीं। (३) मृत-पत्नीक पुरुष पुनर्विवाह कर सकता है। स्त्री नहीं। (४) पुरुष अपने पिता की सम्पत्ति में दायभाग पाता है। स्त्री नहीं। (५) पुरुष को वेद पढ़ने का अधिकार है। स्त्री को नहीं। (६) पति-व्रत धर्म पर बड़ा बल दिया जाता है। पत्नीव्रत पर बिल्कुल नहीं। (७) जिन कामों में स्त्री कुलटा और निन्दनीय समझी जाती है, उन कामों में पुरुष को निन्दनीय नहीं समझा जाता। (८) स्त्री के भाई, बाप, माँ, बहन के नाम गाली में प्रयुक्त होते हैं। पुरुष के नहीं।

ऋषि दयानन्द ने बताया कि यह विषम-भाव वेदों के प्रतिकूल हैं, अन्याय हैं। असभ्यता है। स्त्री और पुरुष के समान अधिकार होने चाहिये। कड़ाई हो तो सब के लिये एक सी। नरमी हो तो सबके लिये एक सी। उन्होंने दोनों के लिये 'सत्यार्थ-प्रकाश' में एक से नियम बनाये। वह इस प्रकार हैं :—

(१) बहु-विवाह-निषेध-दोनों के लिये। (२) यदि एक मर जावे तो दूसरे को चाहे वह पुरुष हो या स्त्री पुनर्विवाह का निषेध। नियोग की आज्ञा। (३) कुछ विशेष अवस्थाओं में सम्बन्ध-विच्छेद की आज्ञा दोनों को। और दोनों को सम्बन्ध विच्छेद के पश्चात् नियोग की समान आज्ञा। (४) वेद पढ़ने, यज्ञ करने, यज्ञोपवीत पहनने आदि का दोनों को समान अधिकार।

(५) सदाचार के नियम दोनों के लिये समान। (६) दोनों के सम्बन्धियों का समानता से मान। अपमान किसी का नहीं। सब से बड़ी समझने की बात यह है कि यह नियम उसी समय पाले जा सकते हैं जब दोनों पर समानता से लागू हों। यह असम्भव है कि स्त्रियों से कहो कि तुम ब्रह्मचारिणी रहो। और पुरुष उस पर कटिबद्ध न हों। इस प्रकार के उभय-पक्षी नियम एक ओर से नहीं बर्ते जा सकते।

आर्य समाज ने सुधार करना आरम्भ किया। परन्तु इनका अलग कोई कानून नहीं बना। पुराने 'हिन्दू ला' (Hindu Law) के अनुसार इनकी भी स्थिति रही। इन्होंने विधवाओं का पुनर्विवाह तो उत्साहित किया परन्तु पुरुषों के बहु-विवाह को न रोक सके। यह नियोग की प्रथा भी नहीं डाल सके। क्योंकि 'हिन्दू ला' से इसका विरोध होता था। इसमें प्रश्न आता था वैध सन्तान और अवैध सन्तान का। प्रत्येक पुरुष किसी प्रकार किसी से (बलात्कार को छोड़कर) संतान उत्पन्न कर सकता है। परन्तु जब तक वह हिन्दू-कानून से विहित न हो, वह उसको दायभाग नहीं दे सकता।

स्त्रियों के सम्बन्ध में हिन्दू कानून में यह सम्मानित नियम है कि विवाह का सम्बन्ध कभी नहीं टूट सकता। इस नियम के पुरुष और स्त्री पर दो भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ते हैं। पुरुष तो पहला-विवाह संम्बन्ध विच्छेद न करके भी स्त्री को तंग कर सकता है, दूसरा विवाह कर सकता है, रखेल रख सकता है। स्त्री किसी दशा में भी पुराने पति के स्त्रीत्व से अलग नहीं हो सकती। आर्यों ने 'आर्य समाज-विवाह एक्ट' पास कराया। जिसके अनुसार आर्य समाजियों में गैर-बिरादरियों में भी विवाह करना वैध हो गया। परन्तु वह अपने को बहुविवाह से रोक नहीं सके। क्यों कि 'हिन्दू-ला, की समस्तविषमतायें उनपर लागू थीं।

अतः कई दुराचार्यों ने अपनी पहली स्त्री होते हुये भी दूसरी बिरादरी में विवाह कर लिया अर्थात् आर्य्यसमाज-विवाह-एक्ट का दुरुपयोग किया। बिरादरी तोड़कर विवाह करने में तो वह आर्य्य समाजी बन गये। और बहु-विवाह करने में पौराणिक ! यही नहीं। दक्षिणा के लोभी आर्य पण्डितों ने ऋषि दयानन्द की बनाई पवित्र 'संस्कार विधि' से इस प्रकार के विवाह कराये। क्योंकि विना संस्कार विधि से विवाह कराये उनको 'आर्य-विवाह एक्ट' का लाभ नहीं मिल सकता था।

ऐसी अवस्था में 'हिन्दू-कोड बिल' पेश हुआ। 'हिन्दू-कोड बिल' न कि 'आर्य्य-कोड-बिल'। यह कहना अनुचित न होगा कि यह बिल यद्यपि पूर्णरूपेण 'आर्य्य-कोड बिल' नहीं था। परन्तु यह पौराणिक और वैदिक धर्म के बीच की एक ऐसी चीज थी जो आर्यसमात्र के अधिक निकट और पौराणिक से अधिक दूर है। अर्थात् इसका झुकाव आर्यसमाज की ओर है। आर्यसमाज को इसकी सहायता करनी चाहिये थी। उसने उसका विरोध करके पौराणिक कुप्रथाओं को जीवित रखने में सहायता दी।

कैसे ? प्रथम तो बहु-विवाह की सहायता करके। यदि यह पास हो जाता तो आर्य समाज के लिये बहुत सुविधा हो जाती। 'आर्यसमाज-विवाह एक्ट' का दुरुपयोग न हो पाता।

दूसरे तलाक़* का नारा उठाकर। तलाक़ अरबी शब्द है।

---

*नोट—इस पुस्तक के छपते छपते भारतीय संसद में विशेष विवाह-विधेयक (Special Marriage Act, 1954) पास हुआ है। इसको 'हिन्दू-कोड बिल' का आंशिक स्थापन्न समझना चाहिये। इसमें विशेष नियंत्रण के साथ तलाक़ की आज्ञा दे दी गई है। परन्तु यह कहना कठिन है कि इससे स्त्रियों के प्रति अत्याचारों की कमी होगी। हाँ इतना अवश्य है कि सुधार का कुछ सूत्रपात हुआ। मनोवृति ही बदली।

मुसलमानों और ईसाइयों में तलाक़ का बहुत प्रचार है। और इसमें कुछ बुराइयाँ भी हैं। परन्तु वह तलाक़ की शर्तों के कारण हैं। 'हिन्दू-कोड बिल' में तलाक़ की शर्तें बहुत कड़ी रक्खी गई हैं। इसलिये ईसाई, मुसलमानों के प्रचलित तलाक़ और 'हिन्दू-कोड बिल' के प्रस्तावित तलाक़ में बहुत भेद है। समानता केवल नाम की है। जिनको अरबी शब्द से घृणा है वह शुद्ध संस्कृत का 'सम्बन्ध-विच्छेद' शब्द प्रयोग में ला सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने तो ठेठ हिन्दी का 'छोड़ना' शब्द प्रयुक्त किया है।

प्रश्न यह है:—

(१) क्या कोई ऐसी भी अवस्था है जिसमें सिवाय सम्बन्ध विच्छेद के कोई और उपाय न हो?

(२) क्या ऐसी अवस्था में स्मृतियाँ ऐसा करने की आज्ञा देती हैं?

(३) क्या ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने सम्बन्ध-विच्छेद की आज्ञा दी है?

(४) क्या कोई ऐसा क़ानून बनाया जा सकता है जिससे सम्बन्ध-विच्छेद लागू भी हो जाय और इससे हानियाँ भी न हों?

आर्यसमाज में ऐसे केस बहुतायत से आये हैं जिनमें पति ने दूसरा विवाह कर लिया। पहली स्त्री पर अत्याचार किये। वह निकल कर भाग आई और ईसाई या मुसलमानों के चंगुल में फस गई। आर्यसमाजियों ने उसको वापिस तो लिया। परन्तु उसका करें क्या? पति जीवित है। विवाह-विच्छेद हुआ नहीं वह विधवा नहीं। अतः 'विधवा-विवाह एक्ट' का लाभ उसे उपलब्ध नहीं। क्या किया जाय? वह ब्रह्मचारिणी रहे। असंभव। वह नियोग करले, कानून के विरुद्ध। इसीलिये स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा था—

(१) जो अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्री को 'छोड़के' दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवें।

(२) वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़कर दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवें। (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास ४, नियोग प्रकरण)

यहाँ तलाक़ के स्थान में 'छोड़ना' क्रिया का प्रयोग किया गया है। तलाक़ का अर्थ यह है कि कानून की दृष्टि में आज से पति का पत्नी पर और पत्नी का पति पर दम्पतीत्व का कोई अधिकार या कर्तव्य नहीं रहा। वह आगे को ऐसा ही व्यवहार करेंगे जैसे कि वह पति या पत्नी नहीं है। तलाक़ का उतना ही अर्थ है, अधिक नहीं। स्वामीजी महाराज के 'छोड़ना' शब्द का भी इतना ही अर्थ है। अधिक नहीं। दोनों अवस्थाओं में दोनों पक्षों को अधिकार है कि वह एकाकी रहें, न नियोग करें न पुनर्विवाह। तलाक़ में और 'हिन्दू-कोड बिल' द्वारा तलाक़ में दोनों पक्षों को पुनर्विवाह का अधिकार है। स्वामी जी के 'छोड़ना' में पुनर्विवाह का अधिकार नहीं नियोग का अधिकार है। *यह है एक भेद जिसका अर्थ समझ लेना चाहिये।*

यह भेद उस समय तक व्यवहार में नहीं लाया जा सकता जब तक 'आर्य्य कोड बिल' न बने और नियोग कानून से वैध घोषित न हो जाय। उस समय तक के लिये आर्य्य समाज ने एक बीच का मार्ग निकाला है। अर्थात् पुनर्विवाह को नियोग का स्थानापन्न समझा जाय। इसी पर व्यवहार हो रहा है। इसी को सार्वदेशिक सभा तथा अन्य सभायें आरंभ से अब तक मान्यता देती चली आ रही हैं। एक और बात है जो नोट करनी चाहिये। नियोग के स्थान में पुनर्विवाह करने वाले 'शूद्र'

नहीं समझे जाते। उनको वही मान्यता दी जाती है जो ब्राह्मणों को। वह यज्ञ करा सकते हैं। उपदेश दे सकते हैं। बड़ी से बड़ी सभाओं या गुरुकुलों के प्रधान और आचार्य बन सकते हैं। वर्तमान परिस्थिति में यही उचित भी है।

'कोड बिल' के विरोधी पौराणिकों ने तो अपनी युक्तियों या कुतर्कों से बिल का विरोध किया। जो आर्य्य उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाने में अपना श्रेय समझते थे। उन्होंने यह तर्क करना आरंभ किया :—

(१) *यह नियोग का प्रकरण है तलाक़ का नहीं*। यह उनकी धारणा गलत थी। भाषा स्पष्ट है! प्रकरण नियोग का अवश्य है परन्तु तलाक का भी है।

(२) यहाँ 'छोड़ने' का अर्थ है परस्पर समझौता। अर्थात् समागम न करें। घर में रहते रहें। और नियोग भी करते रहें।

इसको कहते हैं धींगा धांगी। जो दशायें 'छोड़ने' की दी है उनमें आपस के समझौते की कल्पना करना भी अनर्थ है। कानून की सहायता बिना पिण्ड छूटना संभव ही नहीं। यदि समझौता संभव होता तो यह नौबत भी न आती। क्या ऐसा समझना पागलपन नहीं है कि एक अत्याचारी पुरुष स्त्री को घर में बैठा रहने दे। उसको तंग न करें और उसे अन्यत्र नियोग करने की भी आज्ञा दे देवे। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि "हे शेर मुझे अपनी डाढ़ में रखले, चबाना मत। और यदि मैं तेरी एक डाढ़ उखाड़ भी लूँ तो चुपचाप सहन कर लेना।"

(३) कुछ भोले-भाले लोगों ने इसका यह अर्थ निकाला कि चूँकि स्वामीजी ने लिखा है कि "दूसरे पुरुष से नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान

कर लेवे।" इसलिये इन अन्तिम शब्दों से टपकता है कि वह स्त्री पहले पति के ही साथ रहे और जो बच्चे हों उनको वह पहला पति स्वीकार कर ले।

इनको मैं 'भोला-भाला' इसलिये कहता हूँ कि वह अपने को धोखा दे रहे हैं। यह छोड़ना पति की इच्छा के विरुद्ध है। वह छोड़ नहीं रहा। उससे पत्नी जबरदस्ती छुड़ाई जा रही है जिससे वह विचारी पति के अत्याचारों से मुक्त हो जाय। वह उसकी इच्छा से नियोग नहीं करेगी अपितु उन अधिकारों द्वारा जो कानून उसको देगा। इस नियोगोत्पन्न सन्तान को पहला पति खुश-खुश दायभाग हवाले नहीं कर देगा। कानून को कोर्ट से यह दायभाग दिलवाना पड़ेगा। यह भी संभव है कि वह पति भी किसी दूसरी स्त्री से अपने लिये सन्तान उत्पन्न करले तो ऐसी अवस्था के लिये नियम बनाने पड़ेंगे कि किसको कितना मिलना चाहिये। क्या ऐसी दून की सोचने वालों ने इस पर विचार किया है।

मैं यह तो मान सकता हूँ कि यदि आपको प्रस्तावित बिल के तलाक़ के नियम नरम मालूम होते हों तो कड़े कीजिये। परन्तु कीजिये दोनों के लिये समानता से। साधारणतया तो मैं देखता हूँ कि नियमों के बनाने में पर्य्याप्त ध्यान रक्खा गया है, मैं उन सब को यहाँ इसलिये नहीं देता कि मौलिक प्रश्न विरोध का है, नरमी-सख्ती का नहीं। कौन जानता है कि भविष्य में क्या परिवर्तन हो जाय! सुधार के लिये तो सदैव गुंजायश है। मनोवृत्ति सुधार की होनी चाहिये।

———

दायभाग

दायभाग का प्रश्न उतना महत्व का नहीं जितने और प्रश्न। यदि केवल दायभाग की ही बात होती तो कम से कम मैं इतना विरोध न करता। सम्पत्ति से अधिक प्रश्न जान का है। कुछ ऐसे भी हैं जो जीवन की प्रत्येक समस्या को सम्पत्ति की दृष्टि से ही देखते हैं। मैं उनमें से नहीं हूँ। इस विषय में मुझे कुछ कहना भी नहीं है।

प्रश्न है बेटा-बेटी के समानाधिकार का। प्रस्तावित बिल आधी दूर तक गया है। अर्थात् लड़की को भी कुछ दिया जाय। यह है समझौते का बिल।

विरोधियों की युक्तियाँ यह हैं :—

(१) स्त्री को अपने पति के घर जाकर सब अधिकार प्राप्त हैं। उसको दो सम्पत्तियों की इच्छा नहीं करनी चाहिये। वह पिता के घर से दहेज़ ले जाती है।

(२) इससे भाई-बहन में वैमनस्य होगा।

(३) संयुक्त परिवार की प्रथा टूट जायगी जो हिन्दू संस्कृति की आधार शिला है।

(४ यह शास्त्र विहित नहीं है।

इन सबका अलग-अलग मेरा उत्तर सुनियेः—

(१) स्त्री का पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं, "रहे तो रहुआ रोटी खाय, जाय तो रहुआ क्या ले जाय"। रोटी खाय कपड़ा पहने। वह पति की सम्पत्ति का पति के आज्ञा बिना या उसके मरने पर पति के दायभागियों की आज्ञा के बिना कुछ

नहीं कर सकती। जो अन्यथा कहते हैं वह चालू कानून से सर्वथा अनभिज्ञ हैं या जान-बूझकर परदा डालते हैं। वह पिता के घर से कुछ दहेज़ नहीं लाती। पिता समाज की रूढ़ियों से तंग आकर कुछ रुपया दहेज़ के नाम से कुयें में फेंक देता है। वह भी परवश। दहेज़ तो एक भीषण प्रथा है। इसने स्त्री जाति को प्रनष्ट कर दिया है। और उसके कारण समस्त मनुष्य समाज को। दायभाग दो या न दो। दहेज़ फौरन बन्द करो!

परन्तु मैं एक और बात कहता हूँ। जो मैं अनेक परिवारों में देख चुका हूँ। जैसे एक धनाढ्य पुरुष के चार लड़के हुये और दो लड़कियां। पिता माता ने छओं को बड़े लाड प्यार से पाला। वे महलों में रहें, मोटर पर सवारी की। अच्छा खाया अच्छा पहना। बाप ने लाख दो लाख मृत्यु पर छोड़े। लड़कियाँ विधवा हो गई या निर्धन हो गईं। बाप का धन मिला लड़कों को। लड़कियाँ अपने पिता के धन से कुछ भी सहायता नहीं ले सकतीं जब तक कि भाई तरस खाकर दान के रूप में उनको कुछ न देवें। लड़के बुरे हैं या भले। माल सब उनका। मेरी समझ में ऐसे मां बापों की मनोवृति नहीं आती जो अपनी ही सन्तान का हित नहीं सोचते।

(२) भाई बहन में वैमनस्य हो भी सकता है और नहीं भी। यह उनकी सद्भावना पर निर्भर है। यदि दो भाई हों तो ज़ायदाद बटवा सकते हैं। सद्भावना से भी और कुभावना से भी, यदि भाई बहन का भाग हर्ष पूर्वक दे देगा तो कोई असद्भावना न होगी।

(३) यह प्रश्न है कि वैदिक प्रथा संयुक्त परिवार की थी। या नहीं विवाह की जो पुरानी प्रथायें अब भी शेष हैं उनसे तो यह प्रकट होता है कि संयुक्त परिवार अनिवार्य न था। विवाह में पितृवर्ग से सब ऐसा सामान दिया जाता है जो नये घर के लिये

कुछ दिनों के लिये पर्याप्त हो। वर वधू गृहपति और गृहपत्नी होते हैं। वेदों में दम्पति शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दमस्य पतिः दम्पतिः (देखो ऋग्वेद १-१२७८) दम्पति गृहपत्यादि-रूपेण गृहस्य पालकम्। दम इति गृहस्य। आकार लोपश्छान्दसः सादव स्त्रीपुरुषाख्यद्वन्द (दयानन्द) संयुक्त परिवार के गुण भी हैं और अवगुण भी। मुझे बहुत सन्देह है कि वर्तमान परिस्थिति में यह रह सकेगा या नहीं, इसने आजकल तो घरों की आन्तरिक शांति को बहुत कुछ भंग कर रक्खा है। हम घड़ी की सुई को फेर न सकेंगे। ऐसी मेरी धारणा है। मेरी समझ में तो वह भाई बहन अधिक प्रेम से रहते हैं जो अलग-अलग रहते हैं। अपना कमाते हैं अपना खाते हैं। उनकी उन्नति भी अधिक होती है। संयुक्त परिवार में रहने वाले लोग जल्दी नष्ट होते देखे गये हैं। कभी तो परिवार का विभाजन करना ही पड़ेगा। संयुक्त परिवार कई पीढ़ी तक नहीं चल सकता। बेटी का भाग मार कर जो संयुक्त परिवार को रखना चाहते हैं वह भूलते हैं।

मेरे विचार में परिवारों की व्यवस्था वाटिका निर्माण के समान होनी चाहिये। यदि मुझे ५० बीघे के खेत में बाग लगाना हो तो मैं पहले अमरूद के सौ पचास बीजों को लेकर एक क्यारी में बो दूँगा। यदि वह बीज समस्त ५० बीघों में फैला दिये जायं तो चिड़ियाँ खा जायँगी या अन्य वृक्षों के कारण पौधे न जम सकेंगे। उनके संवर्धन में बाधक होगी। परन्तु जब वह पौधे कुछ बड़े हो जायँ तो उनको दूर-दूर थांवले बना कर रक्खा जायगा जिससे उनमें से हर एक वृक्ष अपनी शक्ति द्वारा उस भूमि में से रस चूस सके। यदि वह पौधे अधिक देर तक उसी क्यारी में छोड़ दिये गये तो उनको पर्याप्त खाद्य न मिलने के कारण वह नष्ट हो जायँगे। इसी प्रकार एक परिवार में जब

बच्चे उत्पन्न होते हैं तो उनको एक साथ रखने में ही उचित संवर्धन हो सकेगा। परन्तु यदि बड़े होकर भी एक ही स्थान पर लड़ते-भिड़ते बने रहे तो उनकी वृद्धि बन्द हो जायगी। अतः बच्चों को पहले से ही ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि तुम को आगे चलकर अलग-अलग रहना है। जिससे वह अपने पैरों पर खड़े होना सीखें। मैंने अपने ऊपर यह परीक्षण किया है और इसको सफल पाया हैं। अधिक सम्पत्ति छोड़ने वाले माता पिता अपने लड़कों के विनाश का कारण हुये हैं। भविष्य में तो राष्ट्र का ऐसा निर्माण होने वाला है कि न जायदाद रहेगी न यह प्रश्न उत्पन्न होगा।

भारत ने संयुक्त परिवार की प्रथा से कोई लाभ नहीं उठाया चार सौ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड की आबादी इग्लैण्ड भर की थी। वहाँ संयुक्त परिवार की प्रथा नहीं रही। अंग्रेज बच्चे घर छोड़ कर निकल पड़े और दुनियाँ भर में फैल गये। भारत के सामने यही आदेश रहा कि पैतृक सम्पत्ति के आश्रित रहो, संयुक्त रहो प्रेम से रहो। वह पैतृक सम्पत्ति के आश्रित भी रहे, संयुक्त भी रहे परन्तु प्रेम से न रहे। लड़े-भिड़े, नष्ट हुये। और दूसरों के लिये खात बन गये। प्राचीन वैदिक आर्य इससे भिन्न थे। उन्होंने घर छोड़ा। उपनिवेश बसाये। अपनी सभ्यता दूसरों को सिखाई और अभ्यदय की संवृद्धि की। कहा भी है :—

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं का पुरुषाः पिबन्ति

'संगच्छध्वं' का यह अर्थ कदापि नहीं कि एकदूसरे से चिपटे रहो। साथ चलो परन्तु फैल फूट कर चलो।

शास्त्रों की साक्षी

प्रश्न—क्या वेद में पुरुषों का बहु-विवाह निषिद्ध है।

उत्तर—अवश्य।

प्रश्न—दिखाओ ?

उत्तर—देखिये :—

इहैवास्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि र्मोददमानौस्वे गृहे॥

(ऋग्वेद १०-८५-४२)

यहीं रहो, पृथक् मत रहो, पूरी आयु भोगो। अपने घर में नाती पोतों के साथ आनन्द से खेलते रहो।

यहाँ आस्तं, वियोष्टं, अश्नुतं, क्रीडन्तौ, मोदमानौ सब द्विवचन में हैं। अर्थात् एक स्त्री और एक पुरुष। यदि बहुविवाह की आज्ञा होती तो बहुवचन का प्रयोग होना चाहिये था।

अथर्ववेद के यह मंत्र भी देखिये जिनसे एक विवाह (Monogamy) सिद्ध होता है—

(१) इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दंपती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्॥

(अथर्ववेद १४-२-६४)

'यहाँ इमौ, दंपती, चक्रवाकइव, एनौ, स्वस्तकौ, व्यश्नुताम्,' यह सब शब्द बताते हैं कि बहुपत्नी या बहुपति-भाव वर्जित है।

(२) अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवीत्वम् ।
ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै ॥
जनयन्ति नावग्रवः पुत्रयन्ति सुदानवः ।
अरिष्टासु सचेवहि वृहते वाजसातये ॥

(अथर्ववेद १४-८-७१, ७२)

(३) गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घ त आयुः सविता कृणोतु ॥

(अथर्ववेद १४-२-७५)

इनसे भी एकपत्नीभाव स्पष्ट है ।

प्रश्न—एक यूप में कई गायें बंध सकती है। परन्तु एक गाय कई यूपों में नहीं बंध सकती। इससे विदित है कि एक पति के कई पत्नियाँ हो सकती हैं। परन्तु एक स्त्री के कई पति नहीं हो सकते ।

उत्तर—यह दृष्टान्त किसी अत्याचारी ने निषिद्ध प्रथा को विहित बताने के लिये गढ़ा है। यह वेदों का सिद्धान्त नहीं है।

प्रश्न—स्वाभाविक तो यही है कि एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सके। एक पुरुष कई स्त्रियों को गर्भ धारण करा सकता है। एक स्त्री कई पुरुषों द्वारा गर्भधारण नहीं कर सकती।

उत्तर—तुम आदमी हो या साँड ? क्या विवाह का प्रयोजन केवल गर्भधारण करना है ? क्या इसमें आध्यात्म, समाज निर्माण आदि उद्देश नहीं हैं ? यदि केवल गर्भाधान मात्र ही प्रयोजन हो तो जैसे एक बकरी के गल्ले के लिये एक बकरा और गायों की एक टोली के लिये एक साँड काफी होता है, इसी प्रकार समस्त मुहल्ले की स्त्रियों के लिये तुम अकेले काफी हो। यह सभ्य मनुष्यों की बात नहीं है।

प्रश्न—श्री कृष्ण महाराज में शक्ति थी। वह एक ही बार में १६१०८ रानियों से समागम करते थे।

उत्तर—क्यों अनर्थ करते हो ? अपने पूर्वजों को इस प्रकार बदनाम करना ठीक नहीं है। यदि किसी में साँड के समान अनेक स्त्रियों से समागम करने की शक्ति हो भी, तो वह सबसे प्रेम तो नहीं कर सकता। लम्पट लोग किसी से प्रेम नहीं करते :—

दिल के टुकड़े हजार हुये कोई यहाँ गिरा कोई वहाँ गिरा।

श्री कृष्ण महाराज की ऐसे लम्पटों से तुलना मत करो।

प्रश्न—देखो 'दाराः' शब्द बहुवचन है। इससे ज्ञात होता है कि एक पुरुष कई स्त्रियाँ कर सकता है।

उत्तर—संस्कृत में लिङ्ग और वचन शब्दों के होते हैं अर्थों के नहीं। यह भी तो सोचो कि 'दाराः' शब्द न केवल बहुवचन ही है अपितु पुल्लिङ्ग भी है। फिर तो तुमको अपने मुहल्ले के दस बीस पुरुषों से विवाह करना चाहिये। जिससे "इमान् दारान् प्रति-गृह्णातु भवान्" का ठीक-ठीक अर्थ हो सके। याद रखना चाहिये कि 'दाराः' शब्द वेद में कहीं नहीं आया। पीछे से आप जैसे किसी ने संस्कृत भाषा में प्रविष्ट कर दिया है।

प्रश्न—दहेज़ की प्रथा के विरुद्ध वेद में कहा लिखा हैं ?

उत्तर—देखिये

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वोर्वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते।

(ऋग्वेद १०।८५।३०)

इसका तात्पर्य यह है कि जो पति अपनी स्त्री के कपड़े से अपना अङ्ग ढकना चाहता है उसका शरीर पापी हो जाता है। यहाँ 'वस्त्र' प्रतीक है स्त्री की सब चीजों का। उनसे पतित

कौन होगा जो इस आशा में रहते है कि बहू आवे वह कपड़ा भी लावे, जेवर भी लावे, मकान मी लावे, मोटर भी लावे और कुछ रुपया भी लावे जिससे इन हजरत का कुछ दिनों गुजारा चल सके। क्या यह पुरुष हैं ? पति 'भर्ता' कहलाता है और स्त्री 'भार्या'; क्योंकि पति का कर्तव्य है कि स्त्री का पालन करे। दहेज माँगने वाले 'लोक-भार्य' हो जाते हैं और उनकी पत्नियाँ 'भर्त्री'।

प्रश्न—स्त्रियाँ विवाह में प्रतिज्ञा करती हैं कि मेरा हृदय तुम्हारा हृदय हो। यदि स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जायगी तो यह प्रतिज्ञा टूट जायगी।

उत्तर—ऐसी प्रतिज्ञा तो पुरुष भी करता है। फिर वह उसको क्यों तोड़ देता है ? यदि एक पुरुष चार स्त्रियों से विवाह करे तो चारों के साथ कहेगा, "मेरा—हृदय तेरा हृदय हो" इत्यादि। ऐसे पुरुष का हृदय हृदय है या बाजीगर का थैला ? आज एक से प्रतिज्ञा की, कल दूसरी से। पालन किसी का नहीं किया। क्या एकपत्नी प्रतिज्ञायें कभी सफल हो सकती हैं ?

प्रश्न—हम आदर्श चाहते हैं। यदि पुरुष बिगड़ जायँ तो इसका यह अर्थ नहीं कि स्त्रियाँ भी बिगड़ जायँ। जो बचा रहे वही सही।

उत्तर—तुम आदर्शवादी नहीं। तुम्हें पता ही नहीं कि आदर्श क्या होता है। तुम बहानेंबाज़ हो। और बाल की खाल निकालकर अपनी बुराइयों पर परदा डालते हो। कोई समाज उन्नति नहीं कर सकता जब तक स्त्री और पुरुष दोनों के अधिकार समान न हों। तुम जैसे आदर्शवादियों केविषय में ही किसी ने कहा है :—

पीडितो मस्तरोगेण,
ज्योतिर्वित् खोऽमुखः खलः ।
गृहकुशलसंपृष्टः,
ग्रहान् जल्पति खास्थितान् ।

प्रश्न—वेद में कहाँ लिखा है कि स्त्री को पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग मिलना चाहिये ?

उत्तर—यह कहाँ लिखा है कि न मिलना चाहिये ? जहाँ पुरुष के लिये विधान है वहीं स्त्री के लिये भी ।

ऋग्वेद में एक मंत्र है:—

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे ॥

(ऋ० ३।३१।१)

इस मंत्र का प्रमाण देकर यास्काचार्य 'निरुक्त' में लिखते हैं—

अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति । पुत्रदायाद्य इत्येके

(निरुक्त ३।३)

अर्थात् यह ऋचा लड़की के दायभाग के लिये उदाहरण में दी जाती है । कुछ लोग इसको लड़के के दायभाग के सम्बन्ध में लेते हैं ।

यहाँ प्रसंग यह था कि 'निघण्टु' में १५ नाम 'अपत्य' वाचक गिनाये गये थे (१) तुक् (२) तोकम् (३) 'तनयः' या 'तनयम' (४) तोक्म (५) तक्म (६) शेषः (७) अप्नः (८) गयः (९) जाः (१०) अपत्यम् (११) यहुः (१२) सूनु (१३) नपात् (१४) प्रजा (१५) बीजम्

निरुक्तकार को इनमें से कुछ की उदाहरण सहित व्याख्या करनी थी । पहले उन्होंने 'अपत्य' की व्याख्या की:—

अपत्यं कस्मादपततँ भवति, नानेन पततीति वा ।

यहाँ 'अपत्य' की दो प्रकार से व्युत्पत्ति कीः—

(१) "*अप + ततं*"

अर्थात् अपत्य वह है जिससे सँतति अर्थात् सिलसिला जारी रहे। वँश विच्छेद न हो जाय

(२) '*न अनेन पतति इति*

अर्थात् अपत्य वह है जिसके कारण वंश गिरता नहीं। बना रहता है। व्याकरण के अनुसार व्युत्पत्ति दो हैं परन्तु सारांश एक है। अर्थात् जिसके कारण वंश जारी रहे वह अपत्य है। लड़की भी और लड़का भी। इसी के पर्य्याय 'शेष' शब्द का ऋग्वेद ७।४।७ से उदाहरण दियाः—

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्यरायः पतयः स्याम ।
न शेषा अग्ने अन्य जातमस्त्यचेतानस्यमा पथो विदुक्षः ॥

शेष का अर्थ करते हैं अपत्य (लड़का और लड़की दोनों)

"*शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः*"।

अर्थात् पिता के मरने पर शेष रहती है सन्तान इसलिये उसको कहते हैं शेष।

अब कहते हैं—

अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति ।
तदेतदृक् श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्

अर्थात् लड़का और लड़की दोनों ही पुत्र अर्थात् दायभाग के अधिकारी हैं। इसको एक ऋचा और एक श्लोक से स्पष्ट किया है।

अँगादंगात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥

यह हुई ऋचा। इसका अर्थ यह है कि अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न होता है हृदय से प्रकट होता है। इसलिये हे पुत्र तू आत्मा है। सौ वर्ष तक जी। यहाँ पुत्र से लड़का और लड़की दोनों को लिया है क्योंकि दोनों ही अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होते है। लड़की की उत्पत्ति और लड़के की उत्पत्ति में कुछ भेद नहीं।

परन्तु श्लोक से तो अत्यन्त विस्पष्ट हो जाता है

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

अर्थात् बिना किसी विशेषता के लड़का और लड़की दोनों (पुत्राणाँ मिथुनानां) दायभाग के अधिकारी हैं। ऐसा सृष्टि के आरम्भ में स्वायम्भुव मनु ने कहा था।

इससे पता चलता है कि यास्क के समय में 'मनुस्मृति' या मनु के किसी उपदेश के आधार पर 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों ही अभिप्रेत थे और दोनों दायभाग के अधिकारी थे। हां एक बात प्रतीत होती है वह यह कि उस समय कुछ लोग लड़की को दायभाग का अधिकारी नहीं भी समझते थे। इन दोनों पक्षों की युक्तियां भिन्न थीं। यास्क ने इसी प्रसंग में यह कहा है :—

न दुहितर इत्येके। तस्मात् पुमान् दायादो ऽदायादा स्त्री हि विज्ञायते। तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः।

अर्थात् कुछ लोग इस मंत्र से लड़की का अर्थ नहीं लेते। उनका मत है कि दायभाग का अधिकारी पुरुष ही है, स्त्री नहीं। क्यों कि स्त्री को दूसरे के घर जाना पड़ता है पुरुष को नहीं। स्त्री का दान, विक्रय और अतिसर्ग होता है पुरुष का नहीं।

इस युक्ति के खंडन में दूसरा पक्ष कहता है कि :—

पुंसोऽपीत्येके शौनः शेपे दर्शनात्

शुनः शेप का भी तो विक्रय हुआ था। इसलिये यदि किसी ने स्त्री का विक्रय कर दिया और इस कारण से उसको दायभाग से वँचित किया गया तो इस युक्ति के अनुसार पुरुष को वंचित होना चाहिये क्यों कि शुनः शेप लड़का था। उसको बेच दिया गया था। वह हुई गाथा के आधार पर दोनों पक्षों की युक्तियां। परन्तु मनु को जो आदेश यास्क ने दिया है वह तो स्पष्टतया लड़की को दायभाव का अधिकारी ठहराता है और यास्क की यही राय मालूम होती है। 'अपत्य' के पर्याय गिनाते समय इन मंत्रों या श्लोकों का देना यही प्रकट करता है कि 'अपत्य' से लड़का और लड़की दोनों समझने चाहिये और 'पुत्र' शब्द का भी दोनों के लिये प्रयोग होता या। संस्कृत में लिंग का सम्बन्ध शब्दों से है। अर्थ से नहीं। अतः संभव है कि पीछे से इस प्रसङ्ग में भी पुत्र शब्द केवल लड़के के लिये प्रयुक्त हो गया और लड़कियाँ दायभाग से वंचित करदी गईं।

प्रश्न—हमको तुम्हारी बात जंचती नहीं।

उत्तर—इसका मुख्य कारण यह है कि तुम्हारे पुराने संस्कार जमे हुये हैं जो तुमको स्वतंत्र विचार करने नहीं देते।

प्रश्न—क्या तुम अपने को सबसे बड़ा पंडित कहते हो, और भी तो पंडित हैं जिनके विचार तुम्हारे विचारों से भिन्न हैं?

उत्तर—'पांडित्य' का प्रश्न नहीं है। बात को तौलो, बात के कहने वाले को क्यों तौलते हो?

प्रश्न—क्या तुम अपने को निर्भ्रान्त समझते हो?

उत्तर—मैं अपने को निर्भ्रान्त नहीं समझता। परन्तु आपको भी निर्भ्रान्त नहीं समझता। आप निर्भ्रान्त का नारा खड़ा करके अकारण ही मुझको दबाना चाहते हैं। क्या यह संभव नहीं है कि एक आदमी जो कहे वह तथ्य हो और बहुत से जो कहें वह ग़लत हो?

१६५१ की जनगणना

अंग्रेज सरकार ने जनगणना की प्रथा १८७१ में डाली। १८५७ का विप्लव समाप्त हो चुका था। अंग्रेज़ सरकार का शासन सुदृढ़ होने लगा था। उस शासन को और सुदृढ़ और दीर्घजीवी करने के लिये आवश्यकता हुई कि देश के विचारों के सूक्ष्म तत्वों का परिशीलन किया जाय। इसी लिये जनगणना की प्रथा चलाई गई। १८७१ मे आर्य समाज नहीं था।

१८८१ की जनगणना के समय आर्य समाज ६ वर्ष का बच्चा था। उसकी ओर किसी का अधिक ध्यान नहीं गया।

अगले दस वर्षों में इस बालक ने भारतीय प्रांगण में ऊधम मचाना प्रारम्भ किया और गुरुजन सोचने लगे कि यह है क्या बला ? अतः १८९१ की जनगणना में आर्यों की संख्या भी अलग दी गई और उनकी धार्मिक प्रगतियों के विषय में भी कुछ थोड़ा सा दिया गया। इसके पश्चात् आर्य समाज का कलकल सात समुद्र पार तक पहुँच गया और भारतीय सरकार के उच्च नेताओं का अधिक ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ।

१९०१ की जनगणना में यह प्रश्न बड़े प्राबल्य के साथ उठाया गया कि आर्य समाज राजनैतिक संस्था है या धार्मिक। गणजनना के अध्यक्ष ने विस्तार पूर्वक इस प्रश्न की मीमांसा की और यह निष्कर्ष निकाला कि आर्य समाज सामूहिक अथवा वैधानिक रीति से तो राजनैतिक नहीं है परन्तु आर्य समाजी

लोग अपने व्यक्तिगत अधिकार से राजनीति में भी बहुत भाग लेते हैं। यह स्वाभाविक है।

शासक लोग विप्लवकारों से इतना नहीं डरते थे, क्योंकि बड़े-बड़े विप्लव शस्त्रों द्वारा दबाये जा सकते हैं। उनका ध्यान शासित वर्ग के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा मानसिक विचारों की तरफ अधिक जाता है। इन्हीं दिनों जालंधर में महात्मा मुंशीरामजी से वहाँ के डिप्टी कमिश्नर (शायद) से बात चीत हुई। वह खुल पड़े। उन्होंने कहा "हमको तो इन सांस्कृतिक आन्दोलनों का ही अधिक भय है। यदि भारतीयों से यह त्रुटियाँ दूर हो गईं तो हमको इंग्लैण्ड भाग जाना पड़ेगा।"

१९०२ में जब मैं इलाहाबाद आया तो सनातनधर्म सभा के एक साधु आलाराम सागर एक व्याख्यान माला दे रहे थे जिसमें स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को बुरी-बुरी गालियाँ देने के अतिरिक्त यह भी आक्षेप था कि आर्य समाज अंग्रेजी शासन का विरोधी है। पुलिस ने उनके ऊपर मुकद्दमा चला दिया। कई आर्य समाजियों की गवाहियाँ हुईं। मजिस्ट्रेट ने यह फैसला दिया कि आर्य समाज राजनैतिक संस्था नहीं है और यदि कोई आर्य राजनैतिक हैं तो राजनैतिक होना कोई पाप नही है। परन्तु इंगलैण्ड वाले चुप न थे। उन्होंने एक सुदक्ष संवाददाता को भारत में भेजा। इसका नाम था सर वैलेन्टाइन शिरोल Sir Valentine Chirol। इन्होंने आर्य समाज के विरुद्ध एक बहुत लम्बी लेख माला लिखी जो पीछे से 'इनसाइक्लोपीडियाब्रिटानिका' में छप गई। इससे पता चलता था कि हवा किस ओर बह रही है।

ऋषि दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में दो बातों पर बड़ा बल दिया है। एक तो यह कि भारतीयों के पूर्वज जंगली न थे। यह पूर्णविकसित थे। दूसरे यह कि विदेशीय शासन कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वदेशी शासन के बराबर नहीं हो सकता।

अंग्रेजी शासन की सुदृढ़ नींव इन्हीं बातों पर रक्खी गई थी। नई शिक्षा ने युवकों के मस्तिष्क पर यह विचार जमा दिया था कि भारत का अतीत चमकीला नहीं है और हमको अंग्रेजों के आचार-विचार से ही संतुष्ट रहना चाहिये। श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने २४-२५ वर्ष पूर्व एक बड़ी पुस्तक लिखी थी उसमें हिन्दुओं की वर्तमान भावनाओं के विरुद्ध यह सिद्ध किया था कि संस्कृत साहित्य में गोमांस खाने, शराब पीने, यज्ञ में बलि देने और मुर्दों को गाड़ने का विधान है। १९०१ की जनगणना के बाद कई राजनीतिक धारायें उठीं। जो देश प्रेमी गर्म दल के थे उन्होंने अंग्रेजों को अवसर पाकर मार डालने की प्रथा जारी की। मुझे उन दिनों के भजन की एक कड़ी याद है :—

आज हम दिल्ली लुट्टेंगे
गौरन देंगे नसाय और हम तुर्कन पिट्टेंगे।
आज हम दिल्ली लुट्टेंगे

इस भावना की आर्य समाज में तो कोई मान्यता नहीं थी परन्तु आर्य समाज में वैधानिक रूप से बड़े जोश के भजन उत्सवों में गाये जाते थे। एक कड़ी मुझे याद है :—

गंगा उठो कि नींद में सदियां गुज़र गईं
देखो तो सोते सोते यह बरसे किधर गईं

इन दिनों मुसलमानों और अंग्रेज सरकार का विरोध शनैः शनैः बढ़ता गया। अंग्रेज चतुर थे, मुसलमान उद्धत थे। मैं दो बातों का उल्लेख करता हूँ।

(१) इटावा में एक प्रसिद्ध आर्य समाजी थे श्री ज़ोरावर सिंह। उनके विरुद्ध यह उड़ाया गया कि यह भारत सरकार का तख्ता उलट देना चाहते हैं। उनके पकड़ने के लिये एक स्पेशल इटावे स्टेशन पर बुला ली गई। उस समय इटावे का अंग्रेज

कलेक्टर बुद्धिमान था। उसने सोचा कि इतना बड़ा पग उठाने से पहले कुछ अनुसंधान कर लेना चाहिये। उसने श्री जोरावर सिंह को बुलाया और उनके विरुद्ध जो कार्ड थे, उनके समक्ष रख दिये। जिस विशेष कार्ड में विशेष विष था वह उर्दू में था। उसकी दो ग़लतियाँ पकड़ी गईं। पहली तो 'नमस्ते' की जगह पर 'नविश्ते' लिखा था। दूसरे कार्ड के ऊपर जो मुहर थी, इसके और पोस्ट आफिस की मोहरों में भेद था। जोरावर सिंह जी बच गये। खलील मियां जिन्होंने फाख्ता उड़ाना शुरू किया था पकड़े गये। उनके पास एक जाली कारखाना पाया गया और उनको दंड दिया गया।

(२) एक और ऐसी ही बात है। आर्य समाज नैनीताल के अधिकारियों ने कोयले को पीस कर उनके लड्डूओं का ढेर लगा रक्खा था। यार लोगों ने इत्तिला दी कि आर्यसमाज में बम बनाये जाते हैं। पुलिस आई, लड्डू तोड़े गये और बड़ा प्रहसन हुआ। अधिकारियों ने आर्य समाज के संचालकों से कान में कहा 'भाई हमें बड़ा खेद है। यह बात अखबार में नहीं जानी चाहिये।' इन्हीं दिनों में लाला लाजपतराय मांडले के किले में गिरफ्तार करके भेज दिये गये। आर्य समाज चलता रहा।

(३) एक तीसरी घटना और है। पटियाले में सरकार के उच्च अधिकारी प्रायः आर्य समाजी थे। उनको गिरफ्तार किया गया। अभियोग चला। महात्मा मुंशी राम जी ने पैरवी की। यह लोग छोड़ तो दिये गये, परन्तु इनको रियासत छोड़ना पड़ा। अंग्रेज सरकार भारतीय भावनाओं का किस प्रकार विरोध करती है उसका एक छोटा सा महत्वपूर्ण नमूना यह है कि जब सम्राट पंचम जार्ज राज्याभिषेक के पश्चात् विलायत लौटे तो उन्होंने अपनी एक

वक्तृता में संकेत रूपेण यह कहा था कि हमारे भारतीय शासन की सुदृढ़ता में हमको भारतीय ईसाइयों से बड़ी आशा है।

१९२१ और १९३१ की जनगणना में आर्यों की संख्या बहुत बढ़ गई, कई लाख हो गये। इससे आर्य समाज में उत्साह और उनके विरोधियों में निरुत्साह था। इसी बीच में हिन्दुओं की मनोवृत्ति में एक भिन्नता उत्पन्न हुई। १९०६ में मुस्लिम लीग बनी। हिन्दू नेताओं ने इसमें दूर की बात सोची। हिन्दू सभा का निर्माण हुआ। इस दिन आर्य समाज की मनोवृत्ति में भी कुछ परिवर्त्तन हुआ। इससे पूर्व आर्य समाजी 'हिन्दू' शब्द से विरोध करते थे और इसके अर्थों के लिये 'गयासुल्लुग़ात' और अन्य फारसी पुस्तकों के हवाले दिया करते थे। अब इन्होंने हिन्दू-गौरव को बढाने के लिये नई-नई व्युत्पत्तियाँ तलाश की और अपने को 'हिन्दू आर्य' लिखने लगे। इसके लाभ भी थे और हानियाँ भी। लाभ यह था कि 'हिन्दू और आर्य' कह कर हम समस्त हिन्दू जगत की सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे। हानि यह थी कि आर्य और आर्यत्व की भावनायें कुछ कुछ गदली पड़ने लगीं।

१९२१ और १९३१ और १९४१ की जनगणना उपेक्षा के रूप से देखी गई। आर्यों के 'आर्य' लिखवाने का जोश भी ठंडा हो गया। १९४१ की जनगणना में आर्य समाज में फिर एक उबाल आया। यह यत्न किया जाने लगा कि अधिक से अधिक लोग अपने को आर्य लिखवायें। बहुत आन्दोलन हुआ। पुष्कल धन व्यय किया गया। परन्तु शासक वर्ग ने एक छोटा सा उपाय निकाल कर इनके समस्त आन्दोलन को विफल कर दिया। उन्होंने आज्ञा दी कि लड़ाई का युग है, सरकारी वृत्तियाँ दूसरी तरफ लगी हैं, हमें अवकाश नहीं हैं, इसलिये हम आर्यों की संख्या अलग न देंगे। यदि आर्य समाज व्यय का

सहन कर सकें तो उनके खर्चे पर आंशिक अंक दे सकते हैं। यह कठिन था।

१९५१ की जनगणना के समय मैं सार्वदेशिक सभा का मंत्री था। लोग कार्यालय से प्रश्न करते थे "हमको क्या लिखाना चाहिये।" मैं इस पक्ष में था कि जिस प्रकार सिक्ख आदि अपने को अलग लिखाते हैं उसी प्रकार आर्यों को भी करना चाहिये। इस प्रस्ताव में आर्य समाज के जोश के लिये कुछ स्थान था यद्यपि उसके विरुद्ध भी पर्याप्त कहा जा सकता था। भारतवर्ष के प्रसिद्ध आर्य नेताओं की एक बैठक बुलाई गई। आर्य समाज के दूध में काफी गंगा जल मिल चुका था। नतीजा कुछ नहीं निकला। सरकार ने स्पष्ट कह दिया कि हम 'साम्प्रदायिक प्रश्न को महत्व नहीं देना चाहते।'

इस वातावरण में जो होना था वही हुआ। किसी ने अपने को 'आर्य' लिखा था, किसी ने नहीं। किसी सूबे की सरकार ने 'आर्य' लिखा किसी ने न लिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन प्रान्तों में लाखों आर्य समाजी हैं उनकी सख्या जन-गणना अनुसार हजारों तक गिर चुकी है। इससे आर्य समाज के किसी-किसी क्षेत्र में क्षोभ भी है, परन्तु अधिक नहीं। क्यों कि आर्य समाज के नेता इस मौलिक प्रश्न को महत्व नहीं देते।

मुझे एक कहानी याद आ गई। किसी ने फारसी की एक कहावत पढ़ी थी :—

जररा जरमीकशद—रुपये को रुपया खींचता है।

वह सरकारी खजाने के जंगले से एक रुपया दिखलाने लगा। हाथ जो हिला तो रुपया कोष के भीतर चला गया। वह बड़बड़ाने लगा "यह कहावत्त वाले भी कैसे झूठे होते हैं।" एक बुद्धिमान ने उससे कहा, "कहावत तो ठीक है, कोष के बहुत सारे रुपयों ने तेरा एक रुपया खींच लिया।"

दक्षिणी अफ्रीका में ६ मास

ऋषि-ऋण

मैंने १८९८ ई० में आर्यसमाज में प्रवेश किया और दीप मालिका के दिन यज्ञोपवीत धारण करके वैदिक धर्म की दीक्षा ली। उस समय मेरी अवस्था १७ वर्ष की थी और मैं गवर्मेण्ट हाई स्कूल अलीगढ़ की मिडिल कक्षा का विद्यार्थी था। जिसको आजकल मैट्रिक कहते है उसको उस समय एण्ट्रेस कहते थे। एण्ट्रेस का विद्यार्थी पहली कक्षा का गिना जाता था। मैं दो दर्जे नीचे तीसरे दर्जे में पढ़ता था।

आर्यसमाज में प्रवेश मेरे लिये एक अत्यन्त असाधारण घटना थी। मेरी मनोवृत्ति ही बदल गई। मेरा दृष्टि-कोण भिन्न हो गया। मैं अपने जीवन को तथा संसार को भिन्न रूप में देखने लगा। उपनिषद् की भाषा में मैं उस समय की अवस्था को इस प्रकार कहूँगा कि

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयः।

आर्य्यसमाज के निरन्तर सम्पर्क और सिद्धान्त ग्रन्थों के परिशीलन से मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि यदि कोई पुरुष आत्मिक और सामाजिक अभिवृद्धि चाहता है तो उसे ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित और आर्यसमाज द्वारा प्रचरित 'वैदिक धर्म' पर चलना चाहिये। मेरी धार्मिक शिक्षा का मौलिक श्रेय श्री छोटेलाल जी भार्गव बी० ए० को है जो उस समय गवर्मेण्ट स्कूल अलीगढ़ में सायंस मास्टर थे। श्री छोटेलाल जी के विषय में जब मैं इस समय सोचता हूँ तो मेरी धारणा होती है कि वे कुशल बुद्धि और असाधारण प्रतिभा के मनुष्य थे। सिद्धान्तों

की व्याख्या ऐसी उत्तम रीति से करते थे कि मैंने इस प्रकार की व्याख्या करने वाले बहुत ही कम देखे हैं। उनकी प्रेरणा से अलीगढ़ आर्य-समाज की ओर से 'वैदिक आश्रम' खोला गया और मैं उन दो विद्यार्थियों में से एक था जो अनेक विरोध और रुकावटों केहोते हुये भी सबसे पहले वैदिक आश्रम के छात्रावास में प्रविष्ट हुये और नियमित रूप से हमको 'सत्यार्थ प्रकाश' का पाठ पढ़ाया जाने लगा।

मेरी प्रकृति जोशीली नहीं है। मेरे मानस-हृदय में तरंगें तो एक कङ्कड़ी भी उत्पन्न कर देती हैं। परन्तु इसमें ज्वार-भांटे नहीं उठते। मैंने उन्हीं दिनों निश्चय कर लिया था कि व्यक्तिगत जीवन तथा साधारण प्रचार द्वारा ऋषि-ऋण को चुकाना चाहिये।

जब मैं अधिक प्रौढ़ हुआ और संसार चक्र की अन्य दोलायमान अवस्थाओं से गुजरा तो मैंने कभी इस बात को विस्मृत नहीं किया कि मुझे ऋषि दयानन्द का ऋण चुकाना है। क्योंकि मेरी अन्तःस्थ ज्योति को जगाने वाले तो ऋषि दयानन्द ही थे। परन्तु मेरे पास उपकरणों का सर्वथा अभाव रहा। मैं येन केन प्रकारेण आगे बढ़ता गया। परन्तु इंचों की मात्रा से, मीलों या गजों की मात्रा से नहीं। मेरी सदा यह धारणा रही कि जो व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा नहीं होता वह समाज सेवा के सर्वथा अयोग्य है। मेरा अगले जीवन का कार्य्य-क्रम इसी धारणा पर आधारित रहा है।

युवाकाल में मेरी इच्छा हुई कि मद्रास और अमेरिका में वैदिक प्रचारार्थ जाना चाहिये। परन्तु घर का भार और लक्ष्मीदेवी की कोपमयी उपेक्षा। इन दोनों बातों ने मेरी इच्छा को छिन्न-भिन्न कर दिया। मैंने सन्तोष कर लिया कि यदि "विश्व" को आर्य्य बनाने का श्रेय मेरे भाग्य में नहीं है तो 'स्व' को

आर्य्य बनाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। ग्रह भार को उठाना वैदिक कर्त्तव्य है और लक्ष्मी का कोप तो भाग्य से मिलता है। प्रतिशतक निन्यानवे लक्ष्मी के लाडले भूल-भुलय्यों के दलदल में फँसे पाये जाते हैं। अतः मैंने लक्ष्मी को कभी कोसा नहीं। परन्तु विदेश जाने का विचार शिथिल पड़ गया।

मेरा एक विचार और था। विदेशों में उनको जाना चाहिये जो अपनी मास्तिष्क और आचार संबन्धी योग्यता से दूसरों को चकित कर सकें। अर्थ और काम के पाश में फंसे हुये सिद्धान्त-ज्ञान-शून्य प्रचारक किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते। यह धारणा मेरे साहस को दबाती रहती है।

१९३९ ई० में जब गृह भार कम हुआ और अध्यापन-कार्य्य से निवृत्ति मिली तो सार्वदेशिक सभा की ओर से मद्रास-प्रान्त में जाने और आर्य्य समाज की कुछ साधारण सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इससे मुझे कुछ आत्म सन्तोष हुआ क्योंकि बाल्यावस्था की एक इच्छा की पूर्ति हो गई। परन्तु भारत के बाहर जाने का दो एक बार प्रश्न उठा भी परन्तु वहीं का वहीं दब गया।

अक्टूबर १९४९ ई० में नैटाल (दक्षिण अफ्रीका) की आर्य्य प्रतिनिधि सभा ने सार्वदेशिक सभा से प्रार्थना कि कि वे मुझे उनकी फर्वरी १९५० में होने वाली रजत जयन्ती के अवसर पर अफ्रीका भेज देवें। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। परन्तु मेरी पत्नी जी (श्रीमती कलादेवी जी) ने आग्रह किया कि मुझे अवश्य जाना चाहिये। मैंने प्रोफेसर इन्द्र जी (सार्वदेशिक सभा के प्रधान) से आज्ञा मांगी। उन्होंने लिखा कि यदि सभा के कार्य्य में बाधा न हो तो चले जाओ। मैंने यह समझकर कि बाधा का प्रश्न तो दूर रहा इससे सभा के कार्य की ही पुष्टि होगी तुरन्त

२०

स्वीकृति देदी और मैं कुछ-कुछ तैय्यारी करने लगा। परन्तु अभी मुझे यह देखना था कि नैटाल वाले मेरी यात्रा का आर्थिक भार उठाने को वस्तुतः उद्यत हैं या नहीं। यह सन्देह कुछ अकारण न था। विदेशों से इस प्रकार के पूर्व पत्र व्यवहार ही इस सन्देह के आधार थे। परन्तु शीघ्र ही पता चला कि यह सन्देह निर्मूल था। उत्तर पाते ही अफ्रीका से मार्ग व्यय आ गया। ११ नवम्बर को जब मैं ट्रावनकोर-राज्य के काव्यूर ग्राम में ईसाइयों की शुद्धि के लिये गया तो दिल्ली से आदेश मिला कि तुरन्त चले आओ। ८ दिसम्बर १९४९ को बम्बई से "करंजा" जहाज में अफ्रीका जाना है।

———

यात्रा में बाधायें

मैं २३ नवम्बर को दिल्ली लौटा। विदेश जाने के लिये केवल इच्छा और मार्ग-व्यय का धन ही पर्याप्त नहीं है। इतनी बाधायें हैं कि कभी कभी लोगों को महीनों लग जाते हैं। तीन बाधायें विशेष हैं। पहली यह कि आपके देश की सरकार आप को विदेश जाने के लिये आज्ञा दे देवे। इस आज्ञा-पत्र का नाम है पासपोर्ट। दूसरी यह कि जिस देश में आप जाना चाहते हैं वहाँ की सरकार से लिखित आज्ञा मिले कि अमुक व्यक्ति को हम अपने देश में इतने समय के लिये आने दे सकते हैं। तीसरी बाधा यह है कि जहाज में स्थान मिल जाय। यह तीनों बाधायें कष्ट-साध्य हैं। कभी-कभी तो अकथनीय निराशा होती है। परन्तु मेरे साथ कुछ दैवी-चमत्कार हुआ।

तीन वर्ष पूर्व मैंने मौरीशस जाने के लिये भारतीय ब्रिटिश सरकार से लखनऊ से एक पासपोर्ट प्राप्त किया था। परन्तु वह काम में नहीं लाया गया था। मुझे परामर्श दिया गया कि इसी पासपोर्ट को समस्त कामनवैल्थ के लिये बढ़वा लो। दक्षिणी अफ्रीका कामनवैल्थ में है, अतः यही पासपोर्ट पर्याप्त होगा। एक प्रतिष्ठित मित्र की सहायता से यह काम शीघ्र ही हो गया और पुलिस-विभाग द्वारा किये जाने वाले महीनों के अन्वेषण से छुट्टी मिल गई।

परन्तु अभी तो एक ही खाई पार हुई थी। दो बड़ी खाइयां शेष थीं। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार से प्रवेश पत्र कैसे प्राप्त हो और 'करंजा' जहाज पर स्थान कैसे मिले? टामस कुक

जहाज़ के यात्रियों की एक एजेन्ट हैं। उनसे पूछा तो ज्ञात हुआ कि यदि अब से प्रयत्न किया जाय तो छः मास में स्थान मिलेगा। क्योंकि बम्बई और डर्बन के बीच में केवल एक 'करंजा' जहाज ही चलता है। एक मास जाने में लगता है और एक मास आने में। दो मास पीछे पारी आती है। और यात्री रहते हैं बहुत! परन्तु एक उपाय था वह यह कि भारतीय सरकार प्रेरणा करे तो तुरन्त स्थान मिल सकता है। उन्हीं प्रतिष्ठित मित्र के अनुग्रह से सरकार के विदेश-विभाग द्वारा स्थान मिल गया।

दक्षिणी अफ्रीका की सरकार से कई बार पत्र व्यवहार करने पर भी आज्ञा प्राप्त न हो सकी। ५ दिसम्बर को दिल्ली से बम्बई के लिये प्रस्थान करना था। बड़ा असमंजस था। क्या बम्बई जाकर लौट आना पड़ेगा? सरकार के विदेश-विभाग के अध्यक्ष जी ने बताया कि तार द्वारा स्मरण दिलाया गया है। वे बम्बई को उत्तर की लिपि भेज देंगे। अतः साहस करके ५ दिसम्बर को रात्रि की गाड़ी से बम्बई को चल पड़ा।

मैंने अभी तीन बधाओं का ही उल्लेख किया है। परन्तु बाधायें अनेक हैं। यात्रा और स्वच्छन्दता में वैर है। कहने को तो विश्व है और मनुष्य मात्र विश्व का अंग है। विश्वबन्धुत्व की घोषणा समस्त धार्मिक, समस्त सामाजिक, समस्त नैतिक और समस्त आर्थिक मंचों से उच्चस्वरेण जयघोष के साथ होती है। परन्तु कल्पित वर्गीकरण का इतना प्राबल्य है कि यात्री को पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं। घर में चारपाई पर पड़े-पड़े *सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव*" और "*सर्वभूतेषु चात्मानं*" का राग अलापते रहिये। बाहर निकलकर पता चलता है कि एक वर्ग और दूसरे वर्ग के मध्य में कितनी अभेद्य भित्तियाँ हैं। संस्कृत भाषा में 'भ्रातृव्य' का अर्थ है भतीजा और इसी 'भ्रातृव्य' का अर्थ है 'शत्रु' भी। देश और जातियों में एक दूसरे के प्रति

इतना सन्देह है कि मनुष्यों के आवागमन में अनेक प्रकार की रोकें लगाई हुई हैं। जहाज पर बैठने की आज्ञा मिलने से पूर्व "स्वास्थ्य विभाग" को तीन प्रमाण पत्र दिखाने पड़ते हैं, (१) शीतला (Small-pox) के टीके का, (२) विषूचिका (Cholera) के टीके का (३) पीतज्वर (Yellow fever) के टीके का मेरे मित्रों में कई उच्चश्रेणी के डाक्टर हैं। परन्तु प्रमाण पत्र चाहिये उन्हीं डाक्टरों का जो सरकार द्वारा इस काम के लिये प्रमाणित किये गये हैं। यदि मुझे पहले से ज्ञात होता तो दो चार मास पूर्व प्रमाण पत्र लिया जा सकता था क्योंकि पीतज्वर का। टीका चार वर्ष तक, शीतला का तीन वर्ष तक और विषूचिका का ६ मास तक काम आता है। परन्तु तीन टीके और केवल दस दिन। घंटेघर के निकट म्युनिसिपल्टी के कार्यालय में विषूचिका के टीके लगते हैं। प्रत्येक के लिये पांच-पांच रुपये शुल्क हैं। लगभग एक सप्ताह चाहिये। पहले शीतला का टीका लगा। फिर कई दिन पीछे उसकी प्रतिक्रिया देखी गई। इसी प्रकार विषूचिका के टीके दो बार एक सप्ताह का समय बीच में छोड़कर लगाये जाते हैं। सौभाग्य से दोनों टीके युगपत् लगा दिये गये अन्यथा यह बाधा ही मुझे रोकने के लिये पर्याप्त थी। मैं समझता था कि पीतज्वर का टीका भी वहीं लग जायगा। ३ दिसम्बर को जब मैंने डाक्टर से कहा तो उत्तर मिला कि पीतज्वर के टीके का कार्य्यालय कनाट सर्कस में न्यू दिल्ली में है। टेलीफोन से ज्ञात हुआ कि कार्य्यालय केवल सोमवार और शुक्रवार को खुलता है। यह भी दैवी अनुकम्पा थी कि ५ दिसम्बर को सोमवार था। मैं १० बजे ही पहुँच गया। डाक्टर महोदय बड़े कृपालु निकले। शीघ्र ही टीका लगा दिया और वह भी निःशुल्क। उसी दिन रात्रि को लम्बी यात्रा पर जाना था। एक अनुभवी और हितचिन्तक मित्र ने संकेत किया कि टीका लगते ही चल पड़ना

बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि सम्भव है टीके के कारण ज्वर आजाय और यात्रा में कठिनाई पड़े। बात तो सत्य थी। परन्तु ज्वर के परिणामों का सहन करना सुगम था। मेरे लिये जहाज का रुक सकना असंभव। यदि यह जहाज न मिलता तो दूसरा जहाज मिलता दो मास पश्चात्। रजतजयन्ती का उत्सव जिसके लिये जाना था पहले ही समाप्त हो जाता। अतः यह सोच कर कि दैव मेरे साथ है मैंने अन्यान्य संदेहों को मन में स्थान न दिया। ईश्वर को धन्यवाद है कि मुझे ज्वर नहीं आया। दिल्ली से बम्बई तक ३४ या ३५ घण्टे की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो गई।

बम्बई पहुँचते ही काकडवाड़ी समाज के अधिकारियों ने दो तार मुझे दिये एक मेरे कार्यालय का और दूसरा भारत सरकार का कि तुम को तीन मास तक दक्षिणी अफ्रीका में निवास करने की आज्ञा मिल गई। मैं तुरन्त जहाज़ का टिकट लेने के लिये टामसकुक के कार्यालय में पहुँचा जो हार्नबी रोड पर है। दूसरी कक्षा का जहाज़ का किराया ७७२।।) दिल्ली में ही जमा कर दिया था। बम्बई के कार्यालय से केवल टिकट लेनी थी। कार्यालय के क्लर्क महोदय कहने लगे कि दक्षिणी-अफ्रीका की आज्ञा का मौलिक पत्र तो है नहीं। तार विश्वसनीय नहीं समझा जाता। टिकट कैसे मिल सकता है? विचित्र दशा थी। पग-पग पर ठोकर। जी ऊब गया। परन्तु मेरे यह कहने पर कि तार अवश्य है परन्तु है तो यह भारतीय सरकार का, वे मान गये। टिकट बना दिया और तीन बजे बुलाया।

परन्तु ऊपर चढ़ ही रहा था कि सोपान की एक कड़ी और टूट गई। समझ में नहीं आया कि ईश्वर की इच्छा मुझे अफ्रीका भेजने की है या इसके विरुद्ध। इस अड़चन का उल्लेख आगे करूँगा।

जेब कट गई

जिस अड़चन का मैंने पिछले अध्याय के अन्तिम वाक्य में उल्लेख किया है उसका वर्णन भी पाठकगण के लिये कई अंशों में शिक्षा-प्रद होगा। अतः मैं उसका संक्षेप से कथन करता हूँ यद्यपि यह ठीक है कि यह घटना मेरी बुद्धिमत्ता को प्रमाणित नहीं करती।

मेरे पास यात्रा के लिये सात सौ से कुछ अधिक रुपये थे। यात्री लोग रक्षा की दृष्टि से टामसकुक के कार्यालय से "ट्रेवलर्स चैक" मोल ले लेते हैं। यह चैक जहाज़ पर तथा अन्य कार्यालयों में भी भुनाये जा सकते हैं। मैंने ५००) से कुछ अधिक रुपया देकर ३७ पौण्ड के चैक मोल लिये और एक पौंड का छोटा, सिक्का शिलिङ्ग पेंस आदि भुनाया। क्योंकि बम्बई से आगे भारतीय सिक्का चालू नहीं होता। टामसकुक के कार्यालय वालों ने मुझे सूचना दी कि भारतीय सिक्का सौ रुपये से अधिक कोई नहीं ले जा सकता। यदि अधिक रुपया पाया जायगा तो वह जब्त कर लिया जायगा। मेरे बक्स में ढाई सौ से अधिक के नोट थे। १ बजे का समय था। टिकट मिलना था ३ बजे। अतः मैंने सोचा कि काकडवाड़ी समाज में जाकर वहाँ से २०० रु० और ले आऊँ और उनके भी ट्रैवलर्स चैक (यात्रियों की हुंडी) भना लूँ। मैं कार्यालय से नीचे उतरा और एक ट्रैम में बैठकर अपने स्थान को चल दिया।

जब घर पहुँचा और अपना सन्दूक खोलकर रुपयों के नोट निकाल कर अपनी वास्कट की जेब में डाले तो वे झट फर्श पर

आ गिरे। मेरी समझ में नहीं आया। मेरी वास्कट थी नई और जेब भी मजबूत थी। मैंने जेब में हाथ डाला तो ज्ञात हुआ कि जेब की चारतहें कटी हुई हैं और ३७ पौंड की हुँडियां निकल गईं। तब पता चला कि ट्रैम में किसी दयालु ने ३७ पौंड के चैक लेकर मेरी जेब हलकी कर दी। यह अच्छा हुआ कि दूसरी जेब में कुछ रुपये पड़े थे। वे शेष रह गये।

मैं असमंजस में पड़ गया। परन्तु अभी तक मेरे पास दो सौ से अधिक रुपये थे। मैंने ठान लिया कि चाहे जो कुछ हो यात्रा में बाधा न पड़ने दूँगा। मैं तुरन्त टामसकुक के कार्यालय को भागा और वहाँ जेब कटने की रिपोर्ट कर दी। टामसकुक कार्यालय के इस विभाग का अध्यक्ष था एक अंगरेज़। उसने मेरे साथ अत्यन्त सहानुभूति प्रदर्शित की, पूरी रिपोर्ट लिखी और आश्वासन दिया कि रुपया मारा न जायगा। वहाँ से लण्डन तथा अन्य कार्यालयों को सूचना दे दी गई कि अमुक नम्बर के चैक भुनाये न जायं। मैंने यात्रा के लिये १५ पौंडों के चैक और मोल लिये। इस प्रकार टिकट भी मिल गया और कुछ पैसे भी मेरे पास थे। दूसरे दिन प्रातःकाल १० बजे जहाज़ पर उपस्थित होना अनिवार्य था।

परन्तु टामसकुक के कार्यालय ने मुझसे कह दिया था कि इस घटना की रिपोर्ट पुलिस में कर देनी चाहिये। शाम के पाँच बज चुके थे। मैं था सर्वथा अपरिचित ! जब मैं पुलिस के दफ्तर पहुँचा तो प्रथम तो एक घण्टे तक किसी ने परवाह नहीं की। फिर जब एक पुलिस इन्सपैक्टर को घेरा तो प्रश्नों की भरमार आरंभ हुई। कहाँ जेब कटी ? किस बस में जा रहे थे ? कितनी भीड़ थी ? तुम्हारे पास कौन बैठा था ? किस स्थान पर जेब कटी ? वह स्थान किस पुलिस स्टेशन के मंडल में है ? अन्त में मेरा धैर्य छूट गया और मैंने झुंझलाकर कहा, "देखिये। मैं

आपसे रुपया मांगने नहीं आया और न मुझे आशा है कि आप मेरा रुपया दिला सकेंगे। मैं तो केवल कानूनी कार्य्यवाही करने आया हूँ। जिससे अपराध के छिपाने का अपराधी न बनूँ। मैं कल प्रातःकाल ही देश छोड़ रहा हूँ। शाम हो गई है। मुझे रात में अपना सामान ठीक करना है। यह है मेरी रिपोर्ट। आप इसे ले लें और मुझे छुट्टी देवें। इस प्रकार पुलिस से पंजा छुड़ाकर मैं भागा। उस समय मुझे फारसी के महाकवि शेख सादी शीराजी का एक कथन स्मरण आया। उन्होंने लिखा है कि यदि कोई तुमको ठग ले जाय तो दो हानियाँ होती हैं। एक "*नुकसाने मायः*" और दूसरी "*शमातते हमसायः*" अर्थात् एक तो माल जाता है। दूसरे पड़ोसी आपकी मूर्खता पर हँसी उड़ाते हैं। पहली हानि तो सह्य है। दूसरी से बड़ा कष्ट होता है। जिस किसी ने सुना कुछ न कुछ टिप्पणी कर दी। कोई कहता 'जेब को इस प्रकार रखना चाहिये' कोई, कहता 'ट्राम या बस में सावधानी से बैठना चाहिये'। एक मित्र बोले "तुमने कंजूसी की। रुपया जेब में डालकर बम्बई में कोई ट्राम या बस में यात्रा नहीं करता। आपको टैक्सी कर लेनी चाहिये थी।" मैं "*शमातते हमसायः*" का शिकार था। और चुप था। फिर भी ईश्वर को धन्यवाद दिया कि प्रथम तो नोट नहीं अपितु चैक गये हैं। ले जाने वाला भाग्य को रोता होगा कि पाप भी किया और निष्फल! शायद वह चैक न भुना सके और मुझे कुछ परीक्षण काल के पश्चात रुपया मिल जाय! दूसरे यह कि अब भी जेब में इतने पैसे थे कि यात्रा निर्विघ्न पूरी हो जाय। मुझे सन्तोष है कि रात्रि में जब सोया तो दुर्घटना की स्मृति मेरी नींद में बाधक न हुई और सुषुप्ति अवस्था में अज्ञात रूप से जीव जो ईश्वर-सामीप्य के आनन्द को भोगता है उसमें कुछ विघ्न नहीं पड़ा।

एक वृद्ध की पहली समुद्र यात्रा

८ दिसम्बर ४९ ई० को १० बजे से कुछ पहले मैं अलैक-जैण्ड्रा डौक पर पहुँचा। यह बम्बई का वह पोत-स्थल है, जहाँ 'करंजा' जहाज़ खड़ा हुआ था। 'डौक' को संस्कृत भाषा में 'तीर्थ' कह सकते हैं। तीर्थ वह स्थान है जहाँ से जल-यात्रा का सम्पादन होता है। चाहे साधारण सागर या नदी हो चाहे भवसागर! भवसागर के तीर्थ तो प्रसिद्ध ही हैं। तीर्थों के पंडों से सभी को काम पड़ता है। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थ स्थानों का तो थोड़ा बहुत मुझे भी अनुभव था। डौक भी इसी प्रकार की एक पुण्यस्थली है। ऐसे स्थानों पर जाते समय उपनिषद् के यह वाक्य स्मरण रखने चाहिये। "*श्रद्धया देयम*" "*अश्रद्धया देयम्*"। वेद में लिखा है "*दक्षिणाया सत्यमाप्यते*" पहला सम्पर्क होता है कुलियों से। कुली होते हैं मार्ग-प्रदर्शक! वे द्वार दिखा देते हैं। आगे आप अपनी बुद्धि का परिचय दीजिये। यदि मैं किसी से कुछ पूछता तो वे आश्चर्य से पूछते, "क्या यह आप की पहली जहाज़-यात्रा है?" और जब मैं कहता "हाँ" तो युवक लोग जो छोटी आयु में कई बार जहाज़ पर बैठ चुके हैं शिष्टाचार से चुप हो जाते परन्तु उनके मुख की आकृति से प्रकट हो जाता कि वह मन में मुसकरा रहे हैं। जहाज पर चढ़ना सुगम नहीं है। रेल पर तो टिकट प्राप्त करते ही आप कुली आपका सामान गाड़ी में लगा देता है। यहाँ तो कई अनुष्ठान करने पड़ते हैं। और पता नहीं चलता कि कहाँ क्या क्रिया होनी है। इधर से उधर जाइये और उधर से इधर! मैं

ही अकेला नहीं, सभी चक्कर लगा रहे थे। पहले डाक्टरों ने शीतला आदि के टीके के प्रमाण पत्रों का निरीक्षण किया और कुछ स्वास्थ्य की ओर भी दृष्टि डाली। फिर सन्दूक आदि खोलकर कष्टम आफिसर को सन्तुष्ट किया गया कि कोई निषिद्ध माल मेरे साथ नहीं है। इस प्रकार एक बजे के उपरान्त जहाज़ में स्थान मिला।

जहाज़ की विशालता और भव्यता देखकर मन को आह्लाद हुआ। कई सौ फुट लम्बा और लगभग १०० फुट चौड़ा। स्वच्छ तथा सुन्दर। रहने के लिये बड़े-बड़े कमरे। कमरों के बीच में जाने आने के लिये शुद्ध मार्ग। हर कमरे पर नम्बर पड़े हुये। मुझे चढ़ते समय ही बता दिया गया था कि मेरी सीट का नम्बर ८३ है। मैं नम्बरों को पढ़ता-पढ़ता एक लम्बे वरांडे को पार करता हुआ अपने स्थान पर पहुँचा। कमरे को केबिन (Cabin) कहते हैं। और सीट को बर्थ (Berth)। मेरे केबिन में तीन बर्थ थे। नम्बर ८३, नम्बर ८४, नम्बर ८५, दो बर्थ नीचे थे और मेरा वर्थ नम्बर ८४ के ठीक ऊपर था जैसा रेल के डिब्बों में होता है। परन्तु बर्थ था सुख-प्रद। छः फुट के लगभग लम्बा और ढाई फुट के लगभग चौड़ा। हर बर्थ पर एक मोटा गद्दा, एक स्वच्छ श्वेत चादर, दो अच्छे तकिये, एक तौलिया, एक रूमाल। और एक अच्छा सफेद कम्बल। जहाज़ में अपने बिस्तरे को खोलने की आवश्यकता नहीं होती। केबिन में एक अल्मारी थी जिसमें तीनों यात्री अपने कोट, पतलून आदि टांग सकते थे। एक बड़ी मेज थी जिसमें तीन दराजें थीं। मुँह धोने के लिये पानी का स्वच्छ 'बेसिन' था जिसमें गर्म और ठंडे दोनों प्रकार के जल के लिये टोंटियाँ थीं। साबुन रखने का छोटा सा आलय था उसमें साबुन की टिक्कियाँ रक्खी हुई थीं। ठंडे पीने के जल की शीशे की सुराही तथा तीन शीशे के

गिलास थे। फर्श पर कालीन था। छत में बिजली का पंखा भी था और कई ऐसे नलके थे जिनमें होकर ताजा हवा आ सकती थी। छत में बीच में दो बिजली के लैम्प थे और बिस्तर में सिरहाने से कुछ ऊपर अलग-अलग लैम्प थे जिससे यात्री को लेटे-लेटे पढ़ने में सुविधा हो सके। वस्त्र धारण करने के लिये एक बड़ा दर्पण था। कर्मचारी को बुलाने के लिये एक स्विच थी। प्रति छः केबिनों पर यात्रियों की सुविधा के लिये एक-एक कर्मचारी नियत था। केबिन में एक खिड़की थी जिसमें होकर बाहर समुद्र की तरंगों के दर्शन किये जा सकते थे। केबिन का क्षेत्रफल लगभग १०० वर्ग फुट होगा। मेरे पास केवल दो छोटे सन्दूक थे। एक बिस्तर और एक-टोकरी। यह सब मेरे बर्थ के नीचे आ गये। जिनके पास सामान अधिक था उन्होंने उसे एक अन्य कोठार में रखवा दिया जिसको होल्ड (hold) कहते थे। ऊपर की बर्थ पर चढ़ने के लिये एक लोहे की छोटी सी सीढ़ी थी वृद्धावस्था के कारण मुझे अपनी बर्थ पर चढ़ने में कुछ कठिनाई होती थी। परन्तु मेरे दो और साथी थे युवक और सब प्रकार से सौजन्य-युक्त। पहले दिन मुझे चढ़ते उतरते देख कर एक सज्जन ने कहा कि, काका मैं आपकी बर्थ लूंगा आप नीचे की बर्थ ले लेवें। ऐसा ही किया गया। और मेरी शेष यात्रा सुगमता से कटी। रहने के केबिनों से बाहर निकट ही स्वच्छ शौचालय और स्नानागार थे जिनमें यथेच्छा गर्म, ठंडा, तथा मध्यम श्रेणी का जल हर समय मिल सकता था। शौचालय अधिकतर यूरोपियन ढंग के थे परन्तु एक दो भारतीय ढंग के भी थे। 'करंजा' जहाज विशेष कर हिन्दुस्तानियों के लिये था। अतः वहां भारतीयों के लिये भी कुछ विशेष सुविधायें थीं।

यात्रियों की तीन श्रेणियाँ थीं। प्रथम श्रेणी के यात्रियों के

कमरे कुछ अधिक स्वच्छ और सुन्दर थे। अवकाश भी कुछ अधिक था। उनके घूमने तथा मनोविनोद के लिये ऊपर अलग स्थान था। मैं द्वितीय श्रेणी का यात्री था। इस श्रेणी के लोगों की केबिनें नीचे थीं। इनके मनोविनोद तथा बैठने के लिये ऊपर दो कमरे थे और दो बरांडे। कमरों में कुर्सियां तथा मेजें लगी थीं। आप स्वच्छन्दता से वहाँ बैठकर पढ़ सकते थे या ताश, शतरंज आदि खेल सकते थे। प्रायः लोगों का शयन काल के अतिरिक्त समय यहीं व्यतीत होता था। तीसरी थी मध्यम या इंटरमीडियट श्रेणी। इनकी केबिनों में सुविधायें कम थीं और अवकाश भी कम था। चौथी श्रेणी को डैक-पेंसेजर कहते हैं। यह सब से निचली श्रेणी है। इनके लिये खुला मैदान होता है कोई कमरे नहीं होते। एक यात्री के लिये १० वर्गफुट अवकाश मिलता है। इस श्रेणी के यात्री ही अधिक होते हैं क्योंकि इसका किराया दूसरी श्रेणी के किराये से एक तिहाई मात्र होता है। कोई स्थान भी नियत नहीं होता। जिसकी लाठी उसकी भैंस। इस असुविधाजनक स्थान में बीस पचीस दिन काटना कठिन है। कुलियों का वास्तविक महत्व यहीं प्रकट होता है। आप जितनी दक्षिणा देंगे वैसा ही स्थान मिलेगा। जो यात्रा-चतुर हैं वे अच्छी दक्षिणा देकर पहले से ही अपने बिस्तर लगवा देते हैं। शेष को भीड़ भाड़ में किसी प्रकार रहना पड़ता है। कभी-कभी वर्षा, आंधी या तूफान के समय इनके बिस्तर भी भीग जाते हैं। इन लोगों के विनोद के लिये भी कोई स्थान नहीं होता। कभी-कभी अति दयनीय प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। कुछ मस्त और स्वच्छन्द लोग तो यहाँ भी आनन्द मानते हैं। परन्तु सरल-प्रकृति के यात्रियों को कष्ट ही होता है।

जहाज़ पर बैठते ही मेरे समक्ष पहली समस्या भोजन की

उपस्थित हुई। भोजन व्यय किराये के साथ ही दिया जा चुका था। प्रायः पहली और दूसरी श्रेणियों के लोगों के लिये यूरोपियन ढंग के विशेष भोजनालय में प्रबन्ध होता है। परन्तु निरामिष भोजियों के लिये प्रबन्ध नहीं होता। मैं न मांस खाता था, न मछली, न अण्डा। थी तो यह कठिन समस्या परन्तु इन जहाज़ों पर दो और भोजनालय थे जिनको 'विशी' कहते हैं। मालूम नहीं 'विशी' किस भाषा का शब्द है। शायद गुजराती है। 'हिन्दू विशी' अलग और 'मुसलमान विशी' अलग। मेरा प्रबन्ध हिन्दू विशी के यहाँ हो गया। मेरा भोजन मेरी ही केबिन में आ जाता था। खाने का क्रम यह था, प्रातः चाय, आठ बजे कलेवा, बारह बजे भोजन, ४ बजे अपराह्न चाय और रात्रि को फिर भोजन! मैं न तो चाय पीता था न कलेवा करता था। कुछ दिनों से मेरे आहार का क्रम यह था :—प्रातःकाल एक गिलास गर्म पानी में थोड़ा सा क्रुश्चिन साल्ट, दोपहर और सूर्यास्त के पश्चात् भोजन तथा अन्त में एक प्याला दूध जिसमें एक चम्मच ऐंजीर्स एमल्शन मिला हो। दो एक दिन मैंने चाय भी मंगाई और कलेवा भी। परन्तु स्वास्थ्य के प्रतिकूल पाकर उसको मंगाना बन्द कर दिया। ताज़ा दूध का जहाज़ पर सर्वथा अभाव था। डिब्बे का दूध मिल जाता था। यों तो मांसाहारियों के लिये जहाज़ पर भेड़ें और बकरियाँ रहती हैं जिनका ताज़ा मांस पकाने के लिये मिल जाता है। संसार में अल्पमत वालों को सदा असुविधायें रहती हैं। उच्च श्रेणी के शिक्षित तथा सभ्य लोग हैं मांसाहारी। अतः निरामिष भोजी को न केवल असुविधा ही होती है अपितु उसको असभ्य भी समझा जाता है। उच्चवर्गीय शिक्षित पुरुष तो दूसरों की भावनाओं का आदर करने के हेतु चुप भी रह जाते हैं परन्तु खानसामा वर्ग तो *महाजनो येनगतः स पन्थाः*" का ही अनुकरण करते हैं।

आजकल सब से बहुमत हैं सीग्रेट पीने वालों का। अतः उन्हीं की सुविधा के लिये विशेष ध्यान दिया जाता है। खाने के बिना जी सकते हैं। पानी के बिना जी सकते हैं। परन्तु धूम्रपान तो प्राणों से भी प्रिय वस्तु है। हम उस जगत्‌की कल्पना ही नहीं कर सकते जिसमें तमाखू और सीग्रेट अज्ञात वस्तु थीं। जहाज़ पर सीग्रेट का प्रयोग कभी भी भयावह सिद्ध हो सकता है। यदि जहाज़ में आग लग जाय तो लेने के देने पड़ जायं। अतः स्थान-स्थान पर लिखा रहता है कि सीग्रेट के सिरे हर जगह मत फेंको। केबिन में, विश्राम ग्रहों में, मेजों पर, मार्गों में बहुत से सीग्रेट-पात्र रक्खे मिलेंगे कि सीग्रेट पीने वाले अवशिष्ट सिरे फेंक सकें।

जहाज़ पर स्वच्छता का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। निम्न श्रेणी के कर्मचारी प्रातःकाल से उठकर ही तख्तों को तथा दरवाजों के किवाड़ों को धोने में लगे रहते हैं। एक प्रकार का दरदरा रेत डाल कर तख्तों को रगड़ते हैं फिर पम्पों द्वारा समुद्र के जल से धो डालते हैं।

यात्रियों को पहली सामुद्रिक यात्रा में प्रायः वमन हुआ करता है जिसको समुद्र-मतली (Sea-sickness) कहते हैं। मुझे भी भय था। मुझे पहले से ही बता दिया गया था कि नीबू आदि का प्रयोग करना। मैंने अपनी केबिन से कई पड़ोसियों के वमन सम्बन्धी शब्द सुने परन्तु मुझे न चक्कर आया न मतली। भोजन की मात्रा अवश्य कम हो गई थी परन्तु उसका स्वास्थ्य पर अनिष्ट प्रभाव न था। मैं अपने स्वभावानुसार चार बजे उठता, सन्ध्या तथा अल्प- व्यायाम करता और जहाज़ के ऊपर टहलने चला जाता। भ्रमण के लिये मार्ग तो था नहीं। कोल्हू के बैल के समान विश्राम-गृह (लाउंज Lounge) के गिर्द पचास सौ चक्कर लगा लिया करता था।

प्राथमिक कौतूहल

कौतूहल और आनन्द का घनिष्ट सम्बन्ध है। मेरा तात्पर्य उस आनन्द से नहीं जो भक्त-जनों को भगवद् में, योगियों को समाधि में या मुक्तात्माओं को कैवल्यपद में प्राप्त होता है और जिसे परमानन्द के नाम से व्यक्त किया जाता है। मेरा आशय मन की उस प्रफुल्लित अवस्था से जो किसी नवीन वस्तु के परिज्ञान से उपलब्ध होती हैं। बच्चों को कौतूहल अधिक होता है अतः वह आनन्द भी छोटी-छोटी वस्तुओं की प्राप्ति में ही अनुभव कर लेते हैं। बच्चा रोता हो, कह दो "यह चिड़िया आई," वह देखने लगता है। मेरा एक छोटा बच्चा हवाई जहाज़ को 'आया' नाम से पुकारता था। कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि जब वह रोता था तो घर के लोग ऊपर उड़ते हुये हवाई जहाज़ की ओर उंगली करके कहते, "वह आया", उसने समझा कि 'आया' हवाई जहाज़ का नाम है। सारांश यह है कि आनन्द के लिये कोई कौतूहल चाहिये। आनन्द उस वस्तु में नहीं अपितु कौतूहल में है। बच्चा नये खिलौने को देखकर प्रसन्न होता है क्योंकि खिलौना नया है। उसमें कौतूहल हैं। जब घड़ी दो घड़ी के पीछे कौतूहल कम हो जाता है तो बच्चा उसी खिलौने को फेंक देता है, खिलौने के सौन्दर्य में न्यूनता नहीं हुई। परन्तु भेद पड़ गया बच्चे के कौतूहल में।

जहाज़ पर चढ़ते ही मुझे भी कौतूहल हुआ। इस अंश में ६९ वर्ष के बुढ्डे और ६९ दिन के बच्चे में कोई भेद नहीं।

जहाज़ के ऊपर चढ़कर इधर-उधर दृष्टि डाली तो अपार समुद्र दिखाई पड़ा। यह समुद्र कहाँ आरम्भ होता है और कहाँ अन्त। यह समझ में नहीं आता था। १९४८ ई० की ग्रीष्म ऋतु में मैंने नैपाल की यात्रा की थी। वहाँ पर्वत माला का अद्भुत दृश्य देखकर मैं ऋग्वेद के *'हिरण्यगर्भ सूक्त'* के एक मंत्र का स्मरण किया करता था :—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्यबाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

अर्थात् उस परब्रह्म सुख स्वरूप अनन्त ईश्वर को प्रणाम है जिसके यह बरफ़ीले पहाड़ हैं और जिसका यह "रसयासह" अर्थात् जलयुक्त नदी वाला समुद्र है। चारों दिशायें जिसकी हैं और जो समस्त बलों का दाता है।

नैपाल में मंत्र का पहला टुकड़ा ही चरितार्थ होता था। दूसरा तो इसी यात्रा में देखने को मिला। परमात्मा की अनन्तता को पर्वत की अपेक्षा समुद्र अधिक उत्तमता से व्यक्त करता है। पर्वत विशाल अवश्य है परन्तु उसका नीचे का सिरा भी दीखता है और ऊपर का भी, जिसके दोनों सिरे "चक्षु क्षेत्र" के अन्तर्गत हों उसकी अनन्तता कैसी ? समुद्र का तो कोई सिरा दिखाई नहीं पड़ता। मीलों तक दृष्टि डालिये नीले जल और श्वेत तरंगों के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टि-पथ के भीतर नहीं आता। मंत्र के दूसरे, तीसरे और चौथे टुकड़ों की भव्यता का मुझे वहाँ पूरा-पूरा अनुभव होने लगा। ईश्वर की अनन्तता की अपूर्व महिमा का अनुभव करके मैं ऐसा समझने लगा मानो करंजा जहाज़ मेरे लिये *"दैवीं नावं"* या नौका है जो मेरे मन को भवसागर से उठाकर दिव्य लोक में ले जा रही है। आरम्भ में कौतूहल बहुत था। यद्यपि जब मैं

२१

अपने श्वेत केशों और अर्द्ध भग्न दन्तमाला का विचार करता तो उस कौतूहल को नियमित नियंत्रण में रखता था जिससे कोई यह न कहने पावे, "जरा इस बूढ़े को तो देखो"। जहाज़ पर बच्चे भी बहुत थे। वे अपने कौतूहल को अपनी आयु के अनुसार प्रदर्शित करते थे। मैं भी खड़ा-खड़ा चुपके चुपके उनके आनन्दोत्सव में सम्मिलित हो जाता था। और सोचता था कि मैं भी चिरकाल से पूर्व ही बच्चा बनूँगा और इसी प्रकार आनन्द मनाऊँगा।

कुछ प्रौढ़ पुरुष कंधे पर दूरबीन लटकाये हुये भी दृष्टिगोचर होते थे। प्रातःकाल या सायंकाल को सूर्योदय या सूर्यास्त सम्बन्धी अद्भुत वर्णमाला की छटा जब आकाश मण्डल को देदीप्यमान करती तो यह युवक अपनी-अपनी दूरबीन को लगाकर आनन्द लूटते। कुछ अपने फोटोग्राफी के कैमरों का भी प्रयोग करते। परन्तु प्रकृति देवी के वास्तविक सौन्दर्य की अनुभूति के लिये तो सुशिक्षित चक्षु की आवश्यकता है। हर एक आँख सौन्दर्य की गहनता का अनुभव नहीं कर सकती। मुझे प्रायः ऐसा प्रतीत हुआ कि अधिकतर दूर्बीनों वाले फैशन के दास हैं। दूरबीन या कैमरा रखने में विशेष गौरव है। मुझ जैसे दूरबीन हीन या कैमरा-रहित पुरुषों से वह अधिक सम्पन्न दृष्ट पड़ते थे। प्रकृति के सौन्दर्य का वास्तविक रस।पान करने की उनमें क्षमता थी या नहीं इसका मुझे सन्देह है। कभी-कभी मेरे साथी उंगली उठाकर संकेत करते, अमुक उड़ने वाली मछली को देखो, देखो वह दूर से आता हुआ जहाज दिखाई पड़ रहा है। यहाँ से कई मील होगा। देखो वह जल-जन्तु अपना सिर बाहर निकाल रहा है। देखो, अमुक दिशा, में बहुत दूर वह पहाड़ी चट्टान दीख रही है। देखो अमुक जहाज़ दसों वर्ष हुये अमुक स्थान

पर डूब गया था। उसके भग्न शेष अब भी दिखाई पड़ रहे हैं। परन्तु मुझमें दूरदर्शिता की अत्यन्त कमी हैं, कहते हैं कि मेरी आँख में "मोतिया" हैं, जिसकी आंख के भीतर 'मोतिया' हो उसको बाहर के मोती दिखाई नहीं दे सकते। मैं देखने का प्रयास करता और अन्त में अपनी असफलता का अनुभव करके चुप हो जाता। परन्तु फिर भी कौतूहल को सन्तुष्ट करने के लिये पर्याप्त सामग्री थी। समुद्र की वीचियों की शोभा में भी अकथनीय रस था। शायद समुद्र को इसीलिये 'रत्नाकर' कहते हों। अंधेरी रात्रि में उठकर देखता कि समुद्र कैसा लगता है। चाँदनी रात्रि में अपनी दृष्टि दौड़ाता और सोचता कि कैसा अच्छा दृश्य है।

परन्तु थोड़े ही दिनों में कौतूहल की कमी होने लगी। मैं समस्त परिस्थिति से परिचित हो गया। जो पहले 'नूतन' था वह पुराना और बासी दीखने लगा। जहाज पर कई कर्मचारी थे जिनकी आयु समुद्र पर बीती थी। उन्होंने कभी इस जहाज की और कभी उस जहाज की नौकरी करके भूमण्डल की सैर की थी। वह थे खानसामां या "बैरे"। उनके मस्तिष्क का तल भी वही था। मालूम नहीं कि उनमें कभी कौतूहल था या नहीं और यदि था भी तो उससे उनको क्या लाभ हुआ? उन्होंने "आपार सागर" के वक्षस्थलों पर निवास करते हुये क्या कभी अपार प्रभु के अपार स्नेह का भी रस पान किया या "पानी में मीन प्यासी" (कबीर) और "*अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविज्जरितारं* (ऋग्वेद) की ही कहावत चरितार्थ की।

कभी कभी जब मैं आनन्द में मग्न होता तो कुछ गुनगुनाने भी लगता। बाल्यावस्था में मुझे उर्दू की कविता करने का शौक था। बहुत दिनों से उर्दू को छोड़ दिया था परन्तु जब से दिल्ली में रहने लगा पुरानी स्मृति जाग उठी और मैंने

गुनगुनाते गुनगुनाते उर्दू की एक ग़ज़ल लिख डाली।

वतन से दूर कहीं से कहीं चले आये।
नई जमीं पै नये आस्माँ तले आये ॥१॥
.खुदा के बन्दों को क्या दूर और क्या नज़दीक
जहाँ कहीं भी वह आये वहाँ भले आये।२।
.खुदा ही .खुद हो अगर नाख़ुदा तो क्या परवाह।
हम उसको सौंप के क़स्मत के फैसले आये ॥३॥
छुटे पुराने तो फिर मिल गये नये साथी।
बड़े ही प्रेम से मिलने हमें गले आये।४।
खुली जो आंख तो देखा कमाल .कुदरत का।
न जाने कितने मिरे दिल में वलवले आये।५।
सभी का हल हमें हासिल हुआ है वेदों से।
दक़ीक़ सामने जितने भी मसअले आये ॥६॥
अभी तो उम्र की कश्ती का ठीक है अन्दाज़।
बख़ैर पार हुये जितने मरहले आये।७।
उसी का बहर है, कश्ती उसी की, लङ्गर भी।
उसी के फैज़ से हम इस क़दर चले आये।८।
है कुछ तो राज़ कि हस्ती हमारी है क़ायम।
अगर्चि लाखों ही दुनियां में ज़लज़ले आये।९।

१—वतन = घर २—बन्दा = भक्त या सेवक, ३—ना.खुदा = मल्लाह, ४—क़स्मत = भाग्य, ५—कमाल = वैभव, कुदरत = सृष्टि, 'वलवले, भावनायें, ६—हासिल = प्राप्त, दकीक = गम्भीर, मसअले = समस्यायें, ७—उम्र = आयु, अन्दाज़ = चाल, मरहले = पार करने के कठिन स्थान, ८—बहर = समुद्र, कश्ती = जहाज़ ९—राज़ = रहस्य, हस्ती = सत्ता, कायम = सुरक्षित, ज़लज़ले = भूकम्प या तूफान।

मुझे एक और कौतूहल था। मैंने भौगोलिक मानचित्रों में भूमध्य रेखा को देखा था और भूगोलों में उसके विषय में पढ़ा भी था। सुना था कि भूमध्य रेखा को पार करके भूलोक के उत्तरी गोलार्द्ध से चलकर दक्षिणी गोलार्द्ध में प्रवेश होगा। पाठकगण इस वाक्य को पढ़कर हँसेंगे। परन्तु कौतूहल तो कौतूहल ही है। एक दिन जहाज़ के विज्ञापन पटल (नोटिस बोर्ड) पर देखा कि हमारा जहाज़ भूमध्य रेखा से केवल तीन अंश उत्तर की ओर है। सोचने लगा कि रात्रि में किसी समय भूमध्य रेखा को पार कर जाँयगे। प्रातःकाल विज्ञापन पटल पर लिखा था कि अब हम दक्षिणी गोलार्द्ध में आ गये। परमात्मा की सृष्टि में कोई भेदक रेखायें दृष्टिगोचर नहीं होतीं। मनुष्य ने सापेक्षिक कार्य को करने के लिये कल्पित रेखायें बना रक्खी हैं। यह तो पहले से ही ज्ञात था कि दक्षिणी गोलार्द्ध में ऋतुएं विपरीत हैं। दिसम्बर में उत्तरी गोलार्द्ध में शीतकाल था दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु थी। जब हम लोग भूमध्य रेखा से नीचे उतरे तो गर्मी अधिक मालूम होने लगी। जनवरी और फर्वरी तो दक्षिणी अफ्रीका का ज्येष्ठ मास समझिये।

कौतूहल की एक बात और कह दूँ। जब करांची से आगे बढ़े तो एक दिन मैंने देखा कि जहाज़ की घड़ी से मेरी घड़ी आध घण्टे तेज़ है। मेरी समझ में नहीं आया कि रात ही रात में क्या विकार हो गया। मेरी घड़ी ठीक थी। उसमें कोई गड़-बड़ न थी। बड़ी देर में स्मरण आया कि हम पश्चिम की ओर यात्रा कर रहे हैं। प्रत्येक देशांश को पार करने में चार मिनिट का भेद पड़ता है। पूर्व की घड़ियाँ आगे होती हैं और पश्चिम की पीछे। ३६० अंशों में २४ घण्टों का भेद पड़ जाता है क्योंकि भूमि २४ घण्टों में एक बार अपनी कीली पर घूम जाती है। जहाज़ वाले अपनी घड़ी को उस समय ठीक कर देते हैं जब

ठीक आध घण्टे का भेद हो जाता है। फिर तो मुझे स्वयं चिन्ता रहती थी कि मैं अपनी घड़ी को यथाक्रम पीछे कर लूँ। डर्बन पहुँचा तो भारतीय घड़ियों से मेरी घड़ी ठीक ३॥ घण्टे पीछे जा चुकी थी। अर्थात् जब डर्बन में प्रातःकाल के ६ बजते तो भारत में ९॥ बजे का समय होता था। जो रेडियो दिल्ली से सोमवार को १० बजे रात के समय बोला करता था उसको हम सोमवार को ६॥ बजे शाम के समय सुन लेते थे। अर्थात् ३॥ घण्टे पूर्व। वस्तुतः यह पूर्व तो न था। किसी घटना से पूर्व किसी को किसी का क्या ज्ञान हो सकता है। हम सुनते तो ठीक उसी समय थे जब रेडियो बोलता था। परन्तु मानवी भाषा का यह औपचारिक प्रयोग था कि १० बजे होने वाली घटना को हम ६॥ बजे सुन रहे हैं।

तटस्थ नगरों की झांकी

बम्बई से चलकर तीसरे दिन प्रातःकाल जो आँख खुली तो करांची नगर के भवन दिखाई देने लगे। ब्रिटिश राज्य काल में करांची पश्चिमी भारत का एक सम्पन्न पोत-स्थल बन चुका था। कई वर्ष हुये मैं करांची देख चुका था। करांची में आर्य समाज की कई विशाल संस्थायें थीं। विशेष कर आर्य कन्या पाठशाला, डी० ए० वी० हाई स्कूल और सुशीला भवन समाज मन्दिर, यह तीनों करांची के आर्य भाइयों के उत्साह और श्रद्धा के पूरे प्रमाण थे। करांची के साथ अनिष्ट भावनाओं का सम्बन्ध जुड़ चुका है। दुर्भाग्यवश भारत के दो टुकड़े हो गये हैं और जिसको हम अपना देश कहते थे वह पराया बन चुका है। यह भेद केवल प्रबन्ध सम्बन्धी ही नहीं है। मानसिक वृत्तियों का भेद है जो दोनों भागों के निवासियों के प्रत्येक दैनिक व्यवहार में दिखाई पड़ता है। जहाज़ के पोतस्थल पर ठहरते ही पाकिस्तानी राज्याधिकारी नियमानुसार जहाज़ पर आ गये। उनका व्यवहार हर बात में विदेशी था। वह भूल चुके थे कि भारत कभी उन्हीं का देश था और हम सब उसी के निवासी थे। या यों कहना चाहिये कि इन दो ढाई वर्षों में पाकिस्तान के निवासियों की मनोवृत्ति इतनी परिवर्तित हो चुकी थी और उनको अपनी नई परिस्थिति पर इतना अभिमान था कि वह बात-बात पर यह प्रकट करना चाहते थे कि अब हम अन्य भारतीयों से अलग स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। पहले तो मैंने और मेरे साथियों ने चाहा कि घण्टे दो घण्टे

नगर को देख आवें। परन्तु अधिकारियों का व्यवहार इस प्रकार का था कि मैंने तो यह कह कर अपना पासपोर्ट वापिस ले लिया कि मुझे करांची देखना नहीं है। वस्तुतः देखता भी क्या ? जो पहले हमारे धार्मिक स्थान थे और जहाँ मैं व्याख्यान दे चुका था वह साम्प्रदायिक सरकार की स्थापना के कारण अपने हाथ से छिन चुके थे। लाखों की सम्पत्ति छोड़ कर आर्य भाई किसी प्रकार जान लेकर भागे थे। ऐसी स्मृतियों का जागरण आत्मिक शान्ति का बाधक ही होता है। अच्छा हुआ कि मैं नहीं गया। बहुत थोड़े से हिन्दू थे जिनको जहाज़ से उतरने की आज्ञा मिली। और जो गये वे अच्छी भावनायें लेकर नहीं लौटे। पाँच रुपये के पाकिस्तानी नोट के सात से भी अधिक रुपये देने पड़े और नगर में कोई उन्नति के चिह्न दिखाई न पड़े। हाँ। एक पुस्तक अवश्य देखने में आई जिसमें वर्तमान करांची के गौरव और भावी करांची की विशालता के गीत गाये गये थे। मुझे तो वह सब प्रोपैगेण्डा ही प्रतीत हुआ।

करांची से बहुत से मुसलमान यात्री जहाज़ पर चढ़े। वह परस्पर भारतीय हिन्दुओं के द्वारा मुसलमानों पर किये गये अत्याचारों का ही वर्णन किया करते थे। एक अंग्रेज़ रोडेशिया जा रहा था। वह मुझे से कहने लगा कि भारत की तो बड़ी दुर्दशा है। न खाने को मिलता है, न मनुष्य शान्ति से चल फिर सकते हैं। मैंने उससे कहा कि भाई मैं तो १५ अगस्त १९४७ से अब तक निरन्तर भारत में ही रहा। मैंने तो इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं देखी। रही खाद्य पदार्थों की कमी। यह तो द्वितीय महायुद्ध का ही फल है। कभी-कभी तो ऐसी अत्युक्तिपूर्ण वा अतथ्य बातें कही जाती थीं कि कहने वालों की कल्पनाशक्ति पर विस्मय होता था।

करांची से लगभग एक सप्ताह की यात्रा पार करके मोम्बासा

आये। मार्ग में जहाज़ अन्यत्र नहीं ठहरा। मोम्बासा पूर्वी ब्रिटिश अफ्रीका के कीनिया प्रान्त का एक प्रसिद्ध नगर है। यहाँ जहाज़ तीन दिन रुका। यात्रियों को नगर में जाने की कोई रोक-टोक न थी। उच्च श्रेणियों के यात्रियों को तो अनायास ही पास मिल गये थे। पहली बात जो नये भारतीय को मोम्बासा में देखने को मिलेगी, अफ्रीका के कृष्णवर्ग दीर्घकाय असली निवासी हैं। यह प्रायः मुसल्मान हैं क्योंकि अरब के निवासियों ने अपने धर्म तथा संस्कृति का कई सौ वर्ष से इनमें प्रचार किया है। इनकी सुहेली भाषा भी कुछ-कुछ अरबी से प्रभावित है। परन्तु मोम्बासा अंगरेजी राज्य में है अतः अंगरेजी ढंग का रहन-सहन है। नगर का विकास भी उसी ढंग पर हो रहा है। बसें और टैक्सियाँ ही अच्छी सवारी हैं। राज मार्ग खुले और चौड़े हैं। बाज़ार में अफ्रीका और यूरोप का संमिश्रण है। सिनेमा अधिकतर अंगरेजी ढग के हैं। कभी कभी कोई भारतीय या हिन्दी बोलपट भी दिखाया जाता है। भारतीय लोग भी बहुत रहते हैं। अधिकतर गुजराती या पजाबी। आर्य्य समाज का एक अच्छा मन्दिर, आर्य कन्या पाठशाला तथा अतिथिआश्रम है। मैं जिस दिन मोम्बासा पहुँचा शनिवार था। समाज में पहुँचकर ज्ञात हुआ कि सत्संग हो रहा है। अधिक उपस्थिति तो न थी। आर्य भाइयों ने मेरा स्वागत किया। उस दिन रात्रि को तथा रविवार को दोपहर को भोजन मैंने दो आर्य परिवारों (अर्थात् श्री देवराज जी और श्री डाक्टर ओमदत्त शर्मा के घर) में ही किया। हिन्दू-समाज की ओर से रविवार की सायंकाल को एक व्याख्यान भी हिन्दी भाषा में हुआ। सोमवार को मेरा जहाज़ चल पड़ा। मोम्बासा में जहाज़ के बहुत से यात्री उतर गये थे। क्योंकि अधिकतर भारतीय लोग पूर्वी अफ्रीका जाते हैं। कीनिया,

यूगण्डा आदि प्रान्तों के लिये मोम्बासा में उतरना चाहिये। नैरोबी यहाँ से कई सौ मील है। और वहाँ मोम्बासा से रेल या वायुयान में जाना पड़ता है। मोम्बासा में माल भी बहुत लदता है। इसीलिये तो जहाज़ को तीन दिन ठहरना पड़ा था।

मोम्बासा के पश्चात् जंजबार आता है। जंजबार लवंग के लिये प्रसिद्ध है। भारतवर्ष में लवङ्ग जंजबार से ही आती हैं। जंजबार नगर अरबी फैशन का है। इसको प्रथमतः अरब वालों ने ही बसाया था। नगर का शासक है सुलतान। परन्तु सुलतान नाम मात्र ही शासक है। वास्तविक शासक हैं अंगरेज़। नगर की गलियाँ बहुत तंग हैं। यहाँ भी गुजराती बहुत हैं। आर्य समाज की पाठशाला भी है और मन्दिर भी। एक हिन्दू व्यायामशाला भी है। जंजबार में नारियल बहुत हैं। फलों का भी बाहुल्य है। दिसम्बर के मास में बाज़ार अन्यान्य प्रकार के आम्रफलों से भरा हुआ देखा। जंजबार से चलकर दारसलाम आये। इसके नाम से ही प्रकट होता है कि मुसल्मानी नगर होगा। पहले यह जर्मनी वालों के आधीन था। पहले महायुद्ध के पश्चात् यह अंगरेजों के हाथों में आ गया। उस समय से नगर का विकास अधिक हुआ है। दारसलाम में पंजाबी और गुजराती भारतीय बहुत हैं। व्यापार प्रायः गुजरातियों के हाथ में है। आर्य समाज का अच्छा मन्दिर है। देव कुँवरआर्यकन्या पाठशाला एक शानदार संस्था है। इसमें कई सौ कन्यायें पढ़ती हैं। पाठशाला दिनों दिन उन्नति पर है। समाज के सभासदों में उत्साह है। मैं जाती बार केवल तीन चार घण्टे ठहरा था परन्तु आती बार जहाज़ एक रात ठहरा। अतः समाज में एक व्याख्यान देने का सुअवसर भी प्राप्त हो गया।

दार सलाम के पश्चात् पूर्वी पोर्चुगीज़ अफ्रीका आ जाता है। सन् १५९८ ई० में सबसे प्रथम यूरोपियन वास्को डी गामा

ने अफ्रीका की यात्रा की थी और यहीं से वह भारत के कालीकट नगर में आया था। उस समय पूर्तगाल यूरोप के समस्त देशों में अधिक भाग्यशाली और वैभवपूर्ण था। पूर्तगाल वाले समुद्र यात्रा में दक्ष थे। उनको पोतस्थलों की उपयोगिता का अधिक अनुभव था। अतः उनके पोतस्थल कई अंशों में अधिक उपयोगी और सुरक्षित हैं। मेरा जहाज़ तीन नगरों के तट पर ठहरा एक मुजम्बीक, दूसरा बेरा और तीसरा डीलागोआ खाड़ी में स्थित लोरेंसोमार्क्स। यह अच्छे स्वच्छ नगर हैं। सफाई बहुत है। कुछ गुजराती व्यापारी रहते हैं। शासन पुर्तगाल वालों का है। यह लोग भारतीयों से कुछ भेदभाव नहीं रखते। परन्तु शासन से सम्बद्ध कोई कर्मचारी ऐसा नहीं है जो पोर्चुगीज़ न हो। पोर्चुगीज़ नगरों में अंगरेज़ी भाषा बहुत कम समझी जाती है। कोई पोर्चुगीज़ अंगरेज़ी बोलना पसन्द नहीं करता। वह अंगरेज़ी भाषा से घृणा करता है। पोर्चुगीज़ रहन सहन, रंग, धर्म आदि में अन्य यूरोपियन के सदृश हैं। इनका धर्म है रोमन काथोलिक ईसाई। यदि आप किसी पोर्चुगीज़ से अंगरेज़ी में भाषण करें तो वह चुप हो जायगा। कोई उत्तर न देगा चाहे वह अंगरेज़ी जानता ही क्यों न हो। परन्तु पोर्चुगीज़ शासन उन्नति-शील नहीं है। पोर्चुगीज़ लोग पुराने भारतीयों या पुराने चीनियों के सदृश अपने प्राचीन काल के ही अभिमानी हैं। अंगरेज़ी नगरों में जो प्रगतिशीलता है वह पोर्चुगीज़ नगरों में नहीं। बेरा (Bera) एक महत्वपूर्ण पोतस्थल है। क्योंकि यहां से अंगरेज़ी प्रान्त रोडेशिया के लिये मार्ग है। रोडेशिया का समस्त व्यापार 'बेरा' होकर होता है। परन्तु पोतस्थल का प्रबन्ध असन्तोष-पूर्ण ही रहता है। जहाज़ों को वहां अनावश्यक काल तक के लिये पड़ा रहना पड़ता है। जाते समय जहाज़ तीन दिन ठहरा और आते समय चार दिन।

माल चढ़ाने की सुव्यवस्था नहीं थी। पोर्चुगीज़ लोग अपने पुराने वैभव को खो बैठे। उसके लिये कुछ आन्तरिक कारण अवश्य होंगे। पिछले दो सौ वर्ष का इतिहास पुर्तगाल के ह्रास का इतिहास है। इनमें शिक्षा की भी कमी है। परन्तु गोरी जाति है। अतः उसकी स्वतंत्रता बनी हुई है। यूरोप की जातियों में यद्यपि प्रति-स्पर्धा बहुत है तथापि वह किसी यूरोपीय जाति या देश को सर्वथा मरने नहीं देती। शक्ति-सामंजस्य या बैलेंस आफ पौवर (balance of power) का बहुत ध्यान रक्खा जाता है। इन नगरों में आर्य्य समाज तो नहीं है। हाँ कुछ आर्य्य समाजी अवश्य हैं जो हिन्दू सभा के ढङ्ग की कोई न कोई संस्था रखते हैं और कुछ पाठशालाओं को भी चलाते हैं। कई स्थानों पर मुझे गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक मिले जो योग्य साहसी और पुरुषार्थी हैं। लौरेंसे मार्क्स में श्री प० रविशंकर जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। लौरेंसों मार्क्स से डर्बन एक दिन की दूरी पर है। २९ दिसम्बर को हम लौरेंसों मार्क्स में थे। ३० को डर्बन पहुँच गये। पोर्चुगीज़ ईस्ट अफ्रीका और ट्रांसवाल की सीमायें मिली हुई हैं। लौरेंसों मार्क्स से जानसबर्ग तक रेल जाती है। लौरेंसों मार्क्स की सड़कों के विचित्र नाम हैं। जैसे "२४ जूलाई"।

डर्बन में पहला दिन

कई दिन पूर्व से अनुभव किया जा रहा था कि ३० दिसम्बर को डर्बन पहुँच जायगें। २९ दिसम्बर को लौरेंसो मार्क्स पहुँचने पर तो यह अनुमान दृढ़तम हो गया। ज्यों-ज्यों डर्बन निकट आता जाता था औत्सुक्य और चिंता से सम्मिश्रित भावनायें चित्त को क्षुब्द कर रही थीं। मैं डर्बन में किसी से परिचित नहीं था। मुझे यह भी ज्ञात नहीं था कि सभा का कार्य्यालय कहाँ है और सभा के मंत्री जी का नाम क्या है। बम्बई से चलते ही मुझे श्री गोवन-मणि से परिचय हो गया था। यह सज्जन हिन्दू महासभा, आर्य्य समाज तथा गांधी टागोर ट्रस्ट डर्बन के सदस्य हैं और गुजरात प्रान्तस्थ अपने ग्राम से डर्बन जा रहे थे। इनके सौजन्य से मैंने बहुत लाभ उठाया। दिन में कई बार भेंट हो जाया करती थी। प्रायः नगरों को देखने गया तो इन्हीं के साथ। अतः पहले परिचय, फिर घनिष्टता और मैत्री हो गई। ३० दिसम्बर को उषा काल में ही डर्बन के चिह्न दृष्टि-गोचर होने लगे। लोग जहाज़ पर चढ़कर अपने परिचित स्थानों और पुरुषों को देखने के लिये उत्सुक हुये। अभी जहाज़ के तट तक पहुँचने में कई घण्टे थे। परन्तु कुछ धनाड्य परिवारों के सम्बन्धी अपने लोगों को देखने के लिये नाव मे बैठकर जहाज़ के निकट आ पहुँचे और यह निश्चय करके कि हमारे अमुक मित्र इसी जहाज़ से आ गये हैं वापिस चले गये। यात्रियों का जहाज़ छोड़ना या बाहर वालों का जहाज़ में आना तो असंभव था। परन्तु दूर से एक दूसरे के दर्शन

तथा प्रणाम आदि का विनिमय हो जाता था। बहुत दिनों से विछुड़े हुये मित्रों और सम्बन्धियों का पुनः मिलन तथा आनन्द देखने के योग्य था। परन्तु मैं था अजनबी। मुझे यह भी ज्ञात न था कि कहाँ जाऊंगा। श्री गोवन-मणि जी ने मुझे सान्त्वना दी और कहा कि प्रथम तो कोई न कोई आपको अवश्य लेने आयेगा। और यदि न भी आया तो मेरा घर तो है ही, मैं आप को अपने साथ ले चलूंगा। जब मैं मद्रास जाया करता था तो वहाँ से लौटने पर मेरे मित्र पूछा करते थे कि मद्रास में तुम्हारे खान-पान का क्या प्रबन्ध होता है। मैं उनको यही उत्तर देता था कि मेरे बाप के होटल हर जगह खुले हुये हैं। वह पहले से ही आज्ञा दे देता है और मेरे आहार-विहार का समुचित आयोजन हो जाता है। मुझे अफ्रीका में भी यही आशा थी। मुझे पूर्ण विश्वास था कि मेरे बाप के होटल वहाँ भी होंगे फिर भी मानवी दौर्बल्य के कारण कुछ चिंता का होना स्वाभाविक था। जब जहाज़ डैक में पहुँचा तो श्रीगोवन-मणि जी नीचे वालों से प्रणाम-विनिमय करने लगे और उन्होंने मुझसे कहा, देखो अमुक अमुक आर्य्य भाई आप को लेने आये हैं, अमुक सज्जन अमुक रंग के वस्त्र पहने हुये अमुक हैं। अमुक सज्जन सभा के मंत्री हैं, अमुक अमुक हैं। अमुक-अमुक हैं। मुझे इस समय श्री सत्यदेव जी मंत्री को छोड़कर और किसी का नाम स्मरण नहीं होता। श्री गोवन-मणि जी ने बीसियों नाम बताये क्योंकि नीचे प्लेट फार्म पर बहुत बड़ी भीड़ थी। परन्तु मेरी मोतिया वाली आंखें कुछ अधिक नहीं देख सकती थीं। गोवन मणि जी ने मेरी ओर संकेत करके उन इष्ट-मित्रों को बता दिया कि मैं ही गङ्गा प्रसाद उपाध्याय हूँ और कई सज्जनों के नीचे से नमस्ते के लिये युगल-पाणि जुड़े देखकर मैंने भी उसका अनुकरण कर दिया। इस प्रकार शिष्टाचार की पहली किस्त अदा कर दी गई

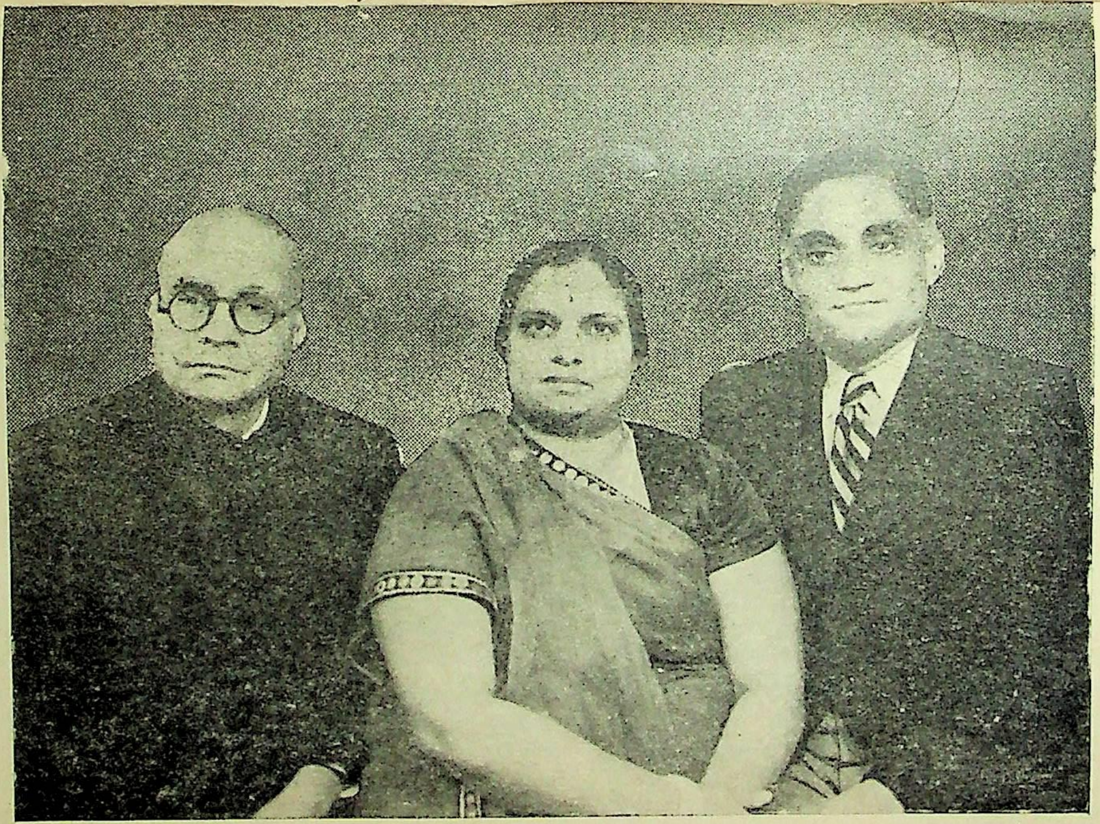
और मुझे सन्तोष हो गया कि मेरे बाप के तार यहाँ आ चुके हैं।

लगभग आध घण्टे के पश्चात् डाक्टरी निरीक्षण हुआ। पहले प्रथम श्रेणी के यात्री, फिर द्वितीय श्रेणी के जिनमें मैं भी था। फिर अन्य लोग। परन्तु यह तो सब से पहला और सुगम कृत्य था। अब एमीग्रेशन और कस्टम आफिसरों के आने की घोषणा की गई। हम लोग 'क्यू' बनाये खड़े थे। क्योंकि हर स्थान पर क्रम से जाना होता था। अचानक किसी ने मेरा नाम पुकारा और मेरे साथ ही एक और सज्जन का। मुझ से कहा गया कि हम दोनों का निरीक्षण सब से प्रथम होगा। मुझे यह ज्ञात न हो सका कि हम दोनों को प्रमुखता क्यों दी गई। जब मैं एमीग्रेशन कार्यालय की मेज तक लाया गया और अफसर से बात कर रहा था कि एकाएक एक सज्जन ने मेरे हाथ में अपना परिचय-कार्ड देकर कहा, "चलिये, लोग आप की प्रतीक्षा में हैं।" उन्होंने अफसर से भी कहा कि आप इनका मामला शीघ्र तै करने की कृपा करें। लोग इनके लिये बहुत देर से ठहरे हुये हैं। यह सज्जन थे श्री बी० परमेश्वर जी जो मुझे लेने के लिये ही जहाज़ पर भेजे गये थे। उनकी सहायता से मुझे बिना किसी दौड़ धूप के ही छुट्टी मिल गई। यह सज्जन जहाज़ के अधिकारियों से परिचित थे। इन्होंने मेरे सामान के जल्दी नीचे पहुँचने की भी व्यवस्था कर दी। कस्टम-अफसर की पूछताछ भी शीघ्र ही समाप्त हो गई। यदि यह न आते तो सामान्य रूप से मैं चार पाँच घण्टों से पूर्व न छूट पाता।

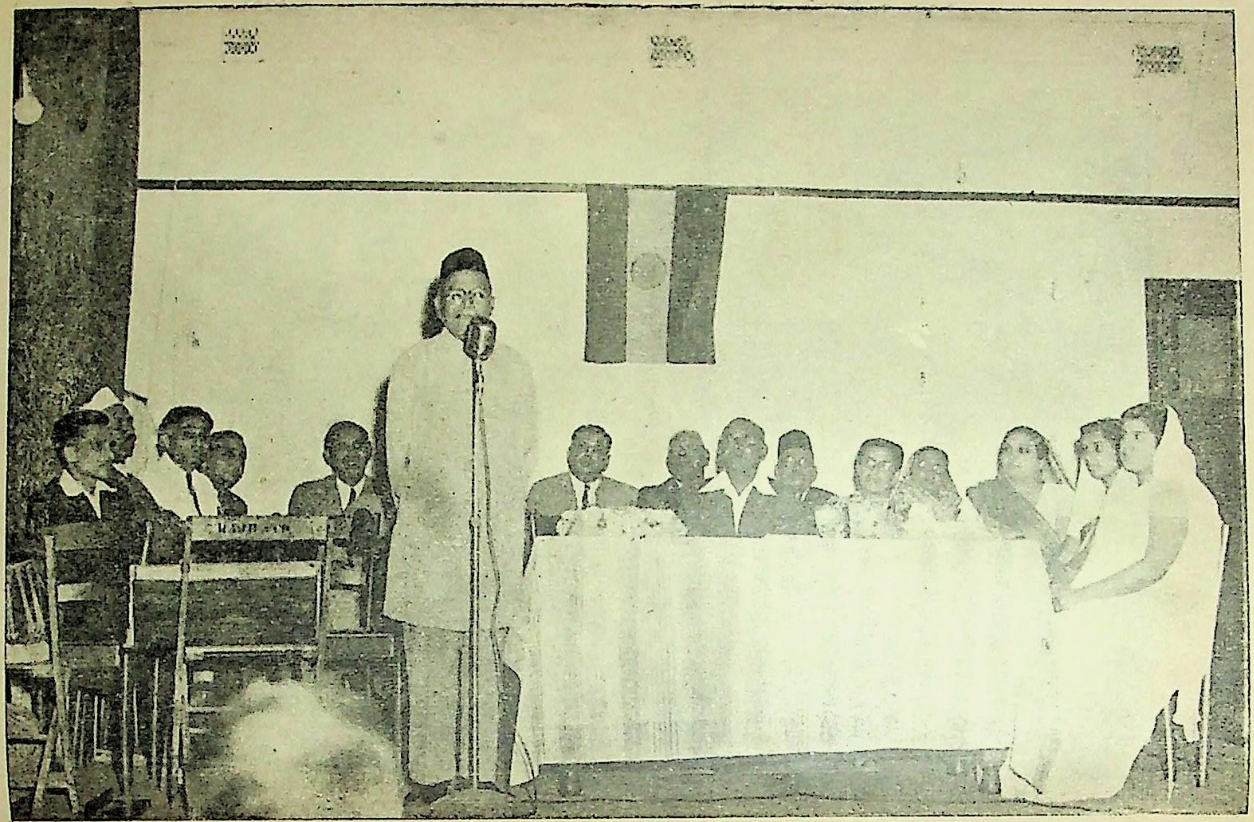
नीचे आते ही नमस्ते-नमस्ते का आह्लादपूर्ण घोष सुनाई देने लगा। चारों ओर मित्रमण्डल ही दीखता था जिनकी आकृति और नामों से अपरिचित होता हुआ भी मैं उनके

चहरों से सख्य-सुख का आनन्द अनुभव कर रहा था। मेरे गले को पुष्पों के हारों से लाद दिया गया। किस किस ने हार डाले ज्ञात नहीं। ज्ञात भी कैसे होता ? मेरे लिये तो वे सब अज्ञात मित्र थे। वैदिक धर्म की जय और ऋषि दयानन्द की जय के घोष भी आकाश में गूँजने लगे। जब मैं चलने लगा तो एक सज्जन ने रोक कर कहा, अभी ठहरिये। किसी एक महानुभाव ने जिनके हाथ में फोटो का कैमरा था मेरा फोटो लिया। श्री आर० बोधा सिंह जी ने जो आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल के सभापति हैं अगरेजी में एक लेख पढ़ कर सुनाया जिसमें उन्होंने वर्णन किया कि डर्बन दक्षिणी अफ्रीका की पहली चौकी (Out post) हैं। इसमें प्रवेश करने पर हम आप का स्वागत करते हैं। मैंने अंगरेजी में धन्यवाद देने के लिये मुँह ही खोला था कि एक और सज्जन सामने आये और एक हिन्दी का लेख पढ़ने लगे। यह थे श्री महावीर रामावतार जी जो आजकल हिन्दू महासभा डर्बन के प्रधान हैं। इन्होंने समस्त हिन्दू जनता की ओर से मेरा स्वागत किया। मैंने कुछ शब्द अंगरेजी तथा हिन्दी में धन्यवाद के रूप में कहे। इस सब कार्य में आध-घण्टे से अधिक नहीं लगा। मेरे चारों ओर भीड़ थी। उसमें श्री सत्य देव जी मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा भी थे।

अब निवास स्थान पर चलने की बारी आई। मुझ से एक मोटरकार में बैठने के लिये कहा गया। इसी बीच में मेरा सामान भी आ गया। परन्तु अभी एक रस्म शेष थी। मुझे अपने सन्दूक खोल कर यह सिद्ध करना था कि मैं कोई निषिद्ध वस्तु अपने साथ नहीं लाया। यह रस्म सब से कठिन हुआ करती है और कभी-कभी तो इस कृत्य की पूर्ति में दिन भर लग जाता है। परन्तु मैं तो मित्रमण्डल के कन्धों पर चल



लेखक, डाक्टर व श्रीमती नगिनदास पुरुषोत्तम देसाई के साथ



डर्बन पहुँचने पर उपाध्याय जी के सम्मान में स्वागत-सभा हुई, उसी में वह भाषण दे रहे हैं [२, जनवरी '५:]

रहा था। एक यूरोपियन कर्मचारी आये और उन्होंने इधर-उधर वस्त्रों की तह देखकर कुछ मिनिटों में ही मुझे छोड़ दिया। मैं लगभग १० या ११ बजे विश्राम स्थान पर आ गया।

जिनके घर पर मैं ठहराया गया उनका नाम है श्री एन० पी० देसाई (नगीनदास पुरुषोत्तम देसाई)। यह काठियावाड़ी सज्जन हैं जो लन्दन में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् यहाँ चिकित्सक का काम करते हैं। श्री डाक्टर देसाई का डर्बन के डाक्टरों में विशेष मान है। यह उच्च श्रेणी के डाक्टर समझे जाते हैं, इनका कारबार अच्छा है। इनका चिकित्सालय तो शहर में है परन्तु निवासस्थान है नं० ८१, नाइन्थ एवीन्यू में। यह महात्मा गाँधी जी की पत्नी श्री माता कस्तूरबा के पारिवारिक सम्बन्धियों में से हैं और सार्वजनिक कार्यों में इनको विशेष अभिरुचि हैं। बहुत दिनों तक यह हिन्दू महासभा डर्बन के सभापति रह चुके हैं। उस समय इन्होंने ट्राँसवाल, केपकालोनी नैटाल तथा अन्य निकटवर्ती हिन्दुओं के सांस्कृतिक संगठन के लिये बड़ा उद्योग किया था। अब भी यह हर सार्वजनिक कार्य के लिये सदा उद्यत रहते हैं। सौभाग्य की बात है कि मुझे इनके आतिथ्य का आस्वादन उपलब्ध हुआ। इनकी दो पुत्रियाँ और एक पुत्र भारतवर्ष में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, श्री मनोहर लाल एन देसाई इन्दौर मैडीकल कालेज में और श्री तरंगिणी बैन और सरोजिनी बैन बम्बई में। वे अपनी सहधर्मिणी श्री भद्रा बैन जी के साथ इसी बंगले में रहते हैं; बंगला छोटा, सुन्दर और सुकृत है। हर प्रकार से रमणीक और सुख-प्रद। उसी के एक कमरे में मुझे टिका दिया गया। मेरे घर पहुँचते-पहुँचते दस पन्द्रह और सज्जन भी बन्दरगाह से चलकर वहाँ आ गये थे। अब मैं इस अवस्था में था कि शनैः शनैः मित्रों के

नाम और रूप से परिचित होता जाऊँ। उस दिन कई मित्रों ने साथ-साथ डाक्टर जी के यहाँ भोजन किया। तत्पश्चात् वे सब मुझे विश्राम करने के लिये छोड़ कर अपने-अपने स्थानों को प्रस्थान कर गये।

सायंकाल को छः बजे के पश्चात् कई सज्जन उसी स्थान पर एकत्रित हुये। प्रयोजन था मेरे कार्य के लिये एक पुरोगम तैयार करना। मुझे इस समय केवल चार व्यक्तियों का स्मरण है श्री सत्यदेव जी मंत्री आर्य्य प्रतिनिधि सभा नैटाल, श्री शुक्र-राज जी छोटई बी० ए० उपमंत्री सभा, श्री एस० एल० सिंह जी तथा श्री पं० नरदेव जी वेदालंकार स्नातक गुरुकुल कांगड़ी, अन्य भी कई सज्जन थे जिनके नाम से मैं पहले दिन परिचित नहीं हो पाया था। यह सम्मिलन दो घण्टे तक चलता रहा। कई आरम्भिक विषयों पर बातचीत हुई जिसमें अफ्रीका निवास काल में वस्त्रों का ढग क्या रहे इस पर भी विचार हुआ। इन देशों की परिस्थिति में वस्त्रों का प्रश्न असाधारण महत्व रखता है। अन्त में निश्चित हुआ कि लम्बा कोट जैसा कि मैं भारत-वर्ष में पहनता हूँ और गांधी टोपी ठीक होगी। धोती के स्थान पर मुझे पतलून पहननी चाहिये। भारत के नये विधान में चूड़ीदार पाजामा विहित समझा गया है। परन्तु मेरे लिये तो उस तंग मुहरी के पाजामा को पहनना बहुत कठिन था। अतः मैंने उसके स्थान में ढीले ढाले पतलून को अच्छा समझा। श्री मंत्री जी के प्रबन्ध से वस्त्रों की व्यवस्था ठीक हो गई। ३१ दिसम्बर और पहली जनवरी को छुट्टी थी। बाजार भी बन्द थे। मेरे पहुँचने से पूर्व ही सार्वजनिक विज्ञापन बट चुका था कि महात्मा गांधी हाल में दूसरी जनवरी को मेरा सार्वजनिक स्वागत होगा और वहीं मेरा पहला व्याख्यान भी। यहां व्याख्यान के विज्ञापन में व्याख्याता का चित्र देने की भी प्रथा है। मेरे आने से पूर्व

अधिकारियों को मेरे चित्र की बहुत खोज करनी पड़ी। एक पुराना चित्र किसी पुस्तक से लेकर विज्ञापन पर अंकित कर दिया गया। जब मैं आ गया तो मेरी इसी वर्ष छपी हुई 'वैदिक क्लचर' नामी पुस्तक के मुख पृष्ट पर मेरा ताज़ा चित्र था। सब ने इसको अच्छा समझा और भविष्य में इसी चित्र के देने का निश्चय करके उसका ब्लाक बनाने के लिये दे दिया गया।

इस प्रकार डर्बन में मेरा पहला दिन समाप्त हुआ। श्री डाक्टर देसाई और श्रीमती देसाई जी के लिये मैं उस दिन से पूरे १२४ दिन तक चिंता का विषय बन गया। वह सदा इस बात को सोचा करते कि विना कहे ही मुझे ठीक समय पर हर एक सुविधा की चीज प्राप्त हो जाय। श्रीमती देसाई जी नित्य अनुमान लगाया करतीं कि मुझे खाने की कौन सी चीज प्रिय है अथवा कौन सी चीज़ मेरे स्वास्थ्य के लिये हितकर होगी। अन्यत्र जाना होता तो वहाँ के लोग श्री देसाई जी को पत्र डाल कर पूछते कि उपाध्याय जी क्या खाते है और कब खाते हैं? मैं पीछे से जब यह बातें सुनता तो मुझे हंसी आ जाया करती। परन्तु सारांश यह है कि जो आतिथ्य सत्कार मेरा देसाई जी के घर में अथवा उनके द्वारा हुआ वह अपूर्व और असाधारण था।

बे मांगे हुये मिलते साग़र को यहीं देखा।
साक़ी सा सखी कोई हमने तो नहीं देखा।

एक युवक सम्पादक से भेंट

अपने पहुँचने के दो तीन दिन पश्चात् श्री देसाई जी को टेलीफोन मिला कि एक सज्जन जो एक पत्र के सम्पादक हैं मुझसे भेंट करना चाहते हैं। मेरी स्वीकृति दे देने पर दूसरे दिन वह श्री देसाई जी के बंगले पर मुझसे मिलने आये। वे युवक मद्रासी थे। उनका नाम था शायद श्री नायडू। मुझसे कहने लगे, "आपका परिचय प्राप्त करने आया हूँ। २री जनवरी को जो सभा आपके स्वागत के लिये की गई थी उसमें मैं था और आपका चित्र भी लिया था। परन्तु आपके जीवन की मुख्य घटनाओं के जानने का औत्सुक्य न केवल मुझको ही है अपितु डर्बन निवासियों को भी। मैं अपने पत्र में निकालूँगा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे फ्लिक (flick) नामी पत्र के सम्पादक हैं जो डर्बन से निकलता है। मैंने कहा, "भाई, आप पूछें जो पूछना हो। अपनी ओर से मैं क्या कहूँ? मैं आपके प्रत्येक उचित प्रश्न का उत्तर दूँगा।"

उन्होंनें क्रमशः पूछना आरम्भ किया।

जन्म तिथि ?—६ सितम्बर १८८१ ई०।

जन्म स्थान ?—भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश (यू० पी०) प्रान्त में एटा जिले में काली नदी के तीर नदरयी ग्राम।

जन्म के समय परिवार की अवस्था—अत्यन्त साधारण।

शिक्षा ?—१९१२ ई० में अंगरेजी में एम० ए०

१९२३ ई० में फिलासफी में एम० ए०।

दोनों इलाहाबाद यूनीवर्सिटी से।

कार्य ?—यू० पी० के शिक्षा विभाग में १९०१ से लेकर १९१८ तक।

डी० ए० वी० हाई स्कूल इलाहाबाद का मुख्याध्यापक (प्रिंसिपल या हैडमास्टर) १९१८–१९३९ तक।

सार्वजनिक कार्य ?—यू० पी० आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान १९४१–१९४५ तक।

सार्वदेशिक सभा दिल्ली का उप प्रधान भी
सार्वदेशिक सभा का मंत्री १९४६ से लेकर।

क्या आप पहले किसी विदेश में गये ?—नहीं। पहले पहल यहीं आया हूँ! भारतवर्ष में गुजरात छोड़कर अन्य सभी प्रान्तों में भ्रमण किया है।

आपके जीवन की महत्वपूर्ण आकांक्षा क्या रही है ?—

आर्य समाज का प्रचार, ऋषि दयानन्द के ऋण को चुकाना! बाल्यकाल में इच्छा हुई कि मद्रास तथा अमेरिका में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ जाऊँ परन्तु परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण कहीं जाना न हुआ। इस वृद्धावस्था में ईश्वर ने यह अवसर दिया है। इसीलिये आया हूँ।

आपने कौन कौन सी पुस्तकें लिखी हैं ?—मेरे पास एक छोटी सी सूची थी। वह दे दी।

मैं यह जानना चाहता हूँ कि सबसे पूर्व आपने क्या लिखा था ?

इस प्रश्न के उत्तर देने में मुझे देर लगी। मैं अपनी बाल्यावस्था की अंधेरी कोठरी को खोजने लगा। मुझे याद आया कि मैंने नृत्य के ऊपर 'विवाह और रंडिया' नामक एक छोटा सा ट्रैक्ट लिखा था। मैंने उसका उल्लेख कर दिया। यह उल्लेख पीछे से एक मनोविनोद का कारण बन गया जिसका वर्णन पाठकों के मनोविनोद का विशेष साधन होगा। बात प्रहसन की है।

और उसका लिखना आवश्यक है। कई सप्ताह पीछे जब मैं पोर्ट एलीज़ेबेथ में था तो एक मित्र ने कहा, "आप तो सूक्ष्म कलाओं के भी पण्डित हैं"। मैंने कहा, "मुझे तो कोई कला नहीं आती"। वे कहने लगे "क्या आप गाना नहीं जानते"। मैंने उत्तर दिया, "सुनना जानता हूँ। परन्तु न समझता हूँ न गा सकता हूँ"। उन्होंने कहा, "आपने तो नृत्य पर एक पुस्तक लिखी थी ?"। मैंने पूछा "आपने कैसे जाना ?"। उत्तर मिला "फ्लिक पत्र में पढ़ा था"। मुझे यह बात सुनकर बड़ी हंसी आई। फ्लिक पत्र के उस अंक की जिस में मेरा वृत्त छपा था बहुत सी कापियाँ दक्षिण अफ्रीका के अन्याय स्थानों में मेरे परिचयार्थ भेज दी गई थीं। और जनता ने अपनी अभिरुचि के अनुसार कुछ अपनी ओर से नमक मिर्च मिला कर वस्तु को चटपटा बना दिया था। "नृत्य" की यह बात तो विशेष चटपटी थी। तब मैंने उन महाशय को बताया कि मेरे बाल्यकाल में मेरे देश में विवाहोत्सवों पर वेश्याओं के नृत्य की बड़ी दूषित प्रथा थी। मुझसे अपने विवाह के समय अपने परिवार के साथ इस बिषय पर बड़ा झगड़ा हुआ था। उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी। मेरे चचा आदि ने मुझे बहका दिया और मेरी बात न मानी गई। उस दिन से मैंने ठान लिया कि किसी इष्ट मित्र या सम्बन्धी के विवाह में सम्मिलित न होऊँगा यदि उसमें वेश्याओं का नाच होगा। इस बुरी प्रथा के दुष्परिणाम सब पर विदित थे। परन्तु लोग लकीर के फकीर होते हैं। उस दिन से मैंने इस बुरी प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और नृत्य सम्बन्धी वह ट्रैक्ट उसी आन्दोलन का एक भाग था। मुझसे मेरे कई बुजुर्ग पहले बहुत नाराज थे। एक ने कहा, "तुम ऐसी मूर्खता की बातें करते हो। इन्द्र के यहाँ भी तो परियां नृत्य करती थीं।" मैं था आर्य्य समाजी। मैंने स्वामी दयानन्द

का सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा था। मुझे ऐसी बातें सुनकर खेद होता था कि पुराणों की गप्पें जनता के आचार विचार को कितना दूषित करती हैं। जब मैंने यह वास्तविक कथा कह सुनाई तो सब को बड़ी हँसी आई। बात भी हँसी की थी।

यह हुई मध्यवर्त्ती बात। अब फिर फ्लिक पत्र के सम्पादक के प्रश्न सुनिये !

आपके कै पुत्र हैं ? चार

कौन कौन क्या करते हैं ?—

(१) डाक्टर सत्यप्रकाश एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, जो इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में कैमिस्ट्री के प्रोफेसर हैं।

(२) श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल-एल० बी० जो कला प्रेस के संचालक हैं।

(३) श्री *श्रीप्रकाश एम० एस-सी० जो त्रिचन्द्र कालेज, काठमाण्डु, नैपाल में कैमिस्ट्री के प्रोफेसर हैं।

(४) चि० रविप्रकाश जो एम० एस-सी० के विद्यार्थी हैं।

सत्यप्रकाश की पत्नी रत्नकमारी एम० ए० आर्य कन्या पाठशाला इण्टर कालेज प्रयाग की प्रिंसिपल हैं।

आपके कै लड़कियाँ हैं ?—एक श्रीमती सुदक्षिणा एम० ए० एल० टी० जो कोटे के कन्या कालेज की प्रोफेसर हैं।

लड़की का नाम सुनकर उनको हर्षपूर्ण विस्मय हुआ। कहने लगे "आप उच्च स्त्री शिक्षा के पोषक हैं।" मैंने उनसे कहा "मेरे पहले और तीसरे पुत्रों की बधुयें भी एम० ए० हैं।"

अन्त में मुझसे उन्होंने कहा, "क्षमा कीजिये। एक प्रश्न

---

*श्री प्रकाश आजकल (१९५४ ई०) दयानन्द कालेज कानपुर में कैमिस्ट्री के प्रोफेसर हैं और उनकी पत्नी सुमन एम० ए० उसी कालेज में फिलासफी की लेक्चरार हैं।

और पूँछना चाहता हूँ। "*आप खाते क्या हैं ?*" मैंने कहा "आप यह प्रश्न क्यों पूछते हैं ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "आपकी आयु लगभाग ७० वर्ष की है। आपके शरीर और मस्तिष्क से यह नहीं पता चलता कि आप इतने वृद्ध हैं। इसलिये मुझे उत्सुकता हुई।"

मैंने कहा, "यह न पूछिये कि क्या *खाता* हूँ। यह पूछिये कि *क्या नहीं खाता*।"

"अच्छा, यही बतलाइये" उन्होंने कहाः मैंने प्रत्युत्तर दिया, "मैं मांस नहीं खाता, मछली नहीं खाता, अण्डा नहीं खाता, सिग्रेट नहीं पीता, चाय पी लेता हूँ परन्तु केवल उन अवसरों पर जब सामाजिक शिष्टाचार के कारण चाय पीना आवश्यक समझता हूँ।'

उन्होंने इन सब बातों को विस्तार के साथ अपने पत्र में छाप दिया। लोगों ने विशेष कर मेरे विषय में उसी के आधार पर अपनी धारणायें बनाई, किन्हीं ने पढ़कर, किन्हीं ने आधा पढ़कर, किन्हीं ने केवल सुन कर। और उसी के अनुसार कभी कभी गलत बातें भी प्रकाशित हो गई। जैसे कहीं-कहीं डी० ए० वी० हाई स्कूल के स्थान में कालेज कर दिया गया। किसी-किसी ने मुझे इलाहाबाद यूनीवर्सिटी का प्रोफेसर भी लिख दिया। वस्तुतः मैं इलाहाबाद यूनीवर्सिटी का प्रोफेसर तो न था, प्रोफेसर का बाप अवश्य था। एक सभा के यूरोपियन सभापति ने मेरा परिचय देते हुये कहा कि "यह सायंटिस्टों के बाप हैं"। मैंने उत्तर में कह दिया कि गुणों की गति नीचे को चलती है ऊपर की ओर नहीं। अर्थात् बाप के गुण बेटे में आ सकते हैं। बेटे के गुण बाप में नहीं। ला आफ इनहैरीटेंस (Law of Inheritance) अर्थात् उत्तराधिकार का नियम तो यही है। इस प्रकार बहुधा मनोविनोद का प्रसङ्ग चलता रहा।

'पहली व्याख्यान माला'

आर्य्य प्रतिनिधि सभा नैटाल की रजत जयन्ती का निर्दिष्ट समय था फर्वरी मास का द्वितीय सप्ताह। मैं पहुँचा था ३० दिसम्बर को। अतः स्वभावतः अधिकारी गण इस बात के उत्सुक थे कि पहले से वातावरण को जयन्ती के अनुकूल बनाने में मेरी उपस्थिति से लाभ उठाया जाय। मैं भी चाहता था कि जब विदेश में आया हूँ तो प्रत्येक क्षण का उत्तम से उत्तम उपयोग करूं। स्वागत सम्बन्धी सभा के पश्चात् परस्पर विचार से यह निश्चित हुआ कि अंगरेजी में ६ व्याख्यानों की योजना की जाय जिनमें आर्य्य सिद्धान्त, आर्य्य संस्कृति तथा भारतीय परिस्थिति पर प्रकाश डाला जाय। उनके लिये जो विज्ञापन दिया गया उसमें मेरा चित्र, संक्षिप्त परिचय तथा मेरे बनाये ग्रन्थों की सूची भी थी।

व्याख्यानों का स्थान था महात्मा गाँधी हाल, ५२ लौर्न स्ट्रीट डर्बन। अन्य ज्ञातव्य बातें इस प्रकार हैं :—

(१) सोमवार ९ जनवरी १९५०, समय ५-३० बजे। विषय—Synthesis of Religions ["धर्मों का समन्वय"], सभापति—श्री मौरिस वैब।

(२) मंगलवार १० जनवरी १९५०, समय ५-३० बजे। विषय—God, Soul & Matter ("ईश्वर, जीव, प्रकृति") सभापति—श्रीमती डाक्टर मैबेल पामर एम० ए०, पी० एच० डी०।

(३) बृहस्पतिवार १२ जनवरी १९५०, समय ५-३० बजे। विषय—History of the Religious Reformist Movements

in India ("भारत में धार्मिक सुधारों के आन्दोलनों का इतिहास") सभापति—श्री डाक्टर एन० पी० देसाई।

(४) सोमवार, १६ जनवरी १९५०, समय ५-३० बजे। विषय—Science & Religion ("सायंस और धर्म") सभापति—डाक्टर एलन टेलर।

(५) बुधवार, १८ जनवरी १९५०, समय ५-३० बजे। विषय—The Philosophy of the Upanishads (उपनिषदों के दार्शनिक विचार") सभापति—श्री एस० एल० सिंह जी।

(६) बृहस्पतिवार, १९ जनवरी १९५०, समय ५-३० बजे। विषय—The Ultimate Purpose of Life ("जीवन का मुख्य ध्येय") सभापति—श्रीमती ए० एम० जी० मेटम, डिप्टी मेयर।

ऐसा विचार था कि बीच-बीच में विश्राम के लिये पर्याप्त समय मिलना चाहिये। परन्तु एक दो व्याख्यानों के पश्चात् अन्य संस्थाओं से इतने निमंत्रण आये कि बीच का लगभग पूरा समय भरना पड़ा। ऊपर के छः व्याख्यानों के अतिरिक्त दस और व्याख्यान इन्हीं तिथियों में हुये।

(१) २ जनवरी, ५०, महात्मा गांधी हाल में आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल द्वारा स्वागत। व्याख्यान अंगरेजी में (Vedic Culture) (वैदिक संस्कृति" पर)

(२) ४ जनवरी, ५०, महात्मा गांधी हाल में युवक मण्डल द्वारा स्वागत। व्याख्यान का विषय (अंगरेजी में) Arya Samaj in the Changing World (परिवर्तनशील संसार में आर्य्यसमाज का स्थान)

(३) ७ जनवरी, ५०, स्थान आर्य्यप्रतिनिधि सभा नैटाल का भवन २१ कार्लायल स्ट्रीट, डर्बन।

हिन्दी शिक्षा सभा की ओर से स्वागत तथा व्याख्यान हिन्दी में। विषय "विदेश की भाषाओं में हिन्दी का स्थान।"

(४) ८ जनवरी, ५०, स्थान महात्मा गांधी हाल। हिन्दू महा-सभा की ओर से स्वागत। भाषण अंगरेजी में, Message of Vedas ("वेदों कासंदेश")

(५) ११ जनवरी, ५०, स्थान-सूरत हाल-सूरत हिन्दू एसोसियेशन की ओर से स्वागत। व्याख्यान हिन्दी में, विषय "हिन्दुओं में वर्तमान जाति समस्या।"

(६) १३ जनवरी, ५०, समय १० बजे प्रातःकाल।

क्लेअरवुड (Clarewood) यवकमण्डल की ओर से स्वागत व्याख्यान अंगरेजी में, "युवक और धर्म" (Youth & Religion) विषय पर। स्थान-तिलगू हाल

(७) १३ जनवरी, ५०, ३ बजे डर्बन महिला मण्डल की ओर से स्वागत। व्याख्यान हिन्दी में विषय—स्त्री जाति और धर्म।

(८) १४ जनवरी ५० को महात्मा "गांधी-टागोर लेकचरशिप" की ओर से स्वागत। व्याख्यान अंगरेजी में। विषय "गांधी-दर्शन" (Gandhi's Philosophy of Life).

(९) १५ जनवरी प्रातः काल। वैस्टविल आर्य्य समाज में "श्रद्धा और भक्ति" पर व्याख्यान।

(१०) १५ जनवरी सायंकाल—आर्य्य प्रतिनिधि सभा में व्याख्यान।

इस प्रकार ६ विशेष व्याख्यानों को मिलाकर १९ जनवरी तक डर्बन तथा उसके समीप १६ व्याख्यान हुये।

अपनी यात्रा का अधिक वर्णन करने से पूर्व उचित प्रतीत होता है कि थोड़ा सा उस देश और उन लोगों का वर्णन कर दिया जाय जिनके बीच में होकर मुझको गुज़रना पड़ा।

———

डार्क कान्टीनन्ट

अफ्रीका एक बड़ा महाद्वीप है। एशिया से छोटा परन्तु यूरोप से बहुत बड़ा। यूरोप और अफ्रीका के बीच में भूमध्य सागर या मैडीटरेनियन सी है और एशिया और अफ्रीका के बीच में हिन्दमहासागर। भूमध्य रेखा अफ्रीका के बीच से गुजरती है अतः उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी अफ्रीका की ऋतुओं में परस्पर असमता है। मेरी यात्रा का सम्बन्ध जिस दक्षिणी अफ्रीका से है वह तो अफ्रीका महाद्वीप का एक छोटा सा दक्षिण पूर्व या दक्षिणी सिरा है। परन्तु यह सिरा है महत्त्वपूर्ण।

अफरीका महाद्वीप यूरोपियन जातियों की भाषा में अन्धकारमय महाद्वीप या डार्क काण्टीनेण्ट कहा जाता है। इसका यह कारण नहीं कि अफ्रीका में सदा अंधेरा रहता है। परमात्मा की सृष्टि में भूमध्यरेखा के आस पास के स्थल तो कभी अंधेरे में रह ही नहीं सकते। यहाँ तो सूर्य देव अपनी समस्त शक्ति से चमकते हैं और किसी समय भी अन्धकार के लिये अवकाश नहीं छोड़ते। अन्धकार तो ध्रुव के निकट हो सकता है। अतः ईश्वर ने अफ्रीका को अन्धकारमय होने के लिये नहीं बनाया। यदि मानवी गणना का विचार किया जाय तो मनुष्य जाति के इतिहास मात्र से पता चलेगा कि मनुष्य उष्ण कटिबन्ध का प्राणी है। शीतकटिबन्ध तो मानवी प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है। ध्रुवों के समीप मनुष्य का क्या अन्य प्राणियों का रहना कठिन है। मनुष्य के खान पान की जितनी सामग्री उष्ण कटिबन्ध

में प्राप्त होती है उतनी अन्य स्थानों पर नहीं। अफ्रीका महाद्वीप इस सामान्य नियम का किसी प्रकार भी अपवाद नहीं है। प्राचीन काल में अफ्रीका का मिश्र देश अपनी अपूर्व सभ्यता के लिये प्रसिद्ध था। पता नहीं कि अफ्रीका के वर्तमान रेत के नीचे कितनी पुरानी सभ्यताओं के चिह्न दबे मिलें। परन्तु आज तो अफ्रीका अन्धकार युक्त महाद्वीप है क्योंकि सूर्य के महा उग्र प्रताप के साथ साथ ही यहाँ के रहने वाले मनुष्य उन्नति की निम्नतम अवस्था में हैं। उनको कोई नहीं जानता और वे किसी को नहीं जानते। वे स्वयं तो अपने आपको भी नहीं जानते। उनको अपने देश की विभूतियों का भी पता नहीं। वे भूमि माता के वक्षस्थल पर ही खेलते रहे। उन्होंने कभी वसुन्धरा के वसुन्धरापन को जाना ही नहीं। उन्होंने कभी भूमि के भूमित्व को पहचाना ही नहीं। बड़े बड़े पहाड़, बड़ी बड़ी नदियां, बड़ी बड़ी झीलें, बड़े बड़े जल प्रपात, बड़े बड़े जंगल, बड़ी बड़ी झाड़ियां, बड़े बड़े शेर, बड़े बड़े पशु, बड़े बड़े भयानक सर्प, बड़े कीड़े मकोड़े बड़े-बड़े मच्छर और बड़ी-बड़ी मक्खियाँ जिनके काटते ही बड़े से बड़ा बैल एक क्षण में धराशायी हो जाय। परन्तु इस महाद्वीप में यदि महत्व प्राप्त नहीं है तो वहाँ के रहने वाले मनुष्य को।

यह नहीं कि अफ्रीका में मनुष्य नहीं रहते। बहुत मनुष्य हैं। परन्तु उनमें मनुष्यता के चिह्न बहुत कम हैं। मनुष्य का मुख्य गुण है मननशीलता। इस मननशीलता का परिचय मनुष्य देता है अपने रहन-सहन से। प्रकृति देवी मनुष्य को अपने अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा कम से कम साधन देती है। न भेड़ की सी ऊन, न सिंह के से तेज़ पंजे, न मच्छर के से डंक। परन्तु अपनी बुद्धि के द्वारा ही वह प्रकृति की समस्त प्रतिकूल वस्तुओं को अपने अनुकूल बनाता है। और पशु पक्षियों में भी

अपनी सभ्यता का संचार करता है। मनुष्य की जो श्रेणी मनुष्य की इस विशेषता को नहीं रखती वह तो मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं है। यही कारण है कि यूरोप की जातियाँ बहुत दिनों से अफ्रीका को डार्क या अन्धकार मय कह रही हैं और अफ्रीका वालों ने इस अपमान के विरुद्ध कभी आवाज़ नहीं उठाई, उठाते भी कैसे? उन्होंने ईश्वर प्रदत्त उजाले को उजाला ही नहीं समझा।

अफ्रीका महाद्वीप की इतनी जातियाँ क्या सृष्टि के आरम्भ से ही इतनी काली, इतनी असभ्य और इतनी जंगली थी? मेरी समस्त यात्रा में मेरे मस्तिष्क में यह प्रश्न चक्कर लगाता रहा। दो एक अफ्रीकनों से मैंने यह प्रश्न किया। परन्तु मैं नहीं समझता कि वे मेरे प्रश्न को समझ भी सके या नहीं। डर्बन में मेरी एक अफ्रीकन लीडर से भेंट तथा वार्तालाप हुई। मैंने उससे यही पूछा! नाम पूछने पर उसने अपना ईसाई नाम बताया। मैंने कहा, "यह तो ईसाई नाम है! असली नाम बताओ, उसने बताया परन्तु मैं उसको याद नहीं रख सका। मैंने उससे पूछा कि ईसाई होने या यूरोपियन प्रभाव में आने से पूर्व तुम्हारी क्या दशा थी? क्या तुम्हारी कोई भाषा थी? क्या कोई सभ्यता थीं? क्या कुछ विद्यायें तुमको आती थीं? ऐसे प्रश्न सुनकर उसके आत्मा में कुछ आत्म सम्मान की झलक दिखाई दी। वह एक राजनीतिक संस्था का नेता था और अफ्रीकनों के अधिकारों के लिये आन्दोलन भी करता था। उसने मुझसे कहा, "अजी हम सब कुछ जानते थे। भूख लगती थी तो मक्का उत्पन्न कर लेते थे। बीमार पड़ते थे तो चिकित्सा कर लेते थे। हमारे पास अपनी भाषा भी थी। हम अपने राज्यों का प्रबन्ध भी करते थे। हमारा धर्म भी था। हाँ एक बात नहीं थीं। हमारी कोई लिपि नहीं थी। हम लिखना

नहीं जानते थे। हमारे पास साहित्य नहीं था।

मुझे उससे फिर बात करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु वार्तालाप का अन्तिम वाक्य अब तक मेरे मस्तिष्क में घूम रहा है। प्रश्न यह है कि क्या अफ्रीका के यह काले लोग आरंभ से ही असभ्य थे। या यह किसी नैतिक विप्लव के प्रश्चात् अपनी पुरानी सभ्यता को भूल गये।

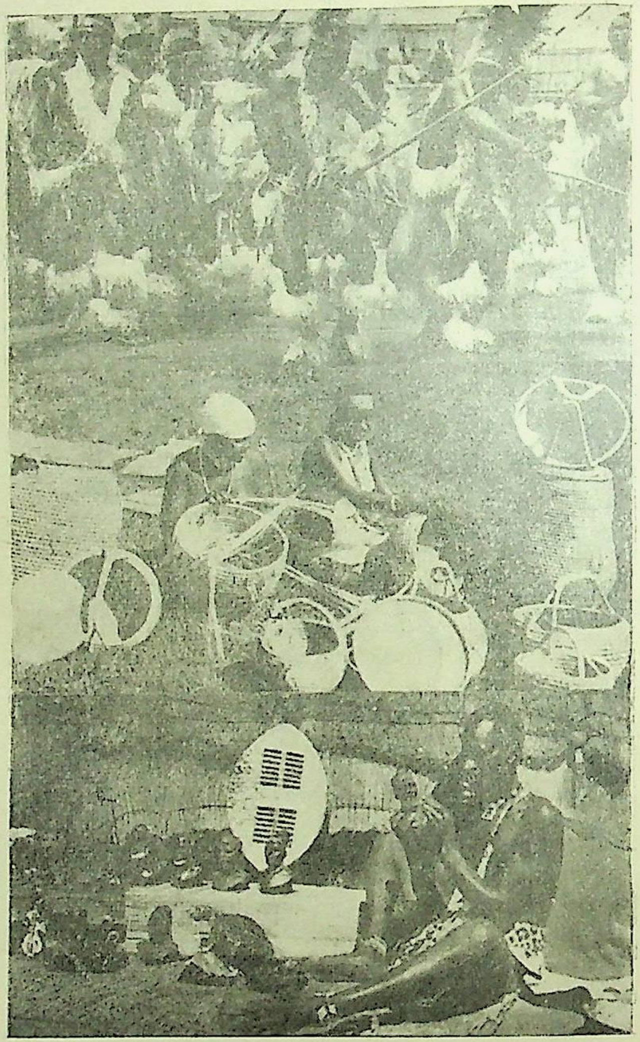
यह प्रश्न साधारणतया महत्त्व का नहीं समझा जा सकता। और नवीत पद्धति कि विचारक तो मेरी इस बात पर हंसेगें परन्तु मेरा दृष्टिकोण और रहा है और उसमे इस प्रश्न की महत्ता बढ़ जाती है। आजकल सभ्यता के तीन चिह्न हैं। गोरा चमड़ा हो। यूरोपियन वंशज हो और ईसाई है। जिसमें यह तीन गुण नहीं वह असभ्य, अर्द्ध सभ्य। केवल ईसाई होना भी काफी नहीं है। ईसामसीह स्वयं न गोरे थे न यूरोपियन थे, और न ईसाई ही थे। क्योंकि ईसाई धर्म तो उनके पीछे से चला। अतः ईसा को किस कोटि में रक्खा जाय? यह प्रश्न है। आज जितने ईसाई प्रचारक हैं उनमें धर्म की अपेक्षा राजनीति का अधिक प्रभाव है। वे जहाँ जहाँ इंजील को ले जाते हैं वहाँ अधिकतर अपने शासकपने को भी ले जाते हैं। वे चाहते हैं कि लोग ईसाई हो जायं और अधीन रहें। इसका जाज्वल्य मान प्रमाण अफ्रीका की काली जातियाँ हैं। उनको यूरोपियन लोगों ने ईसाई बनाया। अपनी भाषा पढ़ाई। अपने नाम सिखाये। अपने ढंग के कपड़े पहनायें। उनके लिये गिरजे बनाये। उनको ईसाई धर्म के भजन सिखाये। परन्तु रक्खा दास ही बनाकर। काले कभी स्वतंत्र हो नहीं सकते। यह है यूरेपियनों की मनोवृत्ति। मेरी समझ में नहीं आता कि यूरोपियन ईसाई स्वयं धर्म के सिद्धान्तों को कैसे भूल जाते हैं। बाइबिल में मनुष्य की उत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है कि आरम्भ में ईश्वर

ने आदम को बनाया। फिर उनकी पत्नी हव्वा को। और फिर उनसे जो सन्तान उत्पन्न हुई वही संसार भर की मनुष्य जातियाँ हैं। यदि यह ठीक है तो अफ्रीका की काली जातियाँ भी उसी आरम्भिक यहूदी धर्म की मानने वाली रही होंगी जिसकी परम्परा आदम से आरंभ होती है। फिर ईसाई पादरियों का निरंतर यह दिखाने का यत्न करना कि यह काली जातियाँ आरम्भ से असभ्य थीं और उनमें किसी प्रकार ईश्वर-वाद था ही नहीं अपने ही सिद्धान्तों के विरुद्ध जाना है। परन्तु यूरोप के ईसाई इतनी सिद्धान्तों की परवाह नहीं करते जितनी अपने आधिपत्य की दुन्दुभी बजाने की। यदि वैदिक मानव-उत्पत्ति के सिद्धान्त को माना न जाय तो पता चलता है कि जो मानव जाति पहले आर्य्यावर्त्त में उत्पन्न हुई वही अनेक शाखाओं में संसार भर में फैल गई और उसी की शाखायें उपशाखायें एक दूसरे से लड़ती भिड़ती रहीं। और सस्कृति का भाग्य चक्र देश काल तथा युग के प्रभाव से कभी उन्नति को और कभी ह्रास को प्राप्त होता रहा। इस प्रकार वैदिक सिद्धान्तानुसार तो संसार की असभ्य से असभ्य जातियाँ भी पूर्वकाल में कभी सभ्य रह चुकी हैं। अफ्रीका में काली जाति के लोगो की अनेक शाखायें हैं। दक्षिण से उत्तर तक अनेक भेद और उपभेद पाये जाते हैं। इनमें मैत्री तथा शत्रुता भी पुराने काल से चली आती है। इनमें से कुछ उत्तर की जातियों पर अरब के लोगों, उनकी भाषा और उनकी संस्कृति का प्रभाव है। मोम्बासा, जंज़बार आदि की काली जातियां इस प्रकार की हैं। दक्षिण की ओर बचवाना, वसूटो, जूलू आदि के भेद मिलेंगे। उनकी भाषायें भी भिन्न भिन्न हैं। परन्तु मेरा तो अनुमान ऐसा होता है कि इनका भी पुराना साहित्य रहा होगा जो नष्ट भ्रष्ट हो गया। इनकी भाषा में भी ईश्वरवाद आदि के



अफ्रीका के आदिम निवासी

अफ्रीका के आदिम निवासी



(ऊपर) युद्ध नृत्य, (बीच में) टोकरी बनाने वाले,
(नीचे) मूर्ति बनाने वाला कारीगर

कुछ कुछ भावों का पता लगता है। इनमें भी धर्म अधर्म का विवेक है और भलाई बुराई के भिन्न भिन्न मापदण्ड हैं। क्या यह सम्भव है कि संसार की अन्य जातियों की लिपियां हों और इनकी कोई भी लिपि न रही हो ? मेरी धारणा तो यहाँ तक होती है कि अफ्रीका और भारतवर्ष के बीच कुछ यातायात का सम्बन्ध अवश्य था। ईसा की पहली शताब्दी में सीरिया आदि के ईसाई मद्रासी तट तक आते जाते थे। चाहे ईसा के प्रसिद्ध शिष्य सेंट टामस का मद्रास में आना ऐतिहासिक घटना हो अथवा किम्वदन्ती। परन्तु आने जाने की प्रथा तो अवश्य थी। और जब १४९८ में वास्कोडिगामा का जहाज कालीकट में जमोरिन महराज के समय में आया उस समय वास्कोडिगामा को भारत का मार्ग तो अफ्रीका की काली जातियों ने ही बताया था। अतः इतिहास और भाषा विज्ञान के अन्वेषकों के लिये यह एक उपयोगी तथा रोचक समस्या होगी कि अफ्रीका की काली जातियों और भारतीयों के प्राचीन सम्बन्ध के विषय में खोज की जाय। रङ्ग रूप के भेदों के इतने कारण हो सकते हैं कि केवल रङ्ग रूप को देखकर ही एक दूसरे को अलग मानना ठीक नहीं है। आजकल यूरोप की गोरी जातियों पर रङ्ग का भूत सवार है। वे वैज्ञानिक तथा उन्नतिशील होती हुई भी अवैज्ञानिकों की भांति सोचती और वर्तती हैं। वे सभ्यता फैलाने का दंभ करती हुई भी सभ्यता को संकुचित बनाने का साधन बन रही हैं। यह संकुचित मनोवृत्ति ही उनके ह्रास का कारण होगी। भारत के लोग यदि अपनी प्राचीन उदारता को धारण करें तो मानव जाति एक भयानक विप्लव से बच सकती है।

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

भारतीय जनता

हम आरम्भ में कह चुके हैं कि हम को प्राचीन अफ्रीका और प्राचीन भारतीय लोगों के सम्पर्क में कुछ भी सन्देह नहीं है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि भारतीय लोगों की स्वतंत्रता छिन जाने के पश्चात् इनमें विदेश यात्रा के लिये रुचि या क्षमता नहीं रही। यह स्वाभाविक है। पराधीन जातियों को विदेश भी लाघव दृष्टि से देखते हैं और उनको अपने पैरों पर खड़ा होने का अवसर नहीं मिलता।

भारतवर्ष में अंगरेज़ों का राज्य हो जाने के पश्चात् भारतीय लोग अन्य देशों में अंगरेज़ों के गुलाम समझे जाने लगे। यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने घोषणा कर दी थी कि शासन के प्रसङ्ग में किसी मनुष्य से जन्म, जाति, वर्ण या देश का पक्षपात नहीं किया जायगा। परन्तु यह बात कभी व्यवहार में नहीं आई और अंगरेज़ों और भारतीयों के बीच में सदैव यह जटिल समस्या बनी रही।

नैटाल में बूअर लोगों ने जो जन-तंत्र शासन आरम्भ किया वह शीघ्र समाप्त हो गया क्योंकि नैटाल १८४३ ई० में अंगरेज़ों के आधीन हो गया। नैटाल की भूमि अपने उर्वरत्व के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ अंगरेज़ों ने १८४७ ई० में गन्ने की खेती आरम्भ की। परन्तु अंगरेज़ थे मालिक। यह किसान न थे। ये चाहते थे कि मजदूरी का काम कोई और करे और लाभ यह स्वयं उठावें। अतः खेतों के लिये मज़दूरों की आवश्यकता हुई। १८५५ ई० में महारानी विक्टोरिया से प्रार्थना की गई कि

कैदियों को खेती का काम करने के लिये इनको दे दिया जाय। परन्तु यह बात स्वीकार नहीं हुई। गुलामों की प्रथा मिट चुकी थी। गुलाम खरीद कर नहीं लाये जा सकते थे।

१८५८ ई० ई० में पूर्व पुर्तगीज़ अफ्रीका के नीग्रों अमांटोगों को नैटाल के खेतों में काम करने के लिये बुलाने की बात सोची गई। अंगरेज़ चाहते थे कि इन लोगों के साथ ऐसी शर्तें की की जायं कि वे बहुत दिनों तक नौकरी करने के लिये बाध्य हों परन्तु नीग्रो लोगों ने ऐसा स्वीकार करना पसन्द नहीं किया। अब इन लोगों ने जूलूओं की ओर दृष्टि डाली। परन्तु .जुलू थे वीर लोग। .जूलू थे वीर लड़ाके। उनसे मजदूरी होना कठिन था।

अब जावा से चीनी और मलायें लोगों को लाया गया। परन्तु हौंगकौंग के उपनिवेश मंत्री ने स्पष्ट कह दिया कि दस या पंद्रह शिलिंग मासिक मज़दूरी पर चीन के मज़दूर नहीं भेजे जा सकते।

अंगरेज़ लोग सस्ते मज़दूर चाहते थे। वे स्वयं तो अच्छे घरों में रहना, अच्छा खाना खाना, जीवन के तल को उच्च रखना चाहते थे और खेतों पर काम लेना चाहते थे दूसरों से। यूरोपियन लोगों में जीवन के तल को ऊँचा रखने की ओर विशेष ध्यान है। और जो लोग उनके समान नहीं रहना चाहते या नहीं रह सकते उनको वह घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वह एक बात पर विचार नहीं करते। अपने जीवन का तल ऊँचा करने के लिये उनको दूसरों के जीवन का तल नीचा करना पड़ता है। यदि मैं अच्छे बंगले में रहूँ, कई मेरे नौकर हों, कपड़े आदि अच्छे हों तो धन चाहिये। धन कमाने के लिये आवश्यक हैं कि मुझे सस्ते मज़दूर मिलें। यदि मज़दूर भी उसी उच्च तल की मांग करें तो सब का तल

तो ऊँचा हो नहीं सकता। सभी सरदार हो जायँ तो काम कौन करे? अंगरेज़ों ने काफिरों से बेगार लेनी चाही। परन्तु इसमें भी इनको साफल्य न मिला क्योंकि इनको चाहिये थे ३ लाख मज़दूर। काफिर ६ या ७ हज़ार से अधिक न थे। फिर काफिर लोग मज़दूरी के काम में दक्ष न थे। उनको शिक्षा नहीं मिली थी। अंगरेज़ों को चाहिये थे शिक्षित और सस्ते मज़दूर जिससे काम ठीक हो और पैसा कम देना पड़े।

भारतवर्ष अति प्राचीन देश है। यहाँ शिक्षा की एक परंपरा चली आती है। साक्षरता नष्ट होने पर भी यह परंपरा बनी ही रहती है। यही कारण है कि भारतवर्ष का निवासी जहाँ जाता है शीघ्र ही वह उन्नतिशील बन जाता है। नवीन जातियों को परम्परा का सौभाग्य प्राप्त नहीं हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है। प्रायः लोग जंगली निरक्षरों और भारतीय निरक्षरों को एक सा समझ लेते हैं। उनको परम्परा-गत शिक्षा के महत्व का पता नहीं।

डर्बन कौरपोरेशन ने नैटाल के गवर्नर से जो प्रार्थना की इसका सार नीचे के उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :—

"Independently of measures for developing the labour of our own natives we believe your excellency will find occasion to sanction the introduction of a limited number of coolies, or other labourers from the East, in aid of the new enterprises on the coast lands, to the success of which sufficient and reliable labour is absolutely essential; for the fact cannot be too strongly borne in mind, that on the success or failure of these rising enterprizes depend the advancement of the colony or its certain and rapid decline. Experimental cultivation has abundantly demonstrated that the issue depends solely on a constant supply of labour".

इसका भावानुवाद यह है कि खेती को सफलता तभी प्राप्त होगी जब आप पूर्वी देशों से शिक्षित मज़दूर मंगा देवें। अन्यथा खेती तबाह हो जायगी।

नैटाल गवर्नमेण्ट ने भारतीय सरकार को मज़दूरों के लिये लिखा। परन्तु भारतीय सरकार ने स्पष्ट उत्तर दे दिया कि प्रथम तो भारतवर्ष के लिये ही मज़दूर चाहियें। दूसरे मौरीशस और ट्रीनिडाड आदि देशों में मज़दूरी अधिक मिलती है, अतः दक्षिणी अफ्रीका में मज़दूर भेजना कठिन है।

इतने में १८५७ ई० में भारतवर्ष में अंगरेजों के पंजों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये विद्रोह हुआ जिसके दमन करने में अंगरेज़ सफल हो गये और अंगरेजी शासन की नींव सुदृढ़ हो गई। नैटाल गवर्मेंट ने भारत सरकार को फिर लिखा। और यह भी आश्वासन दिया कि हम भारतीय मज़दूरों के साथ अच्छा व्यवहार करेंगे। भारत के शासक थे अंगरेज़। उनको अपने नैटाली भाइयों का अधिक ध्यान था। भारत के निवासियों के हित की इतनी चिन्ता न थी। अतः १८५८ ई० में विद्रोह-दमन के पश्चात् भारत की सरकार ने मज़दूरों को दक्षिण अफ्रीका भेजने की स्वीकृति दे दी। यह है दक्षिणी अफ्रीका की भारतीय जनता के इतिहास का आदि सूत्र। यह बुरा हुआ या भला। इस विषय में भिन्न २ मत हो सकते हैं।

भारतीयों के अन्य देशों में जाने में कोई हानि नहीं। जो देश अन्य देशों से सम्पर्क नहीं रखता वह शीघ्र ही अवनत-मुख हो जाता है। भारतीयों का यह दोष था कि उन्होंने विदेश जाना छोड़ दिया। यदि ऐसी सुशिक्षित जाति पहले से अफ्रीका जैसे प्रदेशों में आई होती तो आज अफ्रीका में भारतीयों की दशा वह न होती जो आज है। जब भारतीय सोते रहे तो यूरोप की जातियाँ दूरस्थ देशों की खोज में फिरती रहीं।

उन्होंने बाहर जाने में प्राथमिकता दिखाई। अतः यह देश उन्हीं के हाथ में हैं। आज समस्त अफ्रीका किसी न किसी यूरोपीय देश के आधीन है।

परन्तु अफ्रीका में भारतीय जिस हैसियत से आये वह आपत्ति-जनक थी। इनको मजदूर और कुली बनाकर भेजा गया। इनका नाम भी 'कुली' रक्खा गया। और कुलियों के समान ही इनके साथ व्यवहार किया। भारतवर्ष कुलियों का देश न था। इस पराधीन अवस्था में भी भारतीयों की विद्या, भारतीयों का आचार, भारतीयों की संस्कृति, भारतियों का दर्शन, भारतीयों की कलाकौशल यूरोप वालों से पीछे न थी। परन्तु अफ्रीका में जो मजदूर लाये गये उनको 'कुली' कहा गया। यूरोपियन लोग प्रसन्न हो उठे कि भारत के शिक्षित मजदूर थोड़े से दामों में हमको मिल गये। यह काम करेंगे और हम चैन करेंगे। इंग्लैण्ड वालों को यह गर्व था कि उनके सम्राट के ताज में भारतवर्ष सबसे बहुमूल्य रत्न है। अफ्रीका के अंगरेजों को गर्व हो गया कि ऐसी प्राचीन सभ्य जाति के लोग उनके खेतों में कुली का काम करते हैं।

नैटाल गवर्मेन्ट ने डब्लयू० कौलिन्स (W. Collins) नामी गोरे को भेजा कि भारतवर्ष में कुलियों की भरती करे। १३-अक्टूबर १८६० ई० का बड़ा मनहूस दिन था जब ट्रूरो (Truro) नामक जहाज में मद्रास के बन्दरगाह से कुलियों की पहली टोली दक्षिण अफ्रीका के लिये चली और ३४ दिन की समुद्र यात्रा के प्रश्चात् नैटाल पोर्ट में पहुँची। चेचक के टीके की परीक्षा के प्रश्चात् भारतीय कुली उतारे गये और अफ्रीका के गोरों के मस्तक में यह बात बिठाल दी गई कि भारतवर्ष कुलियों का देश है। यदि भारत का अधिकार होता तो वह अन्य देशों को कुली न भेज कर प्रोफेसर भेजता और विद्वानों का देश

कहलाता। विदेश में भेजने के लिये आवश्यक है कि सर्वोत्कृष्ट मनुष्य भेजे जावें। जब श्री राजा राममोहन राय इंग्लैण्ड गये तो उनके अपूर्व पाण्डित्य को देखकर इंग्लैण्ड वाले दंग रह गये थे। अफ्रीका का इतिहास इससे सर्वथा विपरीत था।

इन कुलियों के साथ व्यवहार भी बड़ा अनोखा था। इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों से गुलाम प्रथा हट चुकी थी। अफ्रीका की सरकार ने भी गुलाम प्रथा को उठा दिया था। परन्तु गोरे लोगों को गुलामों से काम लेने की टेव पड़ी हुई थी। उन्होंने 'गुलाम' शब्द को त्याग कर 'कुली' शब्द को अपनाया और गुलाम-प्रथा के बजाय एक अधिक रुचिकर शब्द गढ़ा गया जिसका नाम था इंडेंचर्ड लेबर (Indentured Labour) अर्थात् प्रतिबन्ध-युक्त मजदूरी। इसके छः नियम थे :—

(१) हम मजदूर लोग गोरे लोगों को अधिकार देते हैं कि वे हमको किसी दूरस्थ अज्ञात देश में ले जायं। हमको वहां जाने में कोई आपत्ति न होगी।

(२) हम लोग विना अपनी मर्जी के किसी मालिक के आधीन काम करने के लिये उद्यत रहेंगे।

(३) हम जिस मालिक के आधीन काम करेंगे उसकी आज्ञा के विना कहीं अन्यत्र नहीं जा पायेंगे और चाहे कितना ही कड़ा काम क्यों न लिया जाय हमको कुछ भी आक्षेप न होगा।

(४) यह प्रतिबन्ध नियत वर्षों (प्रायः पाँच वर्ष) के लिये होगा। इस अवधि के भीतर हम किसी हेतु से भी काम न छोड़ेगें न भागेंगे।

(५) इस अवधि के भीतर हम नियत मजदूरी पर काम करेंगे। वेतन बृद्धि की मांग करने का हमको कोई अधिकार न

होगा चाहे हमारे पड़ोस में लोगों को अधिक मज़दूरी ही क्यों न मिल रही हो।

(६) यदि हम इन नियमों में से किसी को भंग करेंगे तो हमको विशेष धारा द्वारा दन्ड दिया जायगा।

इन छः शर्तों पर ध्यान देने से विदित होगा कि इन कुलियों और गुलामों में कोई अन्तर न था। भारतवर्ष में जो रंगरूट भरती किये जाते थे उनमें से अधिकतर को अनेक प्रलोभन देकर फुसलाया जाता था। और जब वे हस्ताक्षर कर देते या अंगूठा लगा देते तो उनके हाथ कट जाते। यह रंगरूट बहुत पढ़े लिखे न थे। वे विदेशों के नियमों से भी सर्वथा अनभिज्ञ थे। फिर इतनी दूर दूरस्थ अज्ञात देशों में एक बार पहुँच कर वे सर्वथा गोरों के हाथ में होते थे। यदि उनके साथ अन्याय या अत्याचार किया जाय तो उनकी कौन सुने और वे भाग कर कहां जायं? कोई उनकी रक्षा करने वाला न था। यदि अफ्रीका में पहुँच कर इनकी आँखें खुलीं और अपनी भूल पर पश्चताप किया या अपने देश और सम्बन्धियों की याद आई भी तो इससे क्या लाभ? सर पीट कर बैठ जाओ और अपने भाग्य को दोष दो। इसका परिणाम यह हुआ कि आत्म-घातों की संख्या बढ़ गई।

परन्तु जो मज़दूर हिन्दुस्तान से अफ्रीका आये उन्होंने बुद्धिमत्ता और परिश्रम से काम किया। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है। यहाँ के बे पढ़े भी खेती करना जानते हैं। यह परिश्रमी मितव्ययी तथा स्वामीभक्त होते हैं। इसलिये अफ्रीका पहुँचते ही इन्होंने अफ्रीका की शकल को बदल दिया। उजाड़ देश को हरा भरा बना दिया। १८६३ ई० में २६००० पौण्ड की शक्कर विदेशों को गई और १८६४ ई० एक लाख पौण्ड की। १९ जनवरी १८६५ ई० के नैटाल मर्करी (Natal Mercury) नामक समाचार पत्र ने लिखा कि—

"Had it not been for the coolie labour, we should not hear of coffee plantations springing up on all lands and of the prosperity of older ones being sustained solely through the agency of East India men".

अर्थात् यदि भारतीय लोग अफ्रीका में न आते तो काफी की खेती की जो उन्नति हुई है वह कदापि नहीं हो सकती थी।

यह हिन्दुस्तानी 'कुली' काम करने में इतने दक्ष निकले कि इसी पत्र ने सरकार को परामर्श दिया कि भारतीय कुलियों को स्वतंत्र खेती करने और कोल्हू चलाने के लिये प्रोत्साहित किया जाय। इनको भूमि के टुकड़े या तो ठेके पर दिये जायं या इनके हाथ वेच दिये जायं।

प्रतीत होता है कि उन दिनों दक्षिण अफ्रीका की गवर्मेण्ट को केवल एक ही चिन्ता थी अर्थात नैटाल की भूमि में किस प्रकार उपज बढ़ाई जाय। वह यह नहीं सोचते थे कि भविष्य में क्या नैतिक जटिलता उत्पन्न हो जायगी। गोरे लोगों के हित में भी यही बात ठीक थी। क्योंकि गोरे लोग स्वयं तो खेती कर नहीं कर सकते थे। बाहर से मजदूरों का लाना असंभव था। करते तो क्या करते। पांचवर्ष की अवधि के लिये जिन भारतीयों को लाया गया था उनको वापिस भेजना था और यदि वे सब वापिस लौट जाते तो खेती कौन करता? अतः १८७० ई० में जो दूसरा कानून बना उसकी ५१ वीं धारा में यह बताया गया कि 'यदि भारतीय मजदूर उस धन के बदले जो भारत वर्ष लौटाने में व्यय होता वह जमीन का कोई टुकड़ा लेना चाहे तो खरीद सकता है। और उसका भूमि पर वही अधिकार होगा जो अन्य गोरे आदि लोगों का।' इस प्रकार पचांवर्ष की अवधि समाप्त करके बहुत से भारतीय स्वतंत्र प्रजा के समान दक्षिणी अफ्रीका में बस गये और न केवल स्वयं ही धनी हो गये अपितु समस्त

प्रदेश को बाग बना दिया। आजकल दक्षिणी अफ्रीका जो नन्दन-बन बना हुआ है उसमें भारतीय कौशल और भारतीय परिश्रम का बहुत बड़ा हाथ है। १८५७ ई० में उपनिवेश महामंत्री लार्ड साल्सबरी ने घोषणा की कि उपनिवेशों में बसने वाले भारतीयों के अधिकारों में कोई भेद भाव नहीं रक्खा जायगा। भारतीयों की उचित सेवाओं की प्रशंसा में नैटाल के भूतपूर्व महामंत्री सर लीज ह्यूलेट (Sir Leige Hulett) के यह वाक्य ध्यान देने योग्य है :—

The condition of the colony before the importation of Indian labour was one of gloom, it was one that then and there threatened to extinguish the vitality of the country, and it was only by the Government assisting the importation of labour that the country began at once to revive. The coast had been turned into one of the most prosperuos parts of the South Africa. They could not find in the whole of the cape and the Transvaal what could be found on the coast of Natal—10,000 acres of land in one plot and in one crop—and that was entirely due to the importation of Indians.........Durban was absolutely built up by the "Indian population".

अर्थात् भारतीयों के आगमन से पूर्व देश की दशा अन्धकार-मय थी। देश का जीवन-दीपक ही बुझ रहा था। सरकार ने भारतीय मज़दूरों को लाकर नैटाल को दक्षिणी अफ्रीका को सबसे हरा भरा देश बना दिया। केप और ट्राँसवाल में कहीं नैटाल के समान दस-दस हज़ार एकड़ के एक खेत और एक ही उपज के नहीं मिलेंगे। यह सब हिन्दुस्तानियों के कारण है। डर्बन को तो पूरा-पूरा हिन्दुस्तानियों ने बनाया है।"

इतना स्वीकार करने के पश्चात् हिन्दुस्तानियों का अधिकार

हो जाता है कि वह गोरी जातियों के समान नैतिक अधिकारों का उपयोग करें और उनको वही नागरिकता प्राप्त हो जो यूरोपियन लोगों को है। परन्तु डर्बन, नैटाल या दक्षिणी अफ्रीका के अन्य स्थानों में भेद भाव, जाति भाव, वर्ण भाव भयानक रूप से है। यूरोपियन लोगों का कहना है कि भारतवर्ष से निर्धन कुली आये और उनकी सन्तान यहाँ आकर सम्पन्न हो गई। परन्तु वे एक बात भूल जाते हैं। जब यूरोप से यूरोपियन लोग आये तो वे भी धनाढ्य न थे और न सुशिक्षित ही थे। अफ्रीका में आकर वे भी तो धनाढ्य हो गये। जानसबर्ग के सोने और किम्बर्ले की हीरे की खानें इंग्लैण्ड, फ्राँस या हालैण्ड से नहीं आईं। ह्यूगोनोट लोग फ्राँस से जान लेकर भागे थे। फोरट्रेकर लोग धन सम्पन्न न थे, उन्होंने सब ने प्रयत्न किया। भारत के लोग भी आये तो उन्होंने परिश्रम किया और अफ्रीका की उन्नति में उद्योग किया। अतः भारतीयों को नागरिक होने से क्यों रोका जाय? केवल एक ही कारण है। और उसकी भूमि अफ्रीका नहीं अपितु यूरोप है। यूरोप की गोरी जातियाँ सम्पन्न और प्रबल थीं। उनके प्राबल्य का लाभ उनके देशवासी अफ्रीका वाले भी ले रहे हैं। अफ्रीका के भारतीयों का उतना ही अधिकार होना चाहिये जितना अन्य लोगों का। क्योंकि उन्होंने परिश्रम किया है। परन्तु इस परिश्रम का पारिश्रमिक दिलाने के लिये भारत सरकार का प्रबल होना आवश्यक है।

आजकल दक्षिण अफ्रीका में तीन प्रकार के हिन्दुस्तानी हैं। वे (१) जो इंडैंचर्ड नियमों के अनुसार बुलाये गये थे (२) वे जो अवधि समाप्त होने पर स्वतंत्र कर दिये गये और जिन्होंने खेती, या व्यापार करके अपने को धन सम्पन्न बना लिया। (३) वे लोग जो स्वयं व्यापार के लिये वहाँ चले गये। पहलो

और दूसरी कोटि के भारतीय तो निमंत्रण पर आये थे। उनको प्रलोभन देकर बुलाया गया और प्रोत्साहन देकर रक्खा गया क्योंकि उनकी उपस्थिति देश की उन्नति के लिये अनिवार्य समझी गई। तीसरी कोटि के लोगों का वहाँ जाना भी असाधारण न था। यूरोप के लोग भी तो आते रहे। युहूदी भी तो आये और व्यापार करके धनाड्य बने। जानसबर्ग का युहूदी समुदाय वहीं की भूमि से तो उत्पन्न नहीं हुआ। ये भी तो उसी प्रकार बाहरी हैं जैसे भारतीय।

तत्व की बात यह है कि जब भारतवासियों ने अपने गुणों का प्रदर्शन किया और सिद्ध कर दिया कि यद्यपि हमको कुलियों की भाँति लाया गया हम कुली नहीं हैं तो यूरोपियन लोगों को इनसे स्पर्धा हुई। डच लोग भारतीयों से २५ वर्ष पूर्व आये थे और भारतीयों ने इस छोटे से समय में अपने को उतना ही उपयोगी सिद्ध किया जितना दूसरों ने। गोरों को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि भारतीय भी गुण-सम्पन्न हैं। अतः उनको भय हुआ कि भारतीय आगे बढ़ जायंगे और हम कहाँ रहेंगे। अतः उन्होंने विरोध करना आरम्भ किया। यह विरोध १८८० ई० से अधिक बढ़ गया। गोरे लोगों ने कहना आरम्भ किया कि इन कुलियों को भारतवर्ष वापिस भेज दो। वे यह नहीं सोचते थे कि यदि कोई गोरे लोगों से कहे कि तुम हालेण्ड, फ्राँस या इंग्लैण्ड वापिस चले जाओ और अफ्रीका को उसके आदि निवासी नीग्रो लोगों के लिये छोड़ दो तो वे क्या कहेंगे?

परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि कुलियों को बुलाने का तो उनको अधिकार था। परन्तु अब जब कि भारतवर्ष से वह चले आये और अपना सब कुछ छोड़ कर अफ्रीका में आ गये तो उनको निकालने का किसी को अधिकार नहीं होना चाहिये। माता पिता को भी सन्तति के उत्पादन का

अधिकार होता है। उनके मारने का नहीं। जिसको निमंत्रित किया जाता है उसके कुछ अन्तःस्थ अधिकार होते हैं। इनको भुलाया नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि १८८६ ई० में जो कमीशन बिठाई गई तो कई साक्षियों ने यह मत प्रकट किया कि यदि भारतीय न होंगे तो थोड़े ही दिनों में देश की स्थिति बिगड़ जायगी। और गोरे जातियों को भी रहना कठिन हो जायगा। इसका अर्थ तो यह है कि भारतीय रहें परन्तु कुली बन कर रहें। परिश्रम वे करें और पारिश्रमिक गोरी जातियों का हो। तब से आज तक ६४ वर्ष हो गये निरन्तर कोई न कोई कानून ऐसे बनते रहे जिनके द्वारा भारतीयों को स्वच्छन्द कार्य करने में बाधा हो। १९३६ ई० में संख्या इस प्रकार थी—

केपकालोनी में	१०,५०८	नैटाल में	१,८३,६६१
ट्रांसवाल में	२५,४९३	आरेंज कालोनी में	२९

आरेंज कालोनी में किसी भारतीय को बसने की आज्ञा नहीं है जो थोड़े से हैं वे गोआनी लोग हैं जो होटलों में काम करते हैं। ट्रंसवाल और केप में भी बहुत कठिनाइयाँ हैं। डर्बन और डर्बन के निकट में भारतीय सबसे पहले आये। अतः यहीं अधिक हैं। अब उन सबकी संख्या ३ लाख से अधिक न होगी।

हिन्दुस्तानियों के अतिरिक्त, दक्षिण अफ्रीका में एक और जाति रहती है जिसको कलर्ड (Coloured) या रंगीन जाति कहते हैं। ये लोग यूरोपियन और नीग्रो लोगों के मिश्रण से उत्पन्न हुये हैं। इनका रंग गोरा तो नहीं होता परन्तु कालों से उजला होता है। यूरोपियनो लोग इनको बीच का दर्जा देते हैं। इनको यूरोपियनों के अधिकार तो प्राप्त नहीं हैं तथापि यह अपने को उच्च समझते हैं।

केपटाउन में बहुत से मलाया मिलेंगे। यह मुसलमान हैं। और मलाया द्वीप के आये हुये हैं। इनका अधिक महत्त्व नहीं है।

दक्षिण अफ्रीका का धर्म

दक्षिण अफ्रीका के आदि नीग्रो लोगों के धार्मिक विचार आज कल के चार मुख्य धर्मों ईसाई, मुसलमान, बौद्ध तथा हिन्दुओं से कुछ भिन्न थे। परन्तु इनके साहित्य तथा लिपि के अभाव के कारण इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। धर्म के अनुसंधान करने वालों ने इस विषय में अधिक खोज नहीं की। ईसाई पादरियों के लिये केवल इतना जानना ही पर्याप्त था कि यह जंगली असभ्य और ईश्वर-ज्ञान शून्य हैं, इनको ईसाई बनाना चाहिये। मुसल्मानों ने अफ्रीका के उत्तरी भाग को मुसल्मान बनाया था और अरब सभ्यता की कुछ छाप उनके ऊपर है। नये युग में मुसल्मानी सभ्यता उन्नतशील नहीं रही, अतः इन मुसल्मानों का भी वही हाल रहा।

ईसाई पादरियों ने नीग्रो लोगों का न केवल नैतिक दमन ही किया अपितु उनको ईसाई बना डाला। उनके लिये चर्च बनाये, पादरी रक्खे, उनकी भाषाओं मे बाइबिल का अनुवाद किया। उनको अंगरेजी पढ़ाई और उनमें अंगरेजी लिपि का प्रचार किया।

यूरोपियन लोग सब ईसाई हैं। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में प्रोटेस्टेंटों की अपेक्षा रोमन काथेलिकों का प्राबल्य है। हालेण्ड चर्च भी स्थापित हैं। ईसाई धर्म के प्रचार के लिये वाई० एम० सी० ए० आदि ईसाई संस्थायें भी स्थापित हैं। बूअर लोग ईसाई थे। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका का धर्म ईसाई समझना चाहिये। परन्तु तमाशे की बात

यह है कि दक्षिण-अफ्रीका के ईसाई धर्म में जाति-भेद का प्राधान्य है। गोरे लोगों के चर्च अलग और कालों के अलग। गोरों के चर्च में कालों का क्या काम ? यूरोप के ईसाई एशिया के ईसाइयों का लाघव करते है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ईसा न गोरा था न यूरोपियन। ईसाई धर्म में जाति भेद नहीं है परन्तु दक्षिण-अफ्रीका के ईसाई जाति भेद के बड़े पक्षपाती हैं। जब रेवरेण्ड एण्ड्रूज़ का एक चर्च में व्याख्यान होने वाला था और गांधी जी उसको सुनना चाहते थे तो गोरे न होने के कारण गांधी जी को चर्च में घुसने नहीं दिया गया। इससे ऐण्ड्रूज को बुरा लगा परन्तु वह जाति भेद के प्रवाह को कम न कर सके। आज कल तो यह प्रवाह और भी भयङ्कर हो गया है।

जानस बर्ग आदि में बहुत से युहूदी हैं, हैं तो यह एशिया के परन्तु हैं गोरे। अतः उनको यूरोपियनों के अधिकार प्राप्त है।

हिन्दुस्तान के लोगों में कुछ तो मुसलमान हैं। ट्रांसवाल में आगाखानी बहुत हैं। यह धनाड्य हैं। गुजराती मुसलमानों की भी बहुत बड़ी संख्या है। शेष हिन्दू हैं। इनका धर्म प्रायः वही है जो भारतीय हिन्दू लोगों का है। परन्तु इनमें हिन्दू धर्म का ज्ञान बहुत कम है। खान पान आचार व्यवहार में यह ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित हैं। 'मद्रास के तामिल लोगों में तो बहुत से ईसाई हो गये हैं और अब भी होते जा रहे हैं; क्योंकि ईसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की शिक्षा का अभाव है, कहीं कहीं हिन्दू मन्दिर और हिन्दू पुरोहितों का प्रभाव मिलेगा परन्तु वे रूढ़ियों के दास हैं। उनके विचार संकुचित हैं। अतः युवकों पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। युवकों

की भावनायें हिन्दू धर्म के विपरीत हैं। आर्य समाज ने कुछ कार्य आरम्भ किया है। इसका वर्णन हम अलग से करेंगे।

हिन्दू लोग अपने मुर्दों को ईसाई मुसलमानों के समान दफन करते हैं। क्योंकि हर स्थान पर शव-दाह की आज्ञा नहीं हैं। परन्तु जानस बर्ग, डर्बन, प्रीटोरिया, पीटर्मेरिट्ज़ बर्ग आदि में शवदाह के लिये अलग स्थान नियत हैं। इनमें मुर्दे भी जलाये जाते हैं और दफन भी किये जाते हैं। कहीं कहीं यूरोपियन लोगों के मुर्दों के जलाने के लिये भी सुविधायें हैं और यदि कोई यूरोपियन चाहे कि मरने के पश्चात् उसका शव जलाया जाय तो उसके लिये प्रबन्ध हो सकता है।

कुछ व्याख्यानों के विषय में--

गत तीन अध्यायों में अफ्रीका के विषय में कुछ संक्षिप्त वृत्त पढ़कर पाठकगण समझ सकेंगे कि वहाँ की परिस्थिति से मेरे व्याख्यानों का क्या सम्बन्ध है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि व्याख्यानों के विषयों के निर्वाचन मैं स्वयं नहीं करता था। सभाओं के संचालकों को खुली स्वतन्त्रता दे रक्खी थी कि वे अपने अभिरुचि से परामर्श लें। इससे श्रोतागण की मनोवृत्ति का भी पता चलता है और व्याख्यान एकाङ्गी नहीं होते। मुझे कुछ समय पहले विषयों का पता चल जाता था। आर्य्य समाज की दृष्टि से उन विषयों पर क्या कहा जा सकता है इसका निश्चय करना मेरा काम था। मैं प्रातःकाल नित्य लगभग १०० मिनिट अकेला घूमने जाया करता और प्रायः व्याख्यानों की रूप-रेखा भ्रमण में ही निर्माण की जाती थी। आकर अवकाश और आवश्यकतानुसार कुछ संकेत भी लेखबद्ध करता था। उनमें तात्कालिक प्रसङ्ग, सभापति या अन्य परिचय देने वालों के प्राक्कथन तथा विस्मृति के कारण बहुत से परिवर्तन भी हो जाया करते थे। मेरी स्मृति आटा चालने की चलनी की भांति छिद्रमयी है। अतः यह कहना कठिन है कि मैंने क्या कहा और क्या नहीं कहा। कुछ अंश तो पत्रकारों के द्वारा सुरक्षित कर दिये गये। उनमें से भी सब मेरे पास नहीं हैं। परन्तु मेरा दृष्टिकोण विशेष था। उसी पर मैंने बल दिया। प्रायः लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि प्रत्येक छोटे बड़े विषय में ऋषि दयानन्द और आर्य्य समाज

का एक विशेष दृष्टिकोण हैं। जिन्होंने आर्य समाज के सिद्धान्तों का गांभीर्यपूर्ण परिशीलन नहीं किया उनके लिये यह समझना कठिन है। वे समझते हैं कि जैसे ईसाई या मुसल्मान आस्तिक और ईश्वर विश्वासी हैं वैसे आर्य समाजी भी हैं। अथवा जैसे सनातन-धर्मी वेदों पर विश्वास रखते हैं वैसा ही आर्य्य समाजी भी। इसलिये प्रायः वक्तताओं और लेखों में गोल-मोल-पना आ जाता है। मैंने यथाशक्ति इससे बचने का यत्न किया।

एक बात मुझे विशेष रूप से स्मरण है। जब कभी किसी अंगरेज़ या यूरोपियन को सभापति होने का अवसर आया तो विना उपवाद के प्रायः सभी ने पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन पर बल दिया। सब ने कहा कि व्याख्याता पूर्व से आये हैं। पूर्वी दृष्टिकोण को रक्खेंगे या पूर्वी दर्शन की व्याख्या करेंगे। इत्यादि। मैंने भी प्रायः सभी अवसरों पर इस कथन पर छोटी सी टिप्पणी अवश्य की। मेरे कहने का साराँश यह था कि पूर्व और पश्चिम का भेद मेरी समझ में नहीं आता। पूर्व और पश्चिम सापेक्षिक शब्द हैं। अफ्रीका भारत की अपेक्षा पश्चिम है और अमेरिका की अपेक्षा पूर्व। जहाँ मैं खड़ा हूँ वह स्थान पूर्व भी है और पश्चिम भी। इसलिये दर्शन-शास्त्र, समाज-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, विज्ञान अथवा आध्यात्म विद्या के पाश्चात्य और पौरस्त्य दो भाग करना सर्वथा अन्याय पूर्ण है। वेदों, शास्त्रों आदि में इस प्रकार का विभाजन नहीं किया गया। ईस्ट, और 'वैस्ट' या पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन पर बल देने से विभाजन की प्रवृत्ति बढ़ती है और एकता के स्थान में भेद भाव बना रहता है। यह ऐसा ही है जैसे किसी कपड़े को पहले फाड़कर फिर सी दिया जाय। वह सीवन उन फटे टुकड़ों को जोड़ती तो है परन्तु जोड़ सदा व्यक्त रहता है और उन टुकड़ों

के द्वित्व का सदा स्मरण कराता रहता है। जब हम आध्यात्म या दर्शन पर बात करें तो हमको भूल जाना चाहिये कि हम पूर्वी हैं या पश्चिमी। प्रकृति या ईश्वर की दृष्टि में यह भेदभाव नहीं और इस भेद भाव पर बल देने से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। एक बार मुझे (३० जनवरी को) गाँधी पुस्तकालय में महात्मा गाँधी जी की जीवनी पर व्याख्यान देना पड़ा। उसमें मैंने इसी आशय को व्यक्त करने की चेष्टा की। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-स्थापना में हमारे उच्चवर्गीयं नेताओं को जो दुर्भाग्यपूर्ण वैफल्य हुआ उसका भी यही कारण है :—

मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की।

हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का आधार प्राकृतिक न्याय, सत्य या धर्म नहीं है परन्तु कल्पित द्वित्व का एकीकरण है। इस एकीकरण की आधार शिला है द्वित्व। पहले तो कपड़े को फाड़ डाला। अब सीने बैठते हैं। यह सीवन जहाँ ऊपरी संयोग का काम करती है वहाँ मानसिक वियोग पर भी बल देती है। जब हिन्दू और मुस्लिम अपने को समानतया मनुष्य समझ कर आरंभ करेंगे तो सब गुत्थियां अनायास ही खुल जायंगी। हिन्दू-सत्य और मुसल्मान-सत्य, हिन्दू-न्याय और मुसल्मान-न्याय, हिन्दू-आस्तिकता और मुसल्मान-आस्तिकता, हिन्दू-स्वास्थ्य और मुसल्मान-स्वास्थ्य को अलग-अलग मान कर फिर उनका सम्मिश्रण या सम्मिलन सर्वथा दुस्तर है। इससे साम्प्रदायिकता बढ़ती है, घटती नहीं। महात्मा गोखले कहा करते थे कि त्रिभुज की दो भुजायें मिलकर तीसरे से बड़ी होती हैं। अंगरेज, मुसल्मान और हिन्दू भारतीय त्रिभुज की तीन भुजायें हैं। मुसल्मान जिसके साथ होंगे वही बड़ी हो जायगी। मेरी समझ में यह भयानक हेत्वाभास है।

महात्मा गांधी के आगमन से पूर्व काँग्रेस के मस्तिष्क पर इस हेत्वाभास का पूर्ण आधिपत्य था। महात्मा गाँधी ने भी इस हेत्वाभास को दूर नहीं किया और एक ऐसी समस्या के समाधान में लगे रहे जिसका आधार था यही हेत्वाभास, और जिसके कारण उनको सदा वैफल्य का सामना करना पड़ा। अन्यथा इस एक बात को छोड़कर महात्मा गाँधी को अपने उद्देश्य में जो सफलता मिली वह शायद ही किसी नेता को अपने जीवन काल में प्राप्त हुई हो। यदि यह एक हेत्वाभास न होता तो भारतीय मोती में वह बाल न आता जिसके कारण उसके मूल्य में बहुत न्यूनता आगई है। जहाँ तक मुझे प्रतीत होता है मेरे इस कथन की सत्यता से श्रोतागण ने साहमत्य प्रदर्शित किया। क्योंकि एतद्विषयक वैफल्य का कटु अनुभव कांग्रेस के भीतर और बाहर सब को हुआ है। और इस समस्या की जटिलता अब तक सुलझने में नहीं आती। भारतवर्ष के नैतिक गगन-मण्डल पर जो आपत्ति के बादल मंडलाते रहते हैं उनका मुख्य कारण यही हेत्वाभास है। वर्तमान युग में ऋषि दयानन्द की एक मात्र देन यह है कि किसी समस्या को साम्प्रदायिक दृष्टि से मत देखो। सत्यता की दृष्टि से देखो।

उत्तरी नैटाल का भ्रमण

१९ जनवरी को विशेष व्याख्यान माला का अन्तिम व्याख्यान था। इसी बीच में यह सोचा गया कि नैटाल के अन्य नगरों में भी अन्दोलन होना चाहिये। इसके सम्बन्ध में सब प्रमुख स्थानों से कुछ दिन पूर्व ही पत्र व्यवहार आरम्भ कर दिया गया था। डर्बन में भी समय समय पर बाहर के लोग आते रहे और व्याख्यानों में सम्मिलित होने के अतिरिक्त मुझसे भेंट भी करते रहे। कई स्थानों से यह प्रेरणा की गई कि मैं वहाँ जाऊँ और आर्य्य समाज के प्रचार में यथाशक्ति सहयोग दूँ।

भ्रमण का प्रबन्ध इस प्रकार किया गया कि श्री स्वामी भवानीदयाल जी के दामाद श्री मगन लाल जी ने अपनी मोटर-कार इस काम के लिये प्रदान की और श्री पं० जगमोहन जी विद्यारत्न को जो पीटर्मेरिट्ज़ बर्ग में एक पाठशाला में अध्यापक हैं तथा अच्छे उपदेशक हैं कुछ दिनों का अवकाश दिलाया गया जिससे वे निरन्तर मेरे साथ रह सकें और भ्रमण को सफल बनाने में सहायक हों।

श्री पं० जगमोहन जी का जन्म तो दक्षिण अफ्रीका के विरूलम नामक ग्राम में ही हुआ था। परन्तु वे पीछे से भारतवर्ष चले गये और चार या पांच वर्ष तक ब्रह्ममहाविद्यालय लाहोर में उपदेशक कक्षा में शिक्षा पाते रहे। श्री जगमोहन जी हिन्दी भाषा के प्रेमी, आर्य्य समाज के परम श्रद्धालु और उच्चकोटि के विचारशील सज्जन हैं। यदि यह निरंतर मेरे साथ न

रहते तो संभवतः उत्तरी नैटाल के भ्रमण में मुझे जो सफलता मिली वह न मिल सकती।

हम लोगों ने २१ जनवरी को ११½ बजे दोपहर के डर्बन से प्रस्थान किया। और १½ बजे के लगभग पीटर्मैरिट्ज बर्ग पहुँचे। श्री एफ० सत्यपाल जी के घर पर (नं०१३४, ईस्ट स्ट्रीट में) भोजन तथा कुछ विश्राम करने के पश्चात् एस्टकोर्ट को चल दिये। डर्बन से पीटर्मैरिट्ज़ बर्ग ५५ मील है। और पीटर्मैरिट्ज़ बर्ग से एस्टकोर्ट ८० मील। हम लोग एस्टकोर्ट पहुँचे तो संध्याकाल होगया था। मोटरकार में यात्रा करने का एक लाभ यह था कि मार्ग के सुन्दर दृश्य देखने को मिलते थे। यह ८० मील की यात्रा बड़ी सुहावनी थी। ऋतु अनुकूल था। हम सूई रिवर अर्थात् सुन्दर नदी के किनारे किनारे आये। 'सूई' वहाँ की भाषा में 'सुन्दर' को कहते हैं। नदी वस्तुतः सुन्दर है। बीच में एक बहुत सुन्दर झरना है जिसको हाविक वाटर फाल कहते हैं।

एस्टकोर्ट यूरोपियन लोगों की बस्ती है। केवल ७०० भारतीय होंगे। यह सब बहुत अच्छी स्थिति के नहीं हैं। एक साधारण सा हिन्दी स्कूल भी है। यहाँ आर्यसमाज नहीं है और आर्य समाजी विचारों के लोग भी नहीं हैं। किसी समय 'वेद समाज' नामी संस्था खोली गई थी। वह ढीली-ढीली है। कहते हैं मुझ से पहले किसी भारतीय व्याख्याता ने वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं समझी। मेरा व्याख्यान २२ ता० को होना था। व्याख्यान कराने के लिये कोई संचालक उत्सुक न थे। साधारण हिन्दू चाहे वेद समाज भले ही खोल ले उसके हृदय में वेद प्रचार के लिये उत्साह नहीं होता। मैं श्री कुँवर जी के घर पर ठहरा। यह बड़े अच्छे सज्जन हैं। परन्तु इनका न तो वेद समाज से सम्बन्ध था न आर्य समाज से। यह व्यापार करते हैं। इन्होंने मेरा बड़ा अच्छा आतिथ्य किया। मेरे व्याख्यान का भार था

वेद समाज के मंत्री तथा प्रधान पर। श्री कुँवरजी को यह बात ज्ञात न थी कि वे लोग क्या प्रबन्ध कर रहे हैं। अकस्मात् पं० जगमोहन जी को कुछ काम था। अतः वे २१ तारीख को मुझे कुँवर जी के मकान पर छोड़ कर लौट गये। मैं किसी को जानता न था। श्री कुँवर जी ने जब २२ तारीख को प्रातःकाल व्याख्यान की कोई तैयारी न देखी तो उनको बुरा लगा। वे असमंजस में पड़ गये। यदि उन्हीं के ऊपर व्याख्यान का भार होता तो शायद वे उत्तम रीति से प्रबन्ध कर देते। उनके ऊपर तो केवल आतिथ्य का भार था। वह उन्होंने भली प्रकार निबाहा। व्याख्यान होना था १० बजे दोपहर के। ८ से अधिक बज चुके थे। ९ बजे बाद कुछ लोग आये और हम लोग कुँवर जी के साथ व्याख्यान स्थल को चल पड़े। येन केन प्रकारेण एक स्कूल के कमरे में मेरा व्याख्यान हुआ। जनता अत्यन्त अल्प थी। एक ईसाई सज्जन भी उपस्थित थे। उनका नाम मैं भूल गया हूँ। शायद मिस्टर आगस्तायन नाम था। उनको मीटिंग का ठंडापन पसन्द न आया। भारतीय होने के नाते उन्होंने मीटिंग को सफल बनाने में बहुत कोशिश की और मीटिंग के पश्चात् उन्हीं के परिश्रम से एक और छोटी सी मीटिंग हुई जिसमें २६ जनवरी को स्वतंत्रता दिवस मनाने के लिये योजना तैयार की गई।

उसी दिन अर्थात् २२ जनवरी को रात के आठ बजे लेडीस्मिथ में विशेष व्याख्यान की योजना थी। लेडीस्मिथ आर्यसमाज के प्रधान श्री शिवगोलाम जी और श्री पं० जगमोहन जी ४ बजे सायंकाल के लगभग एस्टकोर्ट में आये और मैं उनके साथ लेडीस्मिथ को रवाना हो गया। लगभग १५ मील की दूर पर कोलेंजो (Collenso) नामक छोटा सा सुन्दर ग्राम है। वहाँ पर पहुँचे तो देखा कि लेडीस्मिथ आर्य समाज के एक

प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री विट्ठललाला जी अपनी कार लेकर पहले से ही मेरे स्वागत के लिये कोलेंज़ो आ गये थे। लगभग ५½ बजे लेडीस्मिथ पहुँचे। यहाँ आर्य समाज है और गतकाल में यहाँ आर्यसमाज की प्रगति अच्छी रह चुकी है। यहाँ की समाज के एक बड़े उत्साही कार्यकर्ता श्री रघुनाथ जी थे। उनका अब देहान्त हो गया है। उनकी संतान श्री धर्मराज आदि अपने पिता के पदचिह्नों पर चलने का यत्न करते हैं। मैं उनसे मिला तो उन्होंने आदर सत्कार किया। मैं श्री विट्ठललाला के घर पर ठहरा था। यह सज्जन बड़े उत्साही और प्रेमी आर्य्य हैं। मुझसे कहने लगे, "उपाध्याय जी आप यह न समझिये कि आप हमारे लिये कुछ नये हैं। हमने आपकी शकल न देखी हो यह दूसरी बात है। परन्तु हम आपके नाम और काम से भली भांति परिचित हैं। देखिये ! हमने आपके अंगरेजी के ट्रैक्ट लग-भग २० वर्ष हुये क्रय किये थे। अब तक मेरे पास हैं"। उन्होंने मुझे वह पुराने ट्रैक्ट दिखाये जो आर्य्य समाज चौक इलाहाबाद की ओर से २० वर्ष पूर्व निकाले गये थे।

८ बजे सायंकाल को एक मुसल्मानों द्वारा संचालित थियेटर में व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया। हाल पूरा भरा हुआ था। पहले यह प्रश्न उठा कि व्याख्यान हिन्दी में हो या अंगरेज़ी में। दोनों प्रक्ष प्रबल थे। राष्ट्र-भाषा के लिये इतना प्रेम देखकर मैंने निश्चय किया कि हिन्दी में बोलना चाहिये। परन्तु एक घन्टे के व्याख्यान के पश्चात् यह प्रकट किया गया कि लोग हिन्दी से प्रेम रखते हैं परन्तु हिन्दी के व्याख्यान समझने में असमर्थ हैं। अतः मुझसे कहा गया गया कि अब आप अंगरेज़ी में इसका भावार्थ कहिये। यदि कोई और सज्जन अंगरेजी में भावार्थ कह देते तो ठीक था। मेरे लिये यह कठिन था। पहले हिन्दी में व्याख्यान दूँ और फिर अंगरेज़ी में

उसी का सरांश कहूँ, अतः मैंने इनकार कर दिया। परन्तु श्रोताओं के लिये एक चीज़ मनोरंजक हो गई। कुछ लोगों ने प्रश्न पूछने की आज्ञा चाही। मैंने स्वीकार कर लिया। प्रश्न पूछे गये अंगरेज़ी में और अंगरेजी में ही मैंने उत्तर भी दिया। इस प्रकार पूरा एक घन्टे तक शंका समाधान होता रहा। इसमें अधिकतर प्रश्न सनातन धर्म सभा के प्रधान की ओर से हुये थे। यह सज्जन एक होनहार भद्र युवक हैं। इनको धार्मिक उहापोह से भी प्रेम है। मीटिंग सफलता पूर्वक समाप्त हुई।

दूसरे दिन हम लोगों ने लेडीस्मिथ के अन्य सज्जनों से भेंट की। लेडीस्मिथ उत्तरी नैटाल का एक मुख्य नगर है। बूअर युद्ध में यहाँ बूअरों और अंगरेज़ों से युद्ध हुआ था। बूअर-युद्ध के इतिहास में लेडीस्मिथ का मुख्य स्थान है। यह क्लिप नदी के तट पर बसा हुआ है। जिन लोगों से भेंट की उनमें पादरी ग्रीनवुड का नाम उल्लेखनीय है। यह अभी लंका से बदल कर लेडीस्मिथ आये हैं। मैंने उनसे पूछा "क्या आप ने आर्य्य समाज या स्वामी दयानन्द का नाम सुना है?" उन्होंने कहा "मैंने कभी नहीं सुना" तब मैंने उनको आर्य्य समाज के विषय में कुछ संक्षिप्त बातें बताई। श्री पादरी ग्रीनवुड से बातें करते हुये मैंने अनुभव किया कि आर्य्यसमाज की सबसे बड़ी निर्बलता है इसके साहित्य का अभाव। और इससे भी बड़ी निर्बलता है आर्य्य समाज के सदस्यों में साहित्य-वृद्धि के लिये उपेक्षा।

२३ जनवरी को रात का व्याख्यान था न्यूकास्ल में। हम लोग ११ बजे लेडीस्मिथ से चलकर १ बजे के लगभग डनहौज़र (Danhauser) आये। यहाँ आर्यसमाज है। मंत्री हैं श्री बलिराम गुरुदीन और प्रधान श्री रामसूरत पाठक। श्री पाठक जी के घर भोजन किया और कुछ विश्राम करके सायंकाल को

न्यूकास्ल आ गये और श्री जार्जएलरी के घर पर ठहरे। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि यह सज्जन हिन्दू हैं। नाम से ईसाई प्रतीत होते हैं। रहन सहन तो सबका पाश्चात्य ढंग का ही है। ईसाई धर्म का लोगों पर इतना प्रभाव है कि अंगरेज़ी नाम ही पसन्द किये जाते हैं और यदि हिन्दू नाम भी होते हैं तो तोड़ मरोड़ कर अंगरेजी बना लिये जाते हैं। यहाँ आर्यसमाज नहीं है। परन्तु हिन्दू सभा जैसी एक छोटी सी संस्था है। रात को व्याख्यान हुआ। २४ तारीख़ को प्रातःकाल श्री एन० के० सिंह के साथ एक यूरोपियन महोदय विलियम हैम्पसन (William Hampsan) से मिलने गये। हैम्पसन साहेब उन लोगों में से हैं जो भारतीयों से प्रेम करते हैं और अंगरेजों के किये गये अत्याचारों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाते रहते हैं। भारतीय लोग इनको अच्छा समझते हैं। इन्होंने बहुत देर तक बातचीत की और चाय पिलाई।

वहाँ से चलकर हम न्यूकास्ल की ईसाई काथोलिकों की ननरी (Nunnery) देखने गये। ननरी नाम है उस स्थान का जहाँ ईसाई साधुनियाँ रहतीं और कुछ साधना करती हैं। यह भी ईसाई धर्म के प्रचार का एक ढंग है। मठ क्या था एक विशाल भवन था। वहाँ की मुख्य साधनी (आचार्या) ने समस्त मठ दिखाया। एक बड़ा हाल था जिसमें कुर्सियाँ सजी हुई थीं। वहाँ दो चार कुर्सियों पर बैठी हुई और डैस्कों पर माथा टेके हुये कुछ साधनियाँ साधना कर रही थीं।

न्यूकास्ल से थोड़ी दूर पर ड्रेकन बर्ग पहाड़ के नीचे इनकेनडू (Incandu) नदी के बांध बनाकर खेती के लिये पानी की धार निकाली गई है। यह सुन्दर स्थान है। हम लोग दोपहर को न्यूकास्ल से चल दिये क्योंकि २४ जनवरी को रात के समय डनहौज़र में व्याख्यान का विज्ञापन निकल चुका था। रात को

डनहौज़र के हाल में व्याख्यान हुआ। शंका समाधान भी हुआ। मैंने आर्य्यसमाज के प्रधान जी को संकेत किया था कि मेरे व्याख्यान में अफ्रीका के नीग्रो लोगों को बुलाने का विशेष प्रबन्ध कीजिये। व्याख्यान अंगरेजी में रक्खा गया था और बहुत से पढ़े लिखे नीग्रो लोग अंगरेज़ी समझते हैं। उन्होंने यत्न भी किया परन्तु श्रोताओं में काले आदमियों की न्यूनता थी। जब व्याख्यान समाप्त हो गया तो नीग्रो पादरी मुझे मिलने मंच पर आया और शिष्टाचार की कुछ बातें हुईं। प्रायः वहाँ यह यत्न किया जाता है कि नीग्रो लोग ईसाइयों के अतिरिक्त अन्य लोगों के सम्पर्क में न आवें। नीग्रो बस्तियों मे अन्य लोग जाकर व्याख्यान भी नहीं दे सकते।

२५ जनवरी को डनहौज़र से १८ मील की दूरी पर डंडी आये। और श्री नाथू भाई के यहाँ ठहरे। दोपहर को श्री नाथू-भाई ने एक सहभोज की पहले से ही योजना की हुई थी। २½ बजे गवर्मेंण्ट इण्डियन स्कूल में व्याख्यान हुआ। तदुपरान्त निश्चित कर्म के अनुसार वहाँ के डच मजिस्ट्रेट फेडर मुई (Vader Mui) से भेंट हुई। यह एक अफ्रीकेनर हैं। भेंट केवल शिष्टाचार सम्बन्धी थी। फिर डंडी के मेअर मैकार्डी से मिले। मैकार्डी से देर तक सांस्कृतिक तथा सामाजिक विषयों पर बात चीत होती रही। साम्प्रदायिक भेद के विषय पर भी कुछ बातें हुईं। उस दिन सूर्यास्त के पश्चात् ही बहुत वर्षा होने लगी और ऐसा प्रतीत हुआ कि सभा का होना असम्भव है। परन्तु हम लोगों के हाल में पहुँचने पर पर्याप्त जनता आ गई। व्याख्यान समाप्त होते ही हम लोग फिर डनहौज़र लौट आये और श्री रामसुन्दर पाठक के घर पर विश्राम किया। क्योंकि २६ जनवरी को हमारा कार्यक्रम डन हौजर में था।

२७ और २८ जनवरी ग्लैनको (Glenco) के लिये नियत किये

गये थे। वहाँ श्री के० गङ्गादीन जी के यहाँ ठहरे। ग्लैनको में दो व्याख्यान हुये। एक २७ जनवरी को अंगरेज़ी में और एक २८ जनवरी को हिन्दी में। ग्लैनको में २८ जनवरी को स्त्री आर्य समाज की संस्थापना हुई।

२८ जनवरी की रात को श्री रामसुन्दर पाठक के साथ-साथ डनहौजर होते हुये लेडीस्मिथ आ गये। वहाँ के प्रधान श्री शिवगोलाम जी को पहले से सूचना दे दी गई थी। लेडीस्मिथ में केवल एक रात ठहरने का प्रोग्राम था। व्याख्यान का नहीं परन्तु पहले से सूचना मिलने के कारण कुछ सनातन धर्मी युवक निवास स्थान पर आगये और लगभग आधी रात तक भिन्न-भिन्न विषयों पर वर्तालाप होता रहा।

२९ जनवरी को डर्बन पहुँचना था। अतः दोपहार के समय पीटर्मेरिट्ज़बर्ग पहुँचे और रात्रि को ८ बजे के लगभग डर्बन आ गये।

उत्तर नैटाल में इस प्रकार आठ व्याख्यान हुयेः— एस्टकोर्ट में १, लेडीस्मिथ में १, न्यूकास्ल में १, डन हौज़र में २, डंडी में १, ग्लैनको में २।

इसके पश्चात् मिड-लैण्ड अर्थात् मध्यनैटाल के भ्रमण का आयोजन था। परन्तु ३० जनवरी को गाँधी दिवस के अवसर पर मुझे डर्बन में व्याख्यान देने के लिये बुलाया गया। ३० जनवरी को गाँधी लाइब्रेरी में व्याख्यान हुआ। ३१ जनवरी को मध्य नैटाल के लिये चल दिया।

छब्बीस जनवरी

भारतवर्ष के भावी इतिहास में १९५० की छब्बीस जनवरी का दिन चिरस्मरणीय रहेगा। यह वह शुभ दिवस था जब भारतीय शासन का नया विधान पूर्ण होकर कार्य स्वरूप में परिणत किया गया। ब्रिटिश शासन काल में भारतीयों की माँग यह थी कि जनता का शासन जनता की ओर से और जनता के हित में होना चाहिये (Government of the people, by the people, and for the people)। जब भारत अंगरेजी दासता से मुक्त हुआ तो उसने इस आदर्श को अपने समीक्ष रक्खा और नेतागण १५ अगस्त १९४७ से लेकर २६ जनवरी १९५० तक शासन के इसी रूप को संघटित करने तथा विरोधी शक्तियों को दमन करने और विशाल विधान निर्माण करने में लगे रहे।

दासता से मुक्ति सुगम है परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति कठिन है। प्रायः देखा गया है कि जब देश एक स्वामी के पंजे से छूटता है तो दूसरे स्वामी के हाथ में पड़ जाता है। भारतवर्ष की लगभग दो सहस्र वर्षों से यही दशा रही है। एक पाश से छुटकारा मिलता है तो दूसरा पाश आ उपस्थित होता है।

बहुत से भारतीय और विदेशीय लोगों का अनुमान था कि १५ अगस्त १९४७ के पश्चात् भी भारतवर्ष की वही दशा होगी। यह अनुमान किसी-किसी को आशा के रूप में था और किसी-किसी को भय के रूप में। जो स्वार्थ सिद्धि में रत थे वह यह प्रतीक्षा कर रहे थे कि अंगरेजों के भारत छोड़ते ही देश में साम्प्रदायिक दङ्गों की अग्नि प्रज्वलित हो उठेगी और

लोग स्वतंत्रता के कड़वे भोजन को पचाने में सर्वथा असमर्थ होंगे। बाहर वालों को यह आशा थी कि विद्रोह होते ही हम को फिर बुलाया जायगा और हम भारतीय प्रजा पर पहले की अपेक्षा अधिक कठोर शासन का गद्दा कस सकेंगे। भारतवर्ष में भी ऐसे लोगों की कमी न थी जो अपना अवसर ताक रहे थे। किसी समय उनका नक्षत्र चमक चुका था। अब वे अपने दुर्भाग्य के दिन गिन रहे थे। ब्रिटिश शासन में उनके उच्छृङ्खल बल को दबा दिया गया था। ज्यों ही अंगरेजी सरकार की ओर से घोषणा हुई कि अगस्त को वह सब सन्धियां समाप्त समझी जायँगी जो समय-समय पर देशी शासकों और ब्रिटिश सरकार के मध्य में होती रहीं, उस समय बहुत से लोगों की तो बाछें खिल गईं। उन्होंने सोचा कि अब तलवार के जोर से एक एक का बदला लिया जायगा। कुछ साम्प्रदायिक लोग भी थे। वह सोचते कि जब भारत के सिर से अंगरेजी शासन का पाट उठ जायगा तो जिसकी उसकी लाठी भैंस होगी। अतः उन्होंने अपनी लाठी का प्रदर्शन आरम्भ कर दिया था। बल ही अधिकार है (might is right) का सिद्धान्त लोगों को शीघ्र ही ललचा लेता है। परन्तु भारतवर्ष के भाग्य का सूर्य उदय होता प्रतीत होता है। १८५७ ई० की भूलें १९४७ ई० में नहीं हुईं। और यदि एक दो दुर्घटनायें हुईं भी तो उनको शीघ्र दबा दिया गया। महात्मा गांधी और कांग्रेसी नेताओं का प्रभाव जमा रहा। और देश में आन्तरिक अशान्ति कम रही। इससे इन दो ढाई वर्षों में शासन सुदृढ हो गया और उदारतम संविधान निर्मित हो सका। जब हम देखते हैं कि पाकिस्तान का संविधान ७ वर्ष में भी नहीं बन पाया तो हमको साम्प्रदायिकता के दोष स्पष्ट दीख पड़ते हैं।

जब २६ जनवरी निकट आई और गणतंत्र-शासन की

घोषणा की गई तो भारतीयों की प्रसन्नता का समुद्र उमड़ पड़ा। जैसे पूर्णचन्द्र को पूर्णमासी की रात को देखकर समुद्र में विशेष ज्वार-भाटा आता है उसी प्रकार स्वतंत्रता के चन्द्र की विशेष प्रभा से प्रभावित भारतीय लोगों के हृदय प्रफुल्लित थे।

मैं उस समय अफ्रीका में था। मैंने देखा कि प्रवासी भारतीयों के आनन्द की सीमा न थी। जो भारतीय अपने ही देश में थे उनके आनन्द को परिमित करने के कारण हो सकते थे। राजनीतिक दल बन्दियों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा करता है और जनता को शासन के विरुद्ध असन्तोष का कारण सुगमता से मिल जाता है। परन्तु प्रवासियों के समक्ष यह प्रश्न नहीं था। उनको गुलाब की सुन्दर पत्तियाँ ही दृष्ट पड़ती थीं। काँटों का उनके सामने कोई प्रश्न न था। महात्मा गाँधी, महामंत्री जवाहर लाल, सरदार पटेल इन सबके गुण उनके सामने थे। उनके लिये इन सज्जनों के साथ मत भेद तक का प्रसङ्ग न था। अतः विदेश में प्रवासी भारतीयों के उत्साह की सीमा न रही। प्रत्येक छोटे बड़े भारतीय के मन में आया कि इस आनन्दोत्सव को बड़े उत्साह से मनाना चाहिये।

डर्बन की इण्डियन काँग्रेस ने २६ जनवरी को मनाने की विशेष योजना की और निश्चय किया कि इस अवसर पर एक बड़ा सहभोज दिया जाय। परन्तु सहभोज के सम्बन्ध में एक अवांच्छनीय वादविवाद खड़ा हो गया। प्रश्न यह उठा कि सहभोज सर्वथा निरामिष हो या सामिष। अर्थात् क्या भोज में माँस खाने वालों के लिये माँस परोसा जाय या नहीं। एक पक्ष कहता था कि भारतीय शासन का मूल मंत्र हैं अहिंसा। और माँस विना हिंसा के प्राप्त हो नहीं सकता। अतः सार्वजनिक भोजों में माँस का परित्याग करना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता था कि महात्मा-

गांधी इतने उदार थे कि वे मांस-भक्षण करने वालों से भी प्रेम करते थे और उन्होंने कहाँ लिखा कि सार्वजनिक भोजों में माँस का प्रयोग नहीं करना चाहिये। मांस खाना फैशन है और जब हम माँसहारियों को निमंत्रित करते हैं तो उनकी प्रकृति के अनुकूल भोजन क्यों न दें। निरामिष पक्ष का कथन था कि महात्मा गाँधी माँस नहीं खाते थे। वे मांस का खण्डन भी करते थे। वे केवल बलात्कार माँस-निषेध के विरुद्ध थे। उनका सिद्धान्त था कि अहिंसा की जय होती है। दूसरी बात यह कि जो मांस खाते हैं वे भी निरामिष भोजन से घृणा तो नहीं करते। इसलिये यदि वह निरामिष भोजियों को सहयोग प्रप्ति के हेतु एक दिन मांस पर आग्रह न करेंगे तो उनका कुछ बिगड़ेगा नहीं। यह वादविवाद आरंभ में तो छोटा सा ही था परन्तु आगे वहुत बढ़ गया और काँग्रेसी नेतागण इस उलझन को बुद्धिमत्ता से सुलझा न सके। न्याय की बात तो यह है कि यदि भारतीय संस्कृति और वर्तमान भारतीय शासन की आधार शिला गाँधी जी के अहिंसा सिद्धान्त पर निर्भर है तो केवल अहिंसा-अहिंसा की रट लगाने से तो काम नहीं चलेगा। अहिंसा का पौधा उस भूमि में उग ही नहीं सकता जिसमें नित्य लाखों पशु केवल पेट पूजा के लिये ही मारे जाते हों। महात्मा गाँधी के अनुयायियों को इस पर विचार करना चाहिये।

यह वाद विवाद कई सप्ताह तक जोरों से चला और समाचार पत्र भी इस दल से न बच सके। मैंने डर्बन २० जनवरी को छोड़ा। उस समय यह वादविवाद बड़े प्राबल्य के साथ चल रहा था। मैंने सुना कि यद्यपि सहभोज हुआ और उसमें माँस भी दिया गया परन्तु बहुत से सज्जनों ने इसमें भाग नहीं लिया और अपने आनन्दोत्सव को अन्यथा मनाने के लिये उन्होंने विशेष चन्दा करके गरीबों को अन्न आदि खाद्य वस्तुयें बाँटीं। परन्तु

सहभोज की सफलता या विफलता का आन्दोत्सव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्द सबने मनाया और डर्बन को छोड़कर अन्यत्र ऐसा प्रसङ्ग भी नहीं उठा।

इस सप्ताह भर मैं उत्तरी नैटाल में रहा। वहाँ समस्त भारतीय जनता में उत्साह था। २१ तारीख को एस्टकोर्ट में छब्बीस तारीख के उत्सव के लिये जो कार्य कारिणी बनाई गई उसमें मैं भी सम्मिलित था। २६ तारीख को मैं डनहौज़र में था। वहाँ उत्सव बड़ा सफल रहा। दो स्थानों से आर्य भाइयों ने मुझे बुलाया और इस उत्सव के उपलक्ष में हवन कराया। बहुत सी हिन्दू देवियाँ एक मन्दिर में इकट्ठी हुईं और उस दिन स्त्री आर्य समाज डनहौज़र की स्थापना की गई। २९ जनवरी को जब मैं लेडीस्मिथ से पीटर्मेरिट्ज़बर्ग आ रहा था मैंने एस्टकोर्ट में बड़ा समारोह देखा। उस दिन रविवार था। कुछ स्थानों पर छब्बीस जनवरी का उत्सव २९ को मनाया गया जिससे रविवार का लाभ उठाया जाय। पीटर्मेरिट्ज़ बर्ग में मैं दोपहर के समय आया। उससे दो घण्टे पश्चात् भारतीयों का बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया। मैं श्री सत्यपाल जी के मकान पर ठहरा था। श्री सत्यपाल जी भारतीय प्रवासियों के नेता हैं। उन्होंने १९४७ का स्वतंत्रता दिवस भी बड़ी धूमधाम से मनाया था। उस दिन मैंने देखा कि सत्यपाल जी के घर के सब नर नारियाँ और बच्चे भी उत्सव के कपड़े पहने हुये आनन्द मना रहे थे। जुलूस बड़ा शानदार था।

मुझे २९ ताः की रात्रि को डर्बन पहुँचना था क्योंकि ३० ता० को गाँधी दिवस में सम्मिलत होने के लिये मुझे विशेष निमंत्रण दिया गया था।

भारतवर्ष से इतनी दूर और सर्वथा अलग होते हुये भी भारतीय लोगों का भारत-स्वातंत्र्य पर इतना हर्ष मनाना इस

२५

बात को सिद्ध करता है कि लोगों के हृदय में देश-प्रेम का कितना बाहुल्य है। यहाँ मैं एक बात और स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ। जो भारतीय आर्य्य समाजी हैं या आर्य्य-समाज के विचारों से सहानुभूति रखते हैं उनको मैंने इस देश-प्रेम से अधिक परिपूरित पाया। श्री सत्यपाल जी न केवल भारतीय हैं अपितु एक गम्भीर प्रकृति के उत्साही आर्य्य समाजी हैं। उनकी पत्नी जी भी आर्य्य समाज के काम में बहुत भाग लेती हैं। उनकी लड़कियों और दामादों में भी आर्य्य समाज के लिये विशेष प्रेम पाया। श्री पं० जगमोहन जी जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है श्री सत्यपाल जी के दामाद हैं और एक अलग मकान में पीटमेंरिटज़्वर्ग में ही (गिनमैन स्ट्रीट) में रहते है।

मध्य नैटाल में प्रचार !

३० जनवरी को गांधी दिवस था। ३१ जनवरी को ७॥ बजे रात को पीटर्मैरिट्ज़बर्ग में व्याख्यान की योजना पहले से ही हो गई थी। अतः श्री जाल भाई रुस्तम जी मुझे अपनी मोटर कार में ५॥ के लगभग मैरिट्ज़बर्ग पहुँचा गये। ७॥ बजे 'हिन्दू यूथ लीग' के भवन में "How to achieve Universal peace" अर्थात् 'विश्व शान्ति किस प्रकार हो' इस पर व्याख्यान हुआ। १ फर्वरी को इन्डियन पार्लीमेन्ट में डिबेट हुई। डिबेट का विषय यह था :—

"Universal recognition & acceptance of fundamental principles of religion are essential to the progress and well being of mankind".

अर्थात् "धर्म के मौलिक नियमों की विश्व व्यापी माननीयता तथा स्वीकृति मानव जाति की उन्नति तथा कल्याण के लिये अनिवार्य है।"

इस विषय पर बड़ा रोचक वाद प्रतिवाद हुआ जिसमें सभा के सभ्यों ने खुले दिल से भाग लिया। जब मत लेने का समय आया तो प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हो गया।

२ फर्वरी को नगर की कई तामील संस्थाओं की ओर से स्वागत का आयोजन किया गया। व्याख्यान का विषय था "Message of Hinduism to every day practical life"

अर्थात् दैनिक व्यावहारिक जीवन के लिये हिन्दू धर्म का क्या आदेश है।*

४ फर्वरी को शनिवार था। शनिवार और रविवार को सभी संस्थायें अपनी सभा करने में सुगमता का अनुभव करती हैं। पीटर्मेरिट्ज़बर्ग के उपनगरों में कई स्थानों पर आर्य समाज या हिन्दू संस्थायें हैं। अतः ४ फर्वरी को ३ व्याख्यान रक्खे गये :—

(१) २ बजे प्लेसिसलेअर (Plessislaer) आर्य समाज के मन्दिर में 'वैदिक धर्म' पर हिन्दी में।

(२) ४ बजे, मौण्टपैट्रिज इण्डियन स्कूल (Mt. Partridge Indian School) 'में स्वामी दयानन्द के सन्देश' पर हिन्दी में।

(३) ७ बजे वैदिक विद्या प्रचारक सभा पेंट्रिक (Pentrich) की ओर से 'कर्म' मीमाँसा विषय पर हिन्दी में।

५ फर्वरी को एच० वाई० एम० ए० लाइब्रेरी (हिन्दू यंग-मैन्स एसोसियेशन लाइब्रेरी) में ७½ बजे सायंकाल को अंगरेजी में 'Life after Death' "मृत्यु के उपरान्त जीवन" विषय पर व्याख्यान हुआ। इस व्याख्यान में लोगों ने सबसे अधिक रुचि दिखाई और बड़ी देर तक प्रश्नोत्तर भी हुये। एक सज्जन

---

*उन संस्थाओं के नाम यह हैं :—

(1) Hindu Young Men's Association.
(2) Stri Siva Soobramanier and Mariamman Temple.
(3) Thirukoolam (P. M. Burg).
(4) Hindu Tamil Women's Association.
(5) Tamil Protective Association (Pentrich).
(6) Pentrich Tamil Women's Association.
(7) Tamil Valiba Sunmarka Sungum.
(8) Raisethorpe Tamil Educational Society.

ने उसी समय उस व्याख्यान को रिकार्ड में भी भर लिया और पीछे से मुझे सुनाया। इस विषय पर अधिक रुचि का अवलोकन करके मैंने इस विषय पर पीछे से अंगरेज़ी में एक छोटी पुस्तक भी लिख दी है जिसको उसी व्याख्यान का विशद रूप कहना चाहिये। 'वैदिक पुनर्जन्म का सिद्धान्त' अत्यन्त वैज्ञानिक तथा सन्तोषप्रद है। आत्मा को यदि सच्ची शान्ति मिलती है तो इसी सिद्धान्त से। इसके विषय में लोगों में अनेक ग़लत धारणायें फैली हुई हैं। ईसाई और मुसल्मानों की ओर से इस सिद्धान्त का अधिक विरोध हुआ करता है। परन्तु यदि इसको न माना जाय तो उनकी ओर से कोई ऐसा समाधान पेश नहीं किया जाता जिससे जीवनसम्बन्धी गुत्थियाँ दूर हो सकें।

५ फर्वरी को दिन के समय रेज़थोर्प के स्कूल में भी आर्य्य समाज के मंतव्यों पर व्याख्यान हुआ। इसके प्रधान थे श्री बैजू जी। यह सज्जन सरल प्रकृति के उदार दानशील, तथा उद्योगी हैं। इन्होंने बबूल के सैकड़ों एकड़ जंगल ठेके पर लिये हुये हैं। और अपने स्वयं परिश्रम से अच्छी सम्पत्ति प्राप्त की है। इन्होंने अपने क़स्बे में हिन्दुस्तानी बच्चों की शिक्षा के लिये अपने दान से स्कूल खोला है। श्री बैजू जी के साथ-साथ कई अन्य दानियों ने भी इस शुभ काम में भाग ले रक्खा है।

६ फर्वरी को मध्य नैटाल का दौरा समाप्त हुआ। यहाँ आठ या नौ व्याख्यान हुये। ६ फर्वरी की शाम को हम लोग फिर डर्बन लौट आये।

———

धार्मिक जागृति

१८६० में भारतीय लोग दक्षिणी अफ्रीका में आये। यह मज़दूर थे, अशिक्षित थे, धर्म आदि से अनभिज्ञ थे। उस समय भारतवर्ष में भी वैदिक धर्म का ह्रास हो रहा था। वेदों का तो लोग सर्वथा भूल गये थे। हिन्दूधर्म रूढ़ियों का नाम था। अनेक प्रकार की भ्रान्ति-पूर्ण प्रथायें धर्म नाम से प्रचलित थीं। श्री राजाराममोहन राय जी ने हिन्दू धर्म के सुधार के रूप में ही ब्रह्मसमाज को स्थापित किया था। परन्तु ब्रह्म-समाज का प्रभाव बंगाल से बाहर न जा सका और ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक के इंग्लैण्ड में मर जाने के पश्चात् ब्रह्मसमाज के नेताओं ने इस समाज के कार्यक्रम तथा सिद्धान्तों में ऐसी उथल पुथल कर दी कि हिन्दू समाज के दुर्गुण तद्वत रह गये। उस समय तक स्वामी दयानन्द कार्यक्षेत्र में नहीं उतरे थे और आर्य्य समाज का काम आरंभ नहीं होने पाया था।

वस्तुतः उन दिनों हिन्दू धर्म के संशोधन की आवश्यकता किसी के मस्तिष्क में न थी। अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचार ने लोगों में हिन्दूधर्म के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी थी। ईसाई धर्म के प्रचारक इस घृणा को अपने लिये सौभाग्य समझते थे। वह यह नहीं चाहते थे कि हिन्दू धर्म में सुधार हो या हिन्दू अपनी कुरीतियों को छोड़ दें। क्योंकि हिन्दुओं में जागृति होने का अर्थ ही यह था कि ईसाई धर्म की आवश्यकता नहीं है। अंगरेज़ लोग व्यापार के लिये आये और व्यापार करते करते ही देश के मालिक बन गये। मालिक होने के साथ-साथ उनके

दिल में यह इच्छा जाग्रत हुई कि भारतीयों के धार्मिक गुरु भी बन बैठें। 'गठिया के साथ मुठिया और मुठिया के साथ इंजील।' यह स्वाभाविक अनुक्रम हो गया। अतः जब अनपढ़ भारतीय मजदूर समुद्र पार करके अफ्रीका पहुँचे तो उन्होंने अपने को विचित्र अवस्था में पाया। जहाज़ में बैठते ही इनका धर्म भ्रष्ट हो गया। क्योंकि हिन्दुओं में धर्म का अर्थ सिद्धान्तों का पालन नहीं अपितु छूतछात और भोजन की शैली मात्र थी। उन दिनों हिन्दू धर्म की यह अवस्था थी की यदि कोई चोरी करे तो अपनी जाति से वहिष्कृत न हो, व्यभिचार करे तो उसकी जाति वाले कुछ न कहें, परन्तु यदि किसी का छुआ खा ले तो तुरन्त ही जाति-च्युत समझा जावे। यह मज़दूर जहाज़ में बैठ कर इस धर्म को कैसे निबाह सकते थे। उनको विश्वास होगया कि हमारा धर्म नष्ट हो गया।

हिन्दू धर्म की बहुत दिनों से दो बड़ी निर्बलतायें रही हैं। पहली तो यह कि धर्म का मुख्य अंग है किसी अन्य जाति वाले का छुआ न खाना। उदाहरण के लिये मांस खाना पाप नहीं परन्तु दूसरी जाति का पकाया मांस खाना पाप है। दूसरी निर्बलता यह है कि हिन्दू धर्म में सुधार की जगह नहीं। जो एक बार धर्म खो बैठे वह सदा के लिये धर्म-भ्रष्ट हो जाय। प्राचीन शास्त्रों में हर एक छोटे बड़े पाप के लिये प्रायश्चित हैं। परन्तु प्रायश्चित के उन नियमों को हिन्दुओं ने बहुत दिनों से विस्मृत कर दिया। जो मनुष्य एक बार गिर गया वह इस जन्म में सुधर नहीं सकता। यदि एक हिन्दू किसी मुसलमान का छुआ भूल से भी खा लेता तो वह हिन्दू न रहता और उसे बलात्कार मुसलमान बनना पड़ जाता। हिन्दुओं की इन दो निर्बलताओं ने हिन्दुओं में नैतिक तथा सामजिक पतन के लिये बहुत से अवसर उपस्थित कर दिये। आर्य समाज

ने इन दोनों निर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु उस समय तो आर्य समाज का जन्म भी नहीं हुआ था। और आर्य समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द तो उस समय विद्यार्थी जीवन ही व्यतीत कर रहे थे। इसलिये जब इन बेचारे मजदूरों ने देखा कि हमारा धर्म बिगड़ गया तो वे यह समझ बैठे कि अब गये। अब बचना असंभव है। अतः उन्होंने जनेऊ तोड़ दिये अपनी रीति रिवाज़ को भूल गये और उनमें से बहुत सों ने तो ईसाई धर्म स्वीकार करना ही हितकर समझा। जो मुसलमान थे वे न स्वयं ही मुसलमान बने रहे अपितु जहाँ संभव हुआ उन्होंने हिन्दुओं को भी मुसल्मान बना लिया। और जो मुसल्मान नहीं भी हुये वह भी अपने भारतीय मुसल्मानों की देखा देखी उनके ताज़ियों को पूजने लगे। पचास वर्ष पूर्व ताज़िया ही अफ्रीका के हिन्दुओं का एक मात्र त्यौहार था। कुछ हिन्दुओं ने अपने मन्दिर बनाये और कुछ ब्राह्मण भी भारतवर्ष से आकर पुरोहिताई का काम करने लगे। परन्तु इन ब्राह्मणों का उद्देश्य हिन्दुओं का सुधार न था। यह तो पैसे कमाने आये थे। इन्होंने माता, देवी आदि के मंदिर बनाकर भ्रममूलक बातों का अधिक प्रचार किया।

स्वामी दयानन्द ने १८७५ ई० में आर्य समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म के संशोधन की ओर देश का ध्यान खींचा। संशोधकों और लकीर के फकीरों में विरोध हुआ। आर्य समाज का पक्ष था कि शुद्ध सनातन प्राचीन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करनी चाहिये और मूर्ति पूजा, मृतक श्राद्ध, जन्मपरक जाति पांति जो पीछे से हिन्दुओं के गले पड़ गये हैं सर्वथा त्याग देने चाहियें। अपने को सनातन धर्म कहने वाले लकीर के फकीर कहते थे कि हमारी रूढ़ियाँ ज्यों की त्यों रहनी

चाहिये। हिन्दुओं में जो रीति रिवाज़ हैं वह ठीक हैं। उनमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं।

आर्य समाज ने सुधार का कार्य बड़े उत्साह और प्रावल्य से किया। सुधार का तूफान इतने वेग से उमड़ा कि समस्त भारतवर्ष का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो गया। मुसल्मान और ईसाई भी दहल गये। हिन्दुओं ने अनुभव किया कि यदि वे समयानुसार अपनी चाल ढाल में परिवर्तन न करेंगे तो वे शीघ्र नष्ट हो जायंगे। भारतवर्ष के बाहर हिन्दुओं ने तो इस बात को और भी तीव्रता से अनुभव किया। उनके दिल मर चुके थे। वे जीवन की आशा छोड़ चुके थे। उनका विचार था कि अब वे धर्म से सर्वथा दूर हो चुके हैं और उनके बचने का कोई उपाय नहीं है। स्वामी दयानन्द ने नया दृष्टिकोण सामने रक्खा। लोगों को शुद्ध वैदिक धर्म और रूढ़ियों से विषाक्त वर्तमान हिन्दू धर्म का भेद मालूम हो गया। उनके मुर्दा दिलों में नई जान आ गई।

दक्षिणी अफ्रीका में एक पंजाबी सज्जन थे लाला मोकमचन्द वर्मन्। इन पर आर्य्य समाज के सिद्धान्तों का प्रभाव था। इन्होंने महात्मा हंसराज जी, प्रिंसिपल डी ए वी० कालेज, लाहौर से प्रार्थना की कि एक अच्छा प्रचारक भेजिये। महात्मा जी ने श्री भाई परमानन्द जी को इस काम के लिये नियत किया। भाई जी लाहौर डी० ए० वी० कालेज के प्रतिष्ठत प्रोफेसर थे। वे ५ अगस्त १९०५ ई० को अफ्रीका पधारे और लगभग ६ मास इस प्रदेश में भ्रमण करते रहे। भाई जी उच्च कोटि के विद्वान तथा व्याख्याता थे। उनके व्याख्यानों ने बिजली का काम किया और उन्होंने डर्बन, पीटर्मेरिट्ज़बर्ग स्थानों में हिन्दू सभा और हिन्दू युवक सभाओं की नींवें डाली। यह सभायें किसी न किसी रूप में अब भी चल रही हैं। भाई जी के शुभागमन का

सबसे मूल्यवान प्रभाव यह हुआ कि हिन्दुओं का दृष्टिकोण बदल गया। अब यह अपने सुधार की बात सोचने लगे।

श्री भाई जी के इस आरंभिक कार्य्य को विशेष प्रोत्साहन मिला श्री स्वामी शंकरानन्द जी से। स्वामी जी बड़े ओजस्वी विद्वान और अंगरेजी के अद्वितीय वक्ता थे। इनमें काम करने की असाधारण कुशलता थी। यह ४ अक्टूबर १९०८ को डर्बन पधारे और इन्होंने स्थान-स्थान पर जाकर हिन्दुओं को प्रोत्साहित किया। आर्य्य प्रतिनिधि सभा नैटाल की १९०८ की रिपोर्ट में श्री स्वामी शंकरानन्द के सम्बन्ध में यह लिखा है :—

"*उत्सव और संस्कार दीपावली :*—यहाँ पर ५० वर्षों से हिन्दू रहते थे। इस बीच वे अपने त्योहारों और संस्कारों को सर्वथा भूल चुके थे। जो कुछ बचा था वह स्वयं उन्हे लज्जित करने वाला था। हिन्दुओं का सर्वप्रधान त्यौहार मुहर्रम बन गया। ताजिया बना कर और मर्सिया गा कर वे फूले न समाते थे। श्री शंकरानन्द जी का इस 'पतन' की ओर शीघ्र ही ध्यान गया। उन्होंने इसके विरुद्ध हिन्दुओं को दीपावाली का त्यौहार मनाने का आदेश दिया। तदानुसार अक्टूबर १९०८ का दीपावली का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। तब से दीपावली यहाँ का सर्वप्रधान त्यौहार बन गया है।

दीपावली के इस प्रकार के प्रचार का यह प्रभाव हुआ कि अक तक रेलवे और म्युनिसिपलिटी में हिंदू कर्मचारियों को मुहर्रम पर छुट्टी मिलती थी अब उसके बदले दीपावली की सार्वजनिक छुट्टी होने लगी। दीपावली के अतिरिक्त रामनवमी और जन्माष्टमी के पर्व भी मनाये जाने लगे। त्यौहारों के साथ ही उन्होंने जगह २ यज्ञ करवाये और संस्कारों की महत्ता समझ कर वैदिक संस्कारों का प्रचलन शुरू किया।

रामरथः—ताज़िये परस्ती से सर्वथा मुक्ति दिलाने के लिये श्री शंकरानन्दजी ने हिन्दू मानस को परख कर रामरथ निकालने की योजना तैयार की। इसके लिये १९१० में "डर्बन रथ कमेटी" का निर्माण हुआ। उसकी तरफ से रामनवमी के शुभ पर्व पर बड़े समारोह पूर्वक रामरथ निकालने की तैय्यारी होने लगी। हिन्दुओं में उस अवसर पर अपूर्व उत्साह उमड़ आया। पहली बार हज़ारों हिन्दुओं ने मिलकर अपना धार्मिक जलूस निकाला। रामरथ की यह सवारी डर्बन की ग्रे स्ट्रीट से हो कर जानेवाली थी। यहाँ मुसलमानों की बड़ी मस्जिद स्थित है। इससे मुसलमानों में भी जोश उमड़ आया। वे इस रामरथ को। रोकने के लिये दङ्गा करने को भी उतारू हो गये। ता० १८ अप्रैल को बड़ी धूमधाम से बाजे गाजे के साथ सवारी निकली। निर्भीक सन्यासी शंकरानंद के हाथ में उसका नेतृत्व था। सबसे आगे वे चल रहे थे। ग्रे स्ट्रीट पर जब रथ पहुँचा तो किसी को शरारत करने की हिम्मत नहीं हुई। पुलिस ने दंगे की संभावना से रथ को रोकना चाहा। पर श्री शंकरानंदजी का ऐसा प्रभाव था कि पुलिस के कर्मचारी नागरिकता के इस सर्वमान्य हक से इन्कार न कर सके। रामनाथ शांतिपूर्वक निकल गया। तब से मस्जिद के सामने बाजा बजाने का प्रश्न भी सदा के लिये इस देश में हल हो गया।

प्रचार की धूमः—अब तो सारे नैटाल प्रांत में श्री शंकरानंदजी ने प्रचार की धूम मचा दी। जगह जगह पर उनके व्याख्यान होने लगे। वे प्रखर वक्ता थे। उनकी वाणी मेघ के समान गंभीर और बलवती थी। उनकी भाषा भी बड़ी ओजस्वी होती थी। इससे श्रोतागण उनके व्याख्यानों से बहुत प्रभावित होते थे। आपने डर्बन की हिन्दू सुधार सभा, अमगेनो की हिन्दू प्रोग्रेसिव सोसाइटी तथा स्टेंगर इस्पींगो आदि स्थानों की कई सभाओं में

व्याख्यान दिये। बेलफोर्ट में आपने यज्ञ कराया। प्रांत के अन्य नगर मेरिट्जवर्ग, लेडी स्मिथ, न्यूकासल आदि में भी व्याख्यान होने लगे। वे अंग्रेजी के भी प्रभावशाली वक्ता थे। इससे आपके व्याख्यान में गोरे लोग भी अच्छी संख्या से हाजिर होते थे। उच्चकोटि के धार्मिक व्याख्यान सुनकर अपना अहोभाग्य समझते थे। थियोसोफीकल सोसाइटी में आपने "मानव आत्मा" पर जो आध्यात्मिक व्याख्यान दिया उसे सुनकर उस सभा के अध्यक्ष श्री हरबर्ट प्राइज ने कहा कि उन्होंने अपने जीवन में तत्वज्ञानास्पद ऐसा महत्वपूर्ण व्याख्यान पहली बार सुना है।

वेद धर्म सभाः—स्वामी शंकरानंदजी ने प्रचार कार्य को दृढ़ करने के लिये जगह जगह संस्थायें खोलनी प्रारंभ की। ये संस्थायें वेद धर्म सभा के नाम से मशहूर हुईं। स्वामीजी ने पहली वेद धर्म सभा डर्बन में बिट्रेस स्ट्रीट मे स्थापित की। इसके बाद क्लेरेस्टेट में एक सभा कायम की। इसी तरह आपने सिडनम में हिंदूयंग मेन्स सोसयीटी एवं डर्बन में यंग मेन्स वैदिक सोसायीटी खोली। इनमें मुख्य रूप से तामील भाषी लोगों ने साथ दिया। इनमें मुख्य रूप से त्योहारों के मनाने का, मातृभाषा की पढ़ाई का तथा धार्मिक प्रवचन का कार्य होने लगा।"

श्री स्वामी शंकरानंद जी दो बार दक्षिण अफ्रीका पधारे और उन्होंने वेद समाज तथा हिन्दू महासभा आदि संस्थाओं की स्थापना की।

स्वामी शंकरानन्द जी के पश्चात् कई महानुभाव दक्षिण अफ्रीका में वेद-धर्म-प्रचार के लिये समय-समय पर आते रहे। आजकल जो प्रगति डर्बन या अन्य स्थानों में दीख पड़ती है वह सब इन्हीं महानुभावों के सतत प्रयत्न का फल है। इनमें से मुख्य के नाम यह है—श्री मेहता जैमिनि (आजकल स्वामी ज्ञानानंद जी), स्वामी मंगलानन्द पुरी, श्री प्रवीणसिंह जी

गायनाचार्य, प्रोफेसर यशपाल, प्रोफेसर रलाराम, डाक्टर सहगल, पं० आनंद प्रिय, पं० नरदेव जी वेदालङ्कार, पं० ऋषिराम जी*। श्री पं० ऋषिराम जी अफ्रीका में दो बार पधार चुके हैं। उन्होंने गाँधी-टागोर-व्याख्यान फण्ड स्थापित किया है।

अफ्रीका की धार्मिक तथा नैतिक जागृति में श्री स्वामी भवानीदयाल जी सन्यासी का बहुत बड़ा हाथ है। अन्य लोग तो मेहमान के समान दक्षिण अफ्रीका में आये और कुछ दिन कार्य करके चले गये। परन्तु श्री भवानीदयाल जी तो डर्बन में ही बस गये और वहाँ जम कर कार्य करते रहे। हिन्दी राष्ट्र भाषा, वैदिक धर्म प्रचार और भारतीय प्रवासियों का हित-चिंतन इन तीनों विभागों में स्वामी भवानीदयाल ने बहुत काम किया। मई १९५० के दूसरे सप्ताह में स्वामी जी का अजमेर में देहान्त हो गया। वे मृत्यु के समय भी प्रवासियों के अधिकारों के संरक्षण के लिये 'प्रवासी' नामक पत्र निकालते थे।

आजकल भी कई नवयुवक उत्साही विद्वान नैटाल में वैदिक धर्म प्रचार की उन्नति में लगे हुये हैं।

———

* श्री ऋषिराम जी मेरी यात्रा के पश्चात् भी अफ्रीका में प्रचार कर आये हैं। इलाहाबाद में इसी वर्ष (१९५४ ई०) मुझसे भेंट हुई थी।

नैतिक उत्थान

२५ फरवरी १९५० ई० को मुझे निमंत्रण मिला कि फिनिक्स में ४ बजे सायंकाल श्री पं० हृदयनाथ कुंजरु जी के शुभ हाथों से गांधी आश्रम का उद्घाटन होगा। उसी दिन मेरा डर्बन में व्याख्यान होना था और प्रतिनिधि सभा नैटाल की रजतजयन्ती का उद्घाटन करना था। परंतु कुछ देर लिये वहां जाना भी मैंने स्वीकार कर लिया।

फिनिक्स डर्बन नगर से १५ मील पर एक ग्रामीण-स्थान है। आज कल यहाँ छोटे से सुन्दर भवन में श्री महात्मा गांधी जी के पुत्र श्री मणि लाल जी गांधी, उनकी पत्नी (महात्मा जी की पुत्र बधू) श्रीमती सुशीला बेन और उनके बच्चे रहते हैं। यहाँ एक मुद्रणालय है जिसमें बहुत दिनों से 'इण्डियन औपीनियन' (Indian Opinion) नाम का साप्ताहिक पत्र निकलता है।

फिनिक्स महात्मा गांधी जी के नाम से विशेष सम्बंध रखता है। यहाँ छोटे से कमरे में महात्मा गांधी रहा करते थे और अपने सात्विक उपदेशों और सात्विक जीवन से साथियों में देश-प्रेम और जन-प्रेम की भावनायें उत्तेजित करते रहते थे।

फिनिक्स आरम्भ में क्या था यह कहने की आवश्यकता नहीं। यदि १० वर्ष पूर्व मैं फिनिक्स में गया होता तो शायद मेरे आत्मा में वह भाव न उठते जो १५ फरवरी को उठे।

क्योंकि अब तो फिनिक्स न केवल भारतीयों के अपितु संसार भर के श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये तीर्थ स्थान हो गया है। दक्षिण अफ्रीका का रहन-सहन यूरोपियन है। फैशन और चमक दमक अर्वाचीन संस्कृति की विशेषतायें हैं। चारों ओर से आवाज़ आती है कि मनुष्य जीवन का तल ऊँचा करो। और तल ऊँचा करने का अर्थ यह कि प्राकृतिक सामग्री अधिक हो; अच्छा खाओ अच्छा पहनो, अच्छे मकानों में रहो और चमक दमक से रहो। यही है तल का ऊँचापन। सत्य, अहिंसा, प्रेम, आत्म-त्याग, परोपकार, तप जो मनुष्य-जीवन के तल को वस्तुतः ऊँचा करते हैं आज सर्वथा भुला दिये गये हैं। क्रूर, निर्दयी, असत्यवादी, मनुष्यों के रुधिर का शोषक, यदि चमक दमक से रहता हो तो लोग कहते हैं "यह बड़ा पुरुष है इसके रहन सहन का तल बहुत ऊँचा है"। ऐसे देश में रहने वाले को महात्मा गांधी के विषय में जब बताया गया कि अमुक कमरे में महात्मा जी भूमि पर सोते थे और अपने बड़े-बड़े साथियों को भी वही सरल जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करते थे तो कौन ऐसा मनुष्य होगा जिस पर प्रभाव न पड़ता। श्रीमती सुशीला बेन जनवरी के आरंभ में मेरे कई व्याख्यानों में डर्बन पधारी थीं और वहीं फिनिक्स में आने के लिये मुझे निमंत्रित कर गई थीं। महात्मा गांधी के भक्त श्री जालभाई रुस्तम जी ने मुझे फिनिक्स चलने के लिये कई बार प्रेरणा भी की थी परन्तु अन्य कार्यों वश मैं १५ फर्वरी से पूर्व फिनिक्स नहीं पहुँच सका। फिनिक्स का महत्त्व आजकल इसलिये यहुत बढ़ गया है कि भारतवर्ष की स्वतंत्रता-प्राप्ति महात्मा गाँधी के तपोबल की विशेषता है और स्वतंत्रता की जो लड़ाई भारतवर्ष में लड़ी गई उसका सूत्र-पात फिनिक्स में हुआ।

दक्षिण-अफ्रीका के भारतीयों के नैतिक-उत्थान का मुख्यतम

सम्बंध है महात्मा गाँधी से। यह भारतवर्ष की दासता को दूर करने वाले तो पीछे से बने। इनका कार्यक्षेत्र तो पहले दक्षिणी अफ्रीका ही था।

श्री मोहनदास कर्मचंद गांधी एक साधारण बैरिष्टर थे। यह १८९३ ई० में एक अभियोग की पैरवी के लिये अफ्रीका आये थे। यह अभियोग एक वर्ष में समाप्त हो गया और इसके पीछे इनको देश लौट जाना चाहिये था परंतु अभियोग के प्रसंग में हुये उन्होंने अनुभव किया कि अफ्रीका में बसे हुये भारतीय प्रवासियों की नैतिक दशा बहुत खराब है। और उनमें ऐसा कोई नेता नहीं है जो भारतीयों में नैतिक उत्तेजना उत्पन्न कर सके। अतः उन्होंने अफ्रीका में रह कर नैतिक आंदोलन करने का निश्चय किया और बैरिष्ट्री द्वारा धन कमाने के उद्देश्य को त्याग कर आत्म-त्यागी बनकर नैतिक मुक्ति की प्राप्त की धुन में लग गये।

दक्षिण अफ्रीका की रेणु पर निरंतर महात्मा गाँधी के पग-चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। अहिंसात्मक असहयोग की योजना यहीं तैयार हुई थी। जिस बम के गोले ने १९४७ ई० की १५ वीं अगस्त को भारतवर्ष को अंगरेजों के पंजे से निकाल कर विमुक्त कर दिया और फिर एक बार भारतवासियों को यह अवसर दिया कि वे मानव सृष्टि की भारतीय संस्कृति के आधार पर सृजना करें वह गोला उस एटम-बम से सर्वथा भिन्न है जिसने जापान के होरोशीमा नामी नगर को क्षण भर में भस्मीभूत कर दिया। यह अमेरिका के गुप्त जंगलों में तैय्यार नहीं किया गया था। इसकी फैक्टरी है प्रोटोरिया, जानसबर्ग, पीटर्मेरिट्ज़ बर्ग, डर्बन और फिनिक्स। मैं प्रीटोरिया गया। वहाँ मुझको कुछ वृद्ध पुरुषों के दर्शन हुये जिन्होंने आरम्भ काल में महात्मा

गांधी के साथ काम किया था। मैं जानसबर्ग गया। वहाँ के बाज़ारों की पटरियों को देख कर गांधी जी के आन्दोलनों का स्मरण हो आता है। वहाँ बाज़ारों की पटरियां गोरे लोगों के लिये थीं। काले लोग उन पर चलने नहीं पाते थे। जो इस नियम को भंग करता था पुलिस उसका सिर तोड़ देती थी। गांधी जी इस अपमान को सहन नहीं कर सकते थे। उनके पास कोई ऐसा नैतिक शस्त्र नहीं था कि इस काले कानून को रद करा सकते। भारत अंगरेज़ों के अधिकार में था। महाराणी विक्टोरिया वहाँ की साम्राज्ञी थीं। उन्हीं की पार्लामेण्ट उदारता की बीसियों डींगें मारती हुई भी गोरे और काले के मामले में न्याय करने में सदा अशक्त रही है। इसको कहना चाहिये दिन दोपहर की अंधेरी। इंगलैण्ड उन्नतिशील है, इंग्लैण्ड वैज्ञानिक है, इंग्लैण्ड सुशिक्षित है, इंग्लैण्ड उदार है, इंग्लैण्ड साहसी है। इग्लैण्ड सर्व गुण सम्पन्न है। परन्तु इंग्लैण्ड में एक दोष है जिसका इंग्लैण्ड के पास कोई भी उपचार नहीं है। वह दोष है इंग्लैन्ड वालों का गोरा चमड़ा। इस गोरे चमड़े के भीतर कालिमा का कितना अंश है। यह देखना हो तो दक्षिण अफ्रीका जाइये। पीटरमैरिट्ज़बर्ग के रेलवे स्टेशन पर जाइये। वहाँ काले गोरे एक स्थान पर रेल का टिकट नहीं खरीद सकते। भारतीयों के लिये बरसात या धूप में बैठने की जगह नहीं है। वहाँ आप को भारतीय लोग वह स्थान दिखावेंगे जहाँ गांधीजी का सामान रेल के डिब्बे से निकाल कर इसलिये बाहर रख दिया गया था कि वे गोरे न थे। यह सब बहुत छोटी बातें हैं और प्रायः लोगों की दृष्टि इनकी ओर नहीं जाती। या यदि जाती भी हैं तो अधिक समय तक जम नहीं सकती। परन्तु यह वह छोटी बातें हैं जो कालान्तर में भीषण परिणाम उत्पन्न किया करती हैं। जिस गोरे ने पीटर्मेरिट्ज़ बर्ग के स्टेशन पर गांधी

जी का सामान बाहर निकलवा दिया उसको क्या मालूम था कि वह छोटा सा कार्य भारतवर्ष में आङ्गल जाति के शासन के अन्त का साधन बनेगा। अफ्रीका के गोरे आज भी शक्ति के मद में अन्याय की उस विशैली शक्ति का अनुभव नहीं करते। परन्तु जैसे भारत में एक दिन आ गया जिस दिन लोगों को आंखें खोलनी पड़ीं वैसे ही अफ्रीका में भी वह दिन अवश्य आवेगा जिस दिन अन्याय की भट्टी अपने भीतर से अग्नि के अंगारे उगलने लगेगी और उसमें अधर्म की भावनायें जल भुनकर राख हो जायगीं।

गांधी जी ने अहिंसात्मक असहयोग के अदम्य प्रयोग का आविष्कार किया। इसके बीज मात्र भारतवर्ष तथा अन्य देशों के आचार शास्त्र में विद्यमान मिलते हैं। परन्तु उपस्थित औषध को जिस नवीनता के साथ महात्मा गांधी ने प्रयोगात्मक स्थिति प्रदान थी वह महात्मा गाँधी की अपनी विशेषता है। जिन लोगों के हाथ में शासनसत्ता होती है वे विधान-चक्र को कसने में कसर नहीं छोड़ते। उनका काम है कि नित्य नये कानून बनाया करें जिससे उनका मनमाना शासन सुदृढ़ रहे और कोई उनका विरोध न कर सके। परन्तु यदि आप वैधानिक अत्याचारों को रोक नहीं सकते तो आप को इस प्रकार के नियमों को मानने से इनकार कर देना चाहिये। महात्मा गांधी ने कहा कि अधर्म से प्रेरित नियमों का मानना अधर्म है। यदि शासक लोग कहें कि शासितों को क्या अधिकार है कि वे पास किये हुये कानूनों को न मानें तो उनसे पूछना चाहिये कि शासकों को क्या अधिकार है कि वे दबाव डालकर धारा सभाओं से अनुचित विधानों को पास करके उनको वैधानिक रूप देवें।

आरम्भ से लेकर आज तक (१९५० ई०) तक दक्षिणी अफ्रीका की सरकार भारतीयों के हित के विरुद्ध लगभग साठ

से ऊपर कानून पास कर चुकी है। और आजकाल ग्रूप एरिया बिल (Group Area Bill) के नाम से एक और कानून पास हुआ है। जिसके अनुसार सरकार को अधिकार होगा कि यह निश्चय कर दे कि अमुक क्षेत्र अमुक जाति के लोगों के लिये परिमित हैं। उसमें अन्य जाति के लोगों को बसने का अधिकार न होगा। पहले से यदि कोई विजातीय वहाँ बसा होगा तो उसे वह स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि कल्पना कीजिये आप भारतीय हैं और आपका मकान ऐसे स्थान में हैं जिसको सरकार की ओर से यूरोपियन क्षेत्र में घोषित किया गया है तो आपको वह मकान छोड़ना पड़ेगा। और आप अन्यत्र मारे मारे फिरेंगे। आप अपने मकान को स्वतंत्रता से बेच भी नहीं सकते क्योंकि केवल यूरोपियन लोग ही उसे खरीद सकेंगे और वे आपको जो दाम देंगे वही आपको स्वीकार करने पड़ेंगे। इस प्रकार भारतीयों के लिये यह कानून अत्यन्त हानिप्रद है।

गाँधी जी के आने से पूर्व भारतीयों में इतनी शक्ति न थी कि वे अपनी आवाज़ ऊँची कर सकते। उनको कान दबा कर अत्याचारों को सहन करना पड़ता था। परन्तु गांधी जी के आने के पश्चात् भारतीयों में आन्दोलन की शक्ति आ गई है। भारतीय कांग्रेस तथा और भी एक दो नई नैतिक संस्थायें बन गई हैं जो नैतिक आन्दोलन में पूर्ण भाग लेती हैं। यह ठीक है कि अभी इनकी आवाज़ का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। परन्तु भारत के स्वतंत्र हो जाने से एक लाभ तो हुआ है अर्थात् भारत सरकार भारतीयों के हित की रक्षा सच्चे दिल से करती है और दूसरे राष्ट्रों से अपील करती है कि वे भारतीयों के साथ दक्षिणी अफ्रीका की सरकार द्वारा अन्याय न होने देवें।

इसके अतिरिक्त भारतीय प्रवासियों के हृदयों में भी नई आशायें उत्पन्न हो गई हैं। वे अपनी राष्ट्र भाषा तथा प्राचीन संस्कृति के प्रति नूतन आदर रखने लगे हैं। और वे समझते हैं कि एक न एक दिन अवश्य ही संसार भर में उनकी स्थिति को अच्छा और उच्च स्थान मिलेगा। अब उनके माथे से दासत्व का कलंक दूर हो गया है। अब कोई उनसे यह नहीं कह सकेगा कि यदि तुम्हारी संस्कृति उत्कृष्ट है तो क्या कारण है कि तुम्हारी इतनी बड़ी संख्या मुट्ठी भर अंगरेज़ों से पादाक्रान्त हो रही है। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन अत्यन्त संतोषजनक और आशा पूर्ण है। इसका प्रभाव अन्य जातियों के रहन सहन पर भी पड़ेगा और जब उनको भारतीय संस्कृति के लिये आदर होगा तो कोई कारण नहीं कि वे अपने निज जीवन में इसका अवलम्बन न करें। मैंने अफ्रीका की भारतीय जनता में यह चिह्न स्पष्टतया विद्यमान देखे हैं।

———

रजत-जयन्ती

ऊपर कहा जा चुका है कि मेरे दक्षिण अफ्रीका जाने का मुख्य प्रयोजन यह था कि आर्य्य प्रतिनिधि सभा नैटाल की रजत जयन्ती में सम्मिलित हो सकूँ। यद्यपि नैटाल के भारत-वासियों में आर्य समाज का कार्य इस शताब्दी के आरंभ से ही चला आ रहा है परन्तु इसको संगठन का रूप नहीं दिया जा सका था। जब फर्वरी १९२५ ई० में मथुरा नगर में श्री महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की जन्म शताब्दी का समारोह पूर्वक महोत्सव मनाया गया तो उसकी न केवल भारतवर्ष में अपितु विदेशों में भी धूम मच गई और जहाँ कहीं भी कोई आर्य्य समाजी था उसके हृदय में उमङ्गों की तरंगें उठने लगीं। उसी के फलस्वरूप दक्षिणी अफ्रीका के लोगों में भी जागृति के नये चिह्न विद्यमान होने लगे और उन्होंने नैटाल आर्य्य प्रतिनिधि सभा की नींव डाल दी। नैटाल प्रान्त में जहाँ कहीं आर्य्य समाजें, वेद समाज, युवक समाज या अन्य किसी नाम से आर्य सिद्धान्तों को मानने वाली छोटी बड़ी संस्थायें थीं उन सबका संगठित रूप बनाकर प्रतिनिधि सभा बनाई गई और कालान्तर में उसका सम्बन्ध सार्वदेशिक सभा दिल्ली से हो गया। अब नैटाल की आर्य्य प्रतिनिधि सभा नियमित रूप से सार्वदेशिक सभा का अङ्ग है।

अगस्त १९४९ ई० में डर्बन नगर के आर्य्य भाइयों में जोश उत्पन्न हुआ और उन्होंने मिलकर सोचा कि १९५० ई० में उनकी प्रतिनिधि सभा की आयु के पूरे २५ वर्ष समाप्त होंगे। अंगरेज़ी

विचार के अनुकूल क्यों न सभा की रजत जयन्ती मनाई जाय। इससे आर्य्य समाज के काम की प्रगति बढ़ेगी। इसी जोश का फल था कि फर्वरी १९५० ई० में नैटाल आर्य्य प्रतिनिधि सभा की रजत जयन्ती मनाने का निश्चय पक्का हो गया और यह भी निश्चय हुआ कि भारतवर्ष से किसी प्रचारक को बुलाया जाय और यथाशक्ति उसका प्रचार कार्य्य सम्बन्धी सहयोग प्राप्त किया जाय। मेरा निमंत्रण उसी निश्चय का परिणाम था।

रजत जयन्ती का महोत्सव १५ फर्वरी से २६ फर्वरी तक अर्थात् पूरे १२ दिन मनाया गया। यह एक लम्बा पुरोगम था। किसी संस्था के लिये इतने लम्बे पुरोगम को सफलता पूर्वक चलाना कठिन होता है। परन्तु कई अवान्तर संस्थाओं की मांग को पूरा करने के लिये और कोई उपाय भी नहीं था। युवक समाज वाले अपना समारोह करना चाहते थे उनके लिये एक दिन चाहिये। आर्य्य वीर दल की एक नई संस्था खोली गई थी। उनके लिये भी एक दिन आवश्यक था। भारत सरकार की राष्ट्र भाषा हिन्दी हो जाने के कारण हिन्दी के लिए एक नया जोश था। हिन्दी प्रचारिणी सभा वाले भी एक दिन लेना चाहते थे। महिला समाज को भी प्रोत्साहन देना ही था। अतः शनैः शनैः बढ़ते-बढ़ते बारह दिन का पुरोगम निश्चित हुआ उसमें शनिवार और रविवार को पूर्ण अवकाश होने के कारण अधिक समय लगाया जाता था। प्रतिदिन का कार्य्य यज्ञ से आरम्भ होता था। और प्रतिदिन के पुरोहित और यजमान अलग-अलग निश्चित थे। सम्पूर्ण यजुर्वेद से यज्ञ किया गया। पुरोहितों में श्री नरदेव जी विद्यालङ्कार, श्री नयन राजजी, श्री पं० तुलसीरामजी, श्री ब्रजमोहनजी (बी० जे० महाराज) के नाम विशेष उल्लेख के योग्य हैं। जयन्ती का उद्घा-

टन मेरे व्याख्यान से १५ फर्वरी को ५ बजे सायंकाल को हुआ। लेडीस्मिथ, पीटमैरिट्ज़बर्ग, डनहौज़र आदि दूरस्थ नगरों और डर्बन के निकटवर्त्ती उप नगरों की समाजों के लोग विशेष रूप से उपस्थित थे। अन्तिम दिन (२६ फर्वरी) नगर के नियत मुख्य बाज़ारों में जुलूस भी निकाला गया। इसमें प्रायः सभी हिन्दू संस्थाओं ने विशेष रूप से भाग लिया। उस दिन डर्बन के वीर दल ने अच्छा प्रदर्शन किया। इस समारोह ने आर्य्य कार्यकर्त्ताओं के उत्साह में यथेष्ट वृद्धि की। जुलूस में देवियों ने भी पर्याप्त भाग लिया।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष कहनी है। श्री आर० बोधासिंह जी 'प्रधान' आर्य प्रतिनिधि सभा, नैटाल ने उसी दिन (२६ फरवरी) अपने हाथ से सभा भवन की नींव डाली। इस समय जो सभा भवन २१ कार्लायल स्ट्रीट में है वह डर्बन जैसे विशाल नगर के उपयुक्त नहीं है। श्री बोधासिंह जी ने कुछ समय व्यतीत हुआ ऐसी इच्छा प्रकट की थी कि वे दस हज़ार पौंड दान देंगे जिससे सभा का एक उत्तम भवन उसी स्थान पर बनाया जाय। कई कारणों से उस इच्छा को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। रजत-जयन्ती का समय अत्यन्त उपयुक्त समझा गया कि उस कार्य को पूर्ण करना चाहिये। एक अच्छे समारोह के अवसर पर बुनियाद का पत्थर रख दिया गया है। आशा की जाती है कि श्री बोधासिंह जी शीघ्र ही प्रतिज्ञापित दान चुका देंगे और उनकी स्मृति में सभा का अच्छा मन्दिर बन जायेगा।

रजत-जयन्ती के समारोह की एक विशेषता यह भी थी कि एक दिन (२५ फरवरी को) 'सर्वधर्म सम्मेलन' किया गया। यह बात अफ्रीका के लिये नवीन थी। इसके अध्यक्ष थे डाक्टर एन० पी० देसाई। विषय था 'ईश्वर का स्वरूप'। इसमें भाग

लेने वालों में एक यूरोपियन ईसाई सज्जन, एक इस्लाम के मौलवी, एक पारसी सज्जन, एक बौद्ध धर्म के प्रतिनिधि एक दक्षिण भारतीय सज्जन थे. एक थियोसोफिस्ट थे, यत्न तो किया गया था कि समस्त धर्मों के प्रतिनिधि आवें। परन्तु युहूदी धर्म के प्रतिनिधि न मिल सके क्योंकि युहूदियों ने कहा कि हमारे बड़े धर्माध्यक्ष वहाँ नहीं हैं और बिना उनकी स्वीकृति के किसी अन्य को युहूदी धर्म के प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त नहीं है। व्याख्यान सब अंगरेजी में हुये और सद्भावना पूर्ण थे। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि आर्य समाज का प्रतिनिधि मैं था। प्रत्येक के लिये २० मिनिट नियत थे। मैंने अपनी वक्तृता छपवा रक्खी थी जिसमें आर्य समाज के दृष्टि कोण की विशेषता दरशाने का प्रयत्न किया गया था। इसलाम के प्रतिनिधि ने ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में एक रोचक लेख पढा जिसमें सृष्टि की चमत्कृत विशालता से ईश्वर की सिद्धि की गई। भाषा मनोरंजक और प्रभावोत्पादक थी। परन्तु वह ऐसा व्याख्यान था जो आर्य समाज के मंच से भी दिया जा सकता था। उसमें ईश्वर के सम्बन्ध में इस्लामिक विचारों की विशेषता का उल्लेख न था। ईसाई पादरी साहेब ने ईसाइयत की विशेषता पर बल न देकर आकर्षक शब्दों में मनुष्य की अल्पता और दुर्बलता एवं ईश्वर की परम दयालुता का विशद वर्णन किया था। मैं चाहता था कि उन चीजों का वर्णन करूँ जो और ईश्वरवादी नहीं मानते और जिसके बिना ईश्वरवाद अधूरा रहता है। अर्थात् यदि इतना ही माना जाय जैसा कि अन्य सभी मतावलम्बी मानते हैं कि ईश्वर ही केवल एक नित्य सत्ता है सृष्टि से पूर्व उसके सिवाय कुछ न था और उसी ने यह सृष्टि उत्पन्न की, तो एक विचारशील मनुष्य के हृदय में इतने प्रश्न उपस्थित



ईस्टलंडन के योरोपीय रोटरी क्लब ने पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के सम्मान में डील्स होटल में विशाल प्रीतिभोज दिया था। उसी में वह भाषण दे रहे हैं। बाईं ओर मि० डब्ल्यू० वैड रोटरीक्लब के प्रेसीडेन्ट बैठे हैं।

(अप्रैल २१, १९५०)



आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल की रजत जयन्ती पर लिया गया चित्र श्री उपाध्याय जी पहली पंक्ति के मध्य में

होते हैं कि अन्त में आस्तिकता रूपी वस्त्र की धज्जियां उड़ जाती हैं और अन्त में नास्तिक्य या सन्देहवाद ही शेष रह जाता है। अर्थात् यदि ईश्वर से भिन्न कोई था ही नहीं और ईश्वर था अनन्त, पूर्ण तथा आनन्द स्वरूप तो फिर सृष्टि की उत्पत्ति की आवश्यकता ही क्या थी। और सृष्टि भी ऐसी जिसमें दुःख और पाप का बाहुल्य। उस ईश्वर की महत्ता और विशालता का क्या अर्थ जो ऐसी त्रुटि पूर्ण सृष्टि बनावे। वह ईश्वर कैसे दयालु कहलाया जा सकता है जो पापियों को बना कर और उनको पाप का अवसर देकर फिर उन पर दया दिखाने की चेष्टा करे।

किसी फरसी के कवि ने कहा है :—

दरमयाने क़अ्र दरिया तख़्ताबन्द कर दई।
बाज़ मेंगोई कि दामन तर मकुन् हुशियार वाश॥

अर्थात् हे ईश्वर पहले तो तूने मुझे एक तख्ते से बाँधकर समुद्र के बीच में फेंक दिया। अब कहता है कि देख, दामन भीगने न पावे, होशियार रह।

अर्थात् तू ने मुझे बनाया, मेरी निर्बल और पापोन्मुखी प्रवृत्ति को बनाया। ऐसी दुनियां बनाई जिसमें इतने प्रलोभन हैं। मुझे उन प्रलोभनों में फंसने का अवसर दिया। अब कहता है कि देख पाप न करना, विषय वासना में न फंसना। यह तो दयालुता नहीं है। इसीलिये नास्तिक कहता है कि या तो ईश्वर कमज़ोर और दयालु है। हमारा भला चाहता है परन्तु उसकी चलती नहीं। या ईश्वर निर्दयी है जो अन्यान्य विपत्तियों में हमको फंसाये रखता है। परन्तु नास्तिकों ने आस्तिक्य पर इस प्रकार के आक्षेप करके भी कोई इस उलझन के सुल्झाने की तरकीब नहीं बताई। सन्देहवाद और अनीश्वरवाद कोई ऐसा

मार्ग नहीं बताता जिससे अधिक सान्त्वना मिल सके। आर्य्य-समाज और वैदिक धर्म का मत यह है कि :—

(१) यह कहना गलत है कि कोई ऐसा समय था जब ईश्वर के सिवाय और किसी का अस्तित्व न था।

(२) यह कहना गलत है कि ईश्वर ने बिना किसी कारण के जीवों और प्रकृति आदि पदार्थों को बनाकर अपनी ओर से एक प्रपंच खड़ा कर दिया।

(३) यह कहना गलत है कि ईश्वर ही एकमात्र नित्यसत्ता है।

(४) वेद ने कहा है कि:—

'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे

पहले हिरण्यगर्भ था। अर्थात् वह ईश्वर था जिसके गर्भ में जीव, प्रकृति आदि आदि अनेक हिरण्यमयी सत्तायें थीं। अर्थात् सृष्टि के पूर्व ऐसा ईश्वर न था जिसके साथ और कुछ न होता। ईश्वर था हिरण्यगर्भ। अर्थात् ज्योतिर्मयी सत्ताओं के कारण से परिपूर्ण। जीव नित्य हैं और स्वतंत्र हैं। जीव ईश्वर के हाथ में खिलौने नहीं हैं। उसने अपने खेलने के लिये हमको नहीं बनाया। हम तो नित्य सत्ता थे। अल्प थे। 'हमको लाभ पहुँचाने के हेतु हमारे विकास के लिये उसने सामग्री जुटा दी। हम इस सामग्री का उपभोग करें और सुख उठावें या दुरुपयोग करके दुःख उठावें। ईश्वर ने हमको अग्नि दी। इससे सुख की सामग्री बनावें या इसको आँख में झोंककर अपनी आँखें फोड़ लेवें। ईश्वर ने न पाप बनाया न दुःख। जो सामग्री पाप या दुःख का हेतु है वही पुण्य और सुख का हेतु हो सकती है। जिसने मुझे तलवार दी उसने यह तो नहीं कहा कि अपना ही सिर काट लेना। वैदिक ईश्वरवाद की यह विशेषता है कि ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियों की ईश्वर विषयक बीसियों मिथ्या

कल्पनाओं और उनसे फलित उलझनों से छुटकारा दे देता है। हिरण्यगर्भ शब्द वेद में आया है। हिन्दू दार्शनिकों और धर्म-प्रचारकों को इस शब्द का शताब्दियों से परिचय था। परन्तु शंकर आदि आचार्यों ने वेदान्त के मिष से हिरण्यगर्भ का एक अनोखा ही कल्पित रूप खड़ा कर दिया जिससे उलझन सुलझाने के बजाय दुगुणी हो गई। वेद मंत्र के शब्द तो सीधे हैं कि सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ था (समवर्तत)। अर्थात् घड़ों की उत्पत्ति से पूर्व न केवल कुम्हार थे। अपितु जिस मिट्टी से घड़े बनने थे वह मिट्टी भी थी और जिनको घड़ों की जरूरत है वह प्राणी भी थे। वह हिरण्यगर्भ कैसा था ? *भूतस्य जातः पतिः* एकः अर्थात् उन सबका पालक पोषक और संशय रहित शक्तिशाली। उसने घड़ा बनाया। क्यों ? इस लिये कि घड़े की आवश्यकता को अनुभव करने वाले प्राणी थे। उसको उनको देखकर दया आती थी। उपमा शून्य सीधी भाषा में कह सकते हैं कि ईश्वर सोचता था कि इन जीवों को आँखों की जरूरत है। यदि मैं आँखें न दूं तो यह विचारे नेत्रहीन अन्धे क्या करेंगे! उसके पास आँखों की सामग्री भी थी। उसने आँखें भी बनाईं और उनकी सहायता के लिये सूर्य भी बना दिया। यह है कृपा। और कृपा इसलिये कि इस सृष्ठि निर्माण में उसका लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं है।*
मैंने अपने लघु लेख में इसी बात का उल्लेख किया। ईश्वरवादियों के मास्तिष्क में ईश्वर की नित्यता का ऐसा भ्रमान्वित जाल भरा हुआ है कि यह बात उनको चौंका देती है। परन्तु हमको इस सिद्धान्त का सौंदर्य लोगों को बताना है।

उक्तरूपे विममे विशेषेण परिच्छिनत्ति। किं स्वोपभोगाय नेत्याह। सुक्रतू यया शोभनकर्मेच्छया। येन कर्मणा प्राणिनां सुखं संभवति तादृक् कर्मेच्छया।

(ऋग्वेद भाष्य १।१६०।४ सायणकृत)

रजत जयन्ती* के बारह दिन के उत्सव में डर्बन में अच्छी चहल पहल रही और आर्यों तथा अन्य भारतीयों में अच्छी जागृति उत्पन्न हुई। दक्षिण अफ्रीका के अन्यान्य व्याख्यान-दाताओं ने आकर सहयोग दिया।

जयन्ती के समय मेरे कार्य का क्रम यह था :—

(१) बुधवार, १५ फर्वरी, ५०, ५-३० बजे सायंकाल, जयन्ती का उद्घाटन।

(२) शुक्रवार, १७ फर्वरी, ४-३० बजे, व्याख्यान Ideals of Hindu Womanhood (स्त्री जाति का आदर्श)

(३) शनिवार, १८ फर्वरी, ३ बजे "Youth & Religion" (युवक और धर्म)

(४) रविवार १९ फर्वरी, २-३० बजे, Salvaton of the soul (जीव की मुक्ति)

(५) सोमवार, २० फर्वरी, ५-३० बजे Origin, mission & scope of the Aryasamaj (आर्य समाज का आरम्भ, उद्देश्य तथा मर्यादा)

(६) बुधवार, २२ फर्वरी, ५-३० बजे, Dayananda & Veda (दयानन्द और वेद)

(७) वृहस्पतिवार, २३ फर्वरी, ५-३० बजे, आर्य समाज के कार्यकर्त्ताओं को मान पत्र।

(८) शुक्रवार, २४ फर्वरी, ५ बजे Marriage & Married life (विवाह और विवाहित जीवन)

(९) शनिवार २५, फर्वरी, सर्वधर्म सम्मेलन "ईश्वर का स्वरूप।"

(१०) रविवार २६ फर्वरी जुलूस तथा वेद मन्दिर की नींव पर व्याख्यान।

जयन्ती उत्सव की २६ फर्वरी को इति श्री हुई। इसके पश्चात् मैं तीन सप्ताह डर्बन में ही रहा। इस बीच में ट्रांसवाल और केपकालोनी की यात्रा का प्रबन्ध किया गया और इन दो प्रान्तों के मुख्य नगरों के प्रसिद्ध भारतीयों से मेरे विषय में पत्र व्यवहार किया गया। डर्बन की कई बाहरी संस्थाओं ने मुझे व्याख्यान देने के लिये भी निमंत्रित किया। इनमें मुख्य यह हैं:—डर्बन विश्वविद्यालय का यूरोपियनों से इतर विभाग। थियोसोफीकल सोसाइटी सब (यूरोपियन थे)। वाई० यम० सी० ए० जो कोरी यूरोपियन संस्था है। इसके अतिरिक्त कई सनातन धर्मी मन्दिर और स्कूलों ने भी मुझे निमंत्रण दिया।

यद्यपि राजनीति के क्षेत्र में यूरोपियनों और भारतीयों के मध्य में अनेक उलझनें विद्यमान हैं तथापि बहुत से यूरोपियन हैं जो चाहे अपने देश में भारतीयों को बसने देना न चाहें, फिर भी भारतीयों की सभ्यता, दर्शन, धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में जानने की उत्सुकता रखते हैं। महात्मागांधी के नाम ने तो उनमें एक नई स्फूर्ति उत्पन्न कर दी है। अब उनके मस्तिष्क में उस गाँधी का चित्र नहीं है जिसके समुद्र में डुबोने के लिये समस्त डर्बन के यूरोपियनों ने शपथ खा ली थी। जो गोरे भारतवर्ष के विषय में कुछ भी नहीं जानते वे भी गांधी और उनके अनुयायियों के लिये धुंधला सा आदर रखते हैं। इसके विषय में मैं एक घटना का उल्लेख करूंगा। मैं ४ मई को जहाज़ पर चढ़ने के लिये श्री डाक्टर देसाई जी के साथ उनकी कार में पोतस्थल को जा रहा था। द्वार पर पुलिस रहती है जो यह देखती है कि इस कार में कोई निषिद्ध अथवा अमर्यादित वस्तु तो नहीं है। द्वार में प्रवेश करते ही एक गोरा अफसर आगे बढ़ा। और मेरे सिर पर गांधी टोपी देखकर मुसकरा कर कहने लगा:—'पंडित नेहरू!' मुझे भी

हंसी आगई और वह तुरन्त पीछे हट गया। वस्तुतः वह न तो यह जानता था कि पंडित किसे कहते हैं और न उसे यह मालूम था कि नहरू कौन है ? मैं कौन हूँ और नेहरू का मेरे साथ क्या सम्बन्ध है, परन्तु थी उसके हृदय में एक आदर और औत्सुक्य की झलक जिसको धुंधली झलक कह सकते हैं।

१६ मार्च को मेरा व्याख्यान वाई एम० सी० ए० में था। विषय था (Hnduism) हिन्दूधर्म और सभापति के श्री ई० एस० हेनोशबर्ग के० सी० (E. S. Henochsberg K. C.)। व्याख्यान के पूर्व मेरे पहुँचने पर वह मुझे बरामदे में लेनें आये और हाथ मिलाने के पश्चात् पूछने लगे P—u—n—d—i—t इसको आप कैसे उच्चारण करते हैं। मैंने कहा "पण्डित"। क्या पण्डित शब्द का अर्थ है देश-सेवक क्योंकि जवाहरलाल नेहरू के पहले भी पण्डित लगा हुआ हैं ? मैंने उत्तर दिया, "नहीं; हमारी भाषा में विद्वान के लियें पण्डित एक आदर सूचक शब्द है और मेरे कुछ मित्रों ने आदर के लिये मुझे यह उपपद दिया हुआ है।

व्याख्यान में मैंने आरम्भ में ही कह दिया कि हिन्दू धर्म का वास्तविक अर्थ है वैदिक धर्म। वैदिक धर्म वह मजबूत दीवार है जो दीर्घ काल से सुस्थित है और जस पर जब जब आँधी मेंह ने आक्रमण किया है तो लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार प्लास्टर किया है। वर्तमान हिन्दू धर्म यही प्लास्टर है जिसकी गहराई में नीचे सुदृढ़ दीवार मिलेगी। इस पर बहुत प्रश्न हुये। और आध घण्टे से अधिक तक चहल पहल रही। एक अंगरेज ने पूछा कि आप गाय का विशेष आदर क्यों करते हैं। मैंने कहा, वैदिक धर्म में तो प्रत्येक जीव के लिये आदर है। हम अपने उपभोग के लिये किसी पशु या प्राणधारी के के प्राण लेना पाप समझते हैं। परन्तु गाय का विशेष आदर

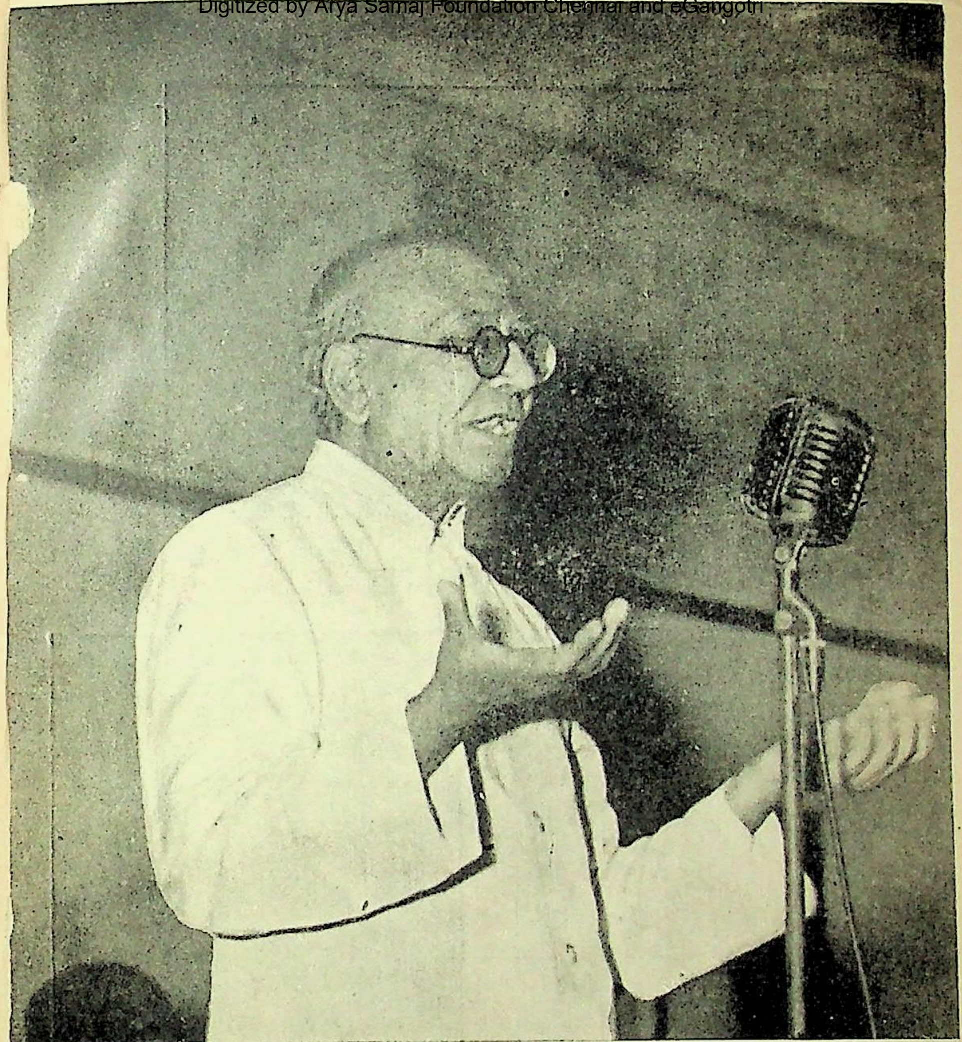
इसलिये है कि हमने उसका दूध पिया है। दूध पीते समय हमारे सामने अपनी माता का चित्र खिंच आता है। क्योंकि गाय माता न सही माता के सदृश अवश्य है।

थियोसोफीकल सोसायटी में व्याख्यान था वेदों पर। यह विषय उन्हीं लोगों ने चुना था। प्रधाना थीं एक यूरोपियन महिला। श्रोता भी यूरोपियन ही थे। पुरुष कम थे महिलायें अधिक थीं। व्याख्यान के पश्चात् चलते समय श्री प्रधाना जी ने पूछा, "क्या महाभारत वेद का अंग है?" मैंने यथेष्ट उत्तर दे दिया या। परन्तु इससे विदित होता है कि भारतवर्ष के विषय में लोगों को बहुत कम ज्ञान है। जो कुछ है वह अत्यन्त धुंधला।

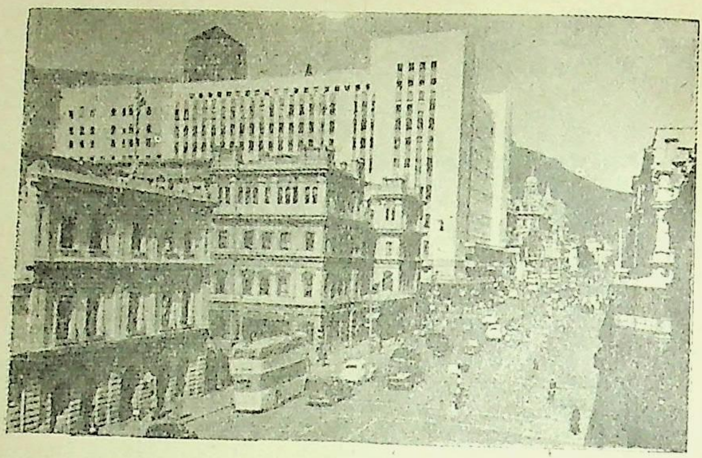
ट्रांसवाल और केपकालोनी

साउथ अफ्रीकन यूनियन अर्थात्, दक्षिण अफ्रीका संघ में चार प्रान्त हैं। नैटाल, ट्रांसवाल औरेंज फ्रीस्टेट तथा केपकालोनी। नैटाल के उत्तर में वाल नदी हैं उसके पार का भाग ट्रांसवाल कहलाता है। पश्चिम की ओर औरेंज प्रान्त हैं। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की ओर केपकालोनी। केपकालोनी का नाम केप आफ गुड-होप या आशा अन्तरीप के कारण हैं। वास्कोडिगामा समुद्र यात्रा करते करते अफ्रीका के दक्षिणी कोने अर्थात एक अन्तरीप पर आ पहुँचा। यहाँ उसको आशा हुई कि भारतवर्ष का कुछ पता लगा सकेगा अतः उसने उसका नाम आशा-अन्तरीप अर्थात केप-आफ-गुड-होप रक्खा। यह अन्तरीप भूमि की एक पथरीली नोक है जिसके पश्चिम की ओर अटलाण्टिक महासागर और पूर्व में हिन्द-महासागर हैं। जैसे भारतवर्ष में कुमारी अन्तरीप है जहाँ अरब सागर और बंगाल की खाड़ी का सम्मिलन होता हैं उसी प्रकार केप-आफ-गुड होप पर दोनों महासागरों का संयोग होता है। इस अन्तरीप के निकट में जो बस्ती बस गई उसका नाम हुआ केप-टाउन Cape Town और समस्त प्रान्त का नाम हुआ केप-कालोनी या अन्तरीप प्रान्त।

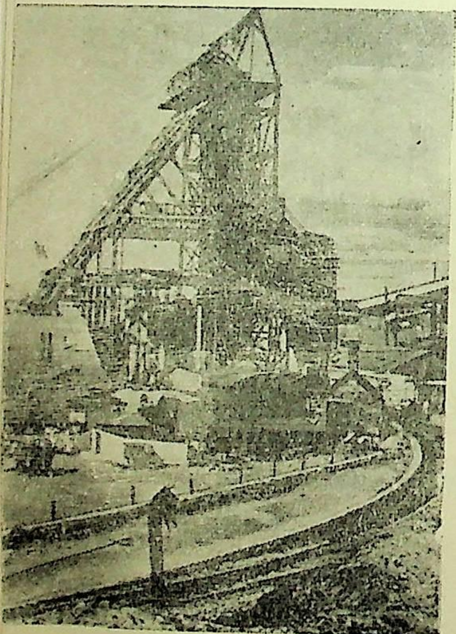
मैं १८ मार्च तक डर्बन में रहा। इस बीच में लोगों से पत्र व्यवहार होता रहा। मुझे नैटाल के प्रान्त में रहने की ३० मार्च तक की आज्ञा थी। मेरे आज्ञा-पत्र में अन्य प्रान्तों का उल्लेख न था। एक मित्र हैं श्री गणपति जी जोशी।



डर्बन की एक सभा में उपाध्याय जी



ऐडरले स्ट्रीट, केपटाउन



रैंड गोल्डमाइन



रिकशा बाय, डरबन

यह डाक्टर देसाई के परम मित्र हैं और उनके द्वारा मेरे ऊपर भी कृपा करते थे। यह सज्जन ऐसे व्यवसाय में हैं कि इनका काम विदेश-विभाग से बहुत रहता है। इनके द्वारा मेरे कई काम हो गये। मुझे कहीं जाना नहीं पड़ा। यह महाशय स्वयं ही आ जाते, मुझसे फार्मों पर हस्ताक्षर करा ले जाते, उन फार्मों को स्वयं कर्मचारियों के पास ले जाते और अन्त में सब ठीक ठाक कराके मुझे आज्ञा पत्र ला देते। इन्हीं के माध्यम से मुझे ट्रंसवाल और केपकालोनी में यात्रा करने की आज्ञा मिली और इन्हीं के द्वारा मेरे अफ्रीका में रहने की अवधि ३० अप्रेल तक बढ़ाई गई। करंजा जहाज मई के आरम्भ में जाने को था अतः मुझे यह आज्ञा मिल गई कि करंजा के प्रस्थान करने तक मैं दक्षिण अफ्रीका की भूमि में ठहर सकता हूँ। मेरे पास कुल छः सप्ताह थे। अन्तिम सप्ताह फिर डर्बन में देना था। आवश्यक था कि समस्त यात्रा को लगभग पाँच सप्ताह में समाप्त कर दूँ। यात्रा लम्बी थी अतः यह निश्चित हुआ कि मैं पहले उत्तर की ओर से आरम्भ करूँ। रेल में जानसबर्ग जाऊँ और वहाँ से कार में प्रीटोरिया। जानसबर्ग से वायुयान में किम्बरले, किम्बरले से केपटाउन, केपटाउन से पोर्ट एलीजबेथ, वहाँ से ईस्टलण्डन, फिर डर्बन वापिस। इन सब नगरों में कई सौ मील की दूरियाँ हैं। यदि वायुयान से प्रबन्ध न होता तो इतनी यात्रा असम्भव थी। डर्बन वालों ने हर नगर से यह निश्चित किया था कि यह उनका कर्त्तव्य होगा कि वे मुझे अगले नगर तक पहुँचाने का प्रबन्ध कर देवें।

१८ मार्च को चार बजे सायंकाल रेलगाड़ी से चलकर मैं १९ मार्च को प्रातःकाल ९ बजे के लगभग जानसबर्ग पहुँचा। जानसबर्ग में हिन्दू समाज तथा कई गुजराती संस्थायें हैं। श्री प्राणशंकर जी जोशी हिन्दू समाज के प्रधान हैं। इनसे मेरी

डर्बन में भी भेंट हुई थी। जानसबर्ग का समस्त प्रबन्ध इन्हीं के द्वारा होना था। यह कई प्रतिष्ठित सज्जनों के साथ स्वागत के लिये स्टेशन पर आ गये थे। जानसबर्ग में एक प्रतिष्ठित गुजराती परिवार रहता है। यह गोकुल परिवार कहलाता है। यह सम्पन्न भारतीय हैं और इस परिवार की तीन उपशाखायें हैं। मेरे रहने का प्रबन्ध श्री मोहनलाल ए० गोकुल के घर पर हुआ। श्री हरिभाई गोकुल भी मेरे आतिथ्य में पुष्कल भाग लेते थे।

जानसबर्ग मिश्र के काहिरा को छोड़कर अफ्रीका का दूसरा नगर है। जब मैं जानसबर्ग में ही था उस समय अमेरिका का एक प्रसिद्ध यात्री भी आया हुआ था। उसने वहाँ के स्थानिक पत्र में लिखा कि जानसबर्ग को छोटा न्यूयार्क कहना चाहिये। जानसबर्ग की नींव १८८५ ई० में पड़ी थी अर्थात् इसकी आयु केवल ६५ वर्ष की है। परन्तु इसी समय में यह एक विशाल नगर हो गया है। बड़ी-बड़ी लम्बी चौड़ी और स्वच्छ सड़कें हैं, मकानों की कई अट्टालिकायें हैं। सबसे ऊँचे भवन में २३-मंजिलें हैं। एक भारतीय सज्जन का भवन आठ मंजिल का है। वे मुझे सबसे ऊपर की मंजिल में ले गये। इस आठवीं मंजिल पर उन्होंने एक मन्दिर और एक पुस्तकालय बनाया है।

जानसबर्ग की आबादी साढ़े सात लाख है। अधिकतर संख्या यूरोपियन हैं जिनमें यहूदी लोगों की पर्य्याप्त संख्या है। यह उच्च श्रेणी के व्यापारी हैं। गुजराती लोग भी बहुत सम्पन्न हैं। इनका लाखों का कारबार होता है। परन्तु इनका एक पैर अफ्रीका में रहता है और दूसरा भारतवर्ष में।

१९ मार्च को रविवार था। उस दिन मेरा व्याख्यान गांधी हाल में Vedic Culture (वैदिक संस्कृति) पर अंगरेजी में हुआ। कई व्याख्यान हिन्दी में भी हुये। जो समय मिलता था वह नगर

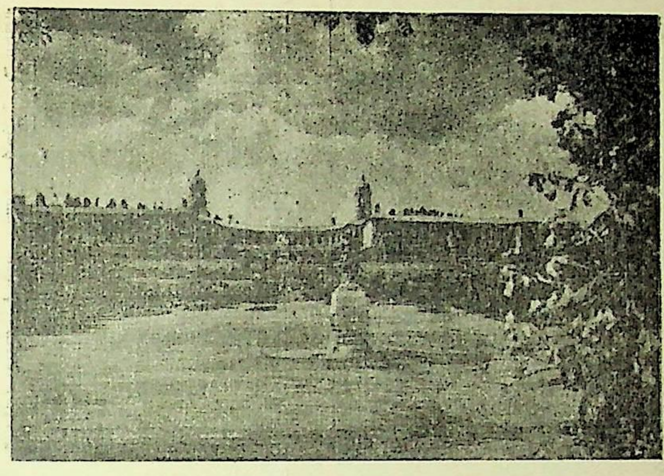
और उसके निकटवर्त्ती स्थानों के दृश्य-दर्शन में व्यतीत होता था। जानसबर्ग स्वर्ण-नगर है यहां सोने के खानें हैं। जानसबर्ग की सीमा में प्रवेश करते ही आपको पीले-पीले रेत के पहाड़ से दिखाई पड़ेंगे। यह रेत सोने की खानों में से निकाला जाता है। पूंजी पतियों के समान प्रकृति देवी भी अपने सोने को बहुत संभाल कर रखती है। लाखों मन रेत को खोदिये तो थोड़ा सा सोना मिलता है। यह पीला-पीला रेत उसी सोने का संरक्षक है। अभी वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आया कि इस रेत का क्या उपयोग किया जाय। अतः पहाड़ के पहाड़ जमा होते चले जा रहे हैं। कोई मुफ्त भी नहीं लेता। सोना कई सौ फुट की गहराई में मिलता है और बहुत से प्रयोगों के पश्चात् उसे शुद्ध करते हैं। सोने के कारखानों में जो काम करते हैं उनकी अलग बस्ती बसी हुई हैं। वहाँ किसी को जाने की आज्ञा नहीं है।

२६ मार्च से २९ मार्च तक यूनियन (दक्षिण अफ्रीका संघ) की राजधानी प्रीटोरिया में रहा। वहाँ हिन्दू सभा का अतिथि था और श्री एन० जी० काला एक गुजराती प्रसिद्ध व्यापारी के घर पर निवास था। रामनवमी का उत्सव मनाया गया और वहाँ मेरा व्याख्यान हुआ। यहाँ निरन्तर 'कई व्याख्यान हुये। अगरेज़ी में भी और हिन्दी में भी। भारतीय-छात्र-हाई स्कूल और यूरोपियन-हाई-स्कूल में भी व्याख्यान हुआ। इस अन्तिम स्कूल के सभी विद्यार्थी यूरोपियन थे। विषय था 'भारतवर्ष'। मैंने इनको बताया कि भारतवर्ष वह देश है जिसके नाम की चार सौ वर्ष पूर्व यूरोप में धूम थी। यूरोप वालों ने नाम सुना था। भारतवर्ष की बनी हुई चीज़ें भी देखी थीं। परन्तु यह पता नहीं था कि भारतवर्ष है कहाँ। फूल की सुगन्धि आती थी परन्तु यह ज्ञात न था कि उस फूल का बाग किधर

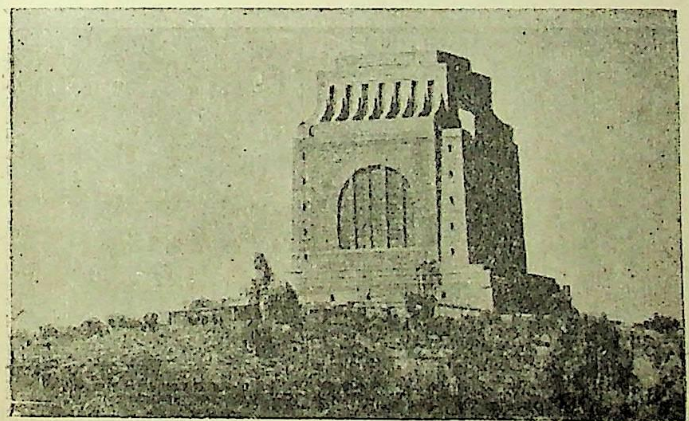
और कौन सा है। इसी ख्याति के आधार पर कोलम्बस भारत को खोजने चला और अमेरिका के जगलियों का नाम भारत रख दिया। मैं इसलिये आया हूँ कि आप से प्रार्थना करूँ कि जब आप बड़े हो जायँ तो यह पता लगावें कि 'भारत' की सभ्यता में ऐसी क्या विशेषतायें हैं जो भारत देश की आयु इतनी बड़ी और इसकी सभ्यता इतनी दीर्घ जीवी है।

प्रीटोरिया में तीन चीज़ें विशेष देखने को मिलीं। एक तो गर्वमेंट हाउस या सेक्रेटेरियट! इसको उसी विश्वकर्मा ने बनाया है जिसने दिल्ली की सेक्रेटेरियट बनाई है। चन्द्राकार है और बहुत सुन्दर। दृश्य मनोरम और पहाड़ी है। प्रीटोरिया को राजधानी बनाने में राजनीतिक कारण भी थे। शत्रु को इस पर आक्रमण करने में कठिनाई होगी। ऐसा विचार किया गया था। यह विचार उस समय के हैं जब एटम बम्ब या हाइड्रोजन बम्ब का आविष्कार नहीं हुआ था।

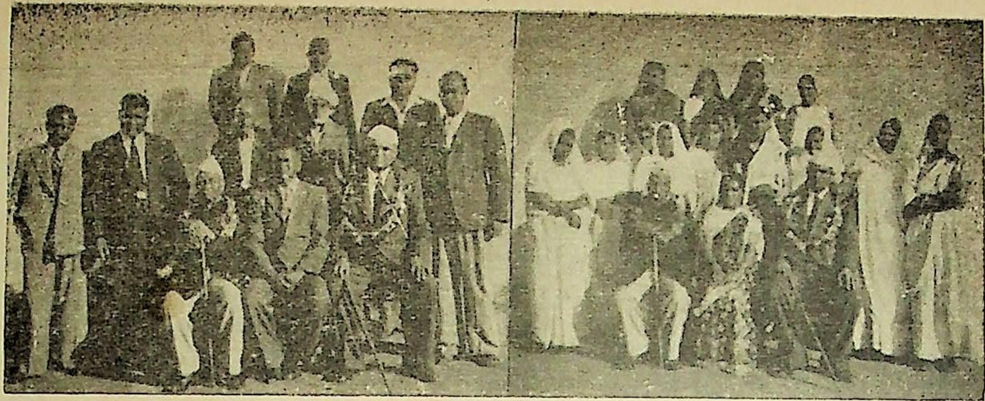
दूसरी प्रसिद्ध वस्तु है फोरट्रेकर स्मारक (Voor trekker Monument)। यह स्मारक उस घटना का है जब बूअर लोग अंगरेज़ों से तंग आकर केपकालोनी को छोड़ कर नये प्रान्तों की खोज में निकले। इन्होंने शपथ खाई थी कि हम अंगरेज़ों के दास नहीं रहेंगे। इसलिये इन्होंने बाल-बच्चों सहित गाड़ियों पर सामान रक्खा। घोड़ों पर सवार हुये और टोलियों की टोलियाँ जंगलों को पार करते हुये आगे बढ़े। अफ्रीका के आदि निवासियों से मुकाबिला हुआ। घोर युद्ध भी हुआ। अफ्रीका का एक राजा था डिग्गन। इससे पहले सन्धि हुई फिर डिग्गन ने सहभोज के बहाने बूअरों के सत्तर नेताओं को मार डाला। इस पर युद्ध हुआ। डिग्गन मारा गया। देश बूअरों के हाथ में आ गया। फोरट्रेकर स्मारक में |दीवारों पर उसी इतिहास के चित्र विस्तार पूर्वक



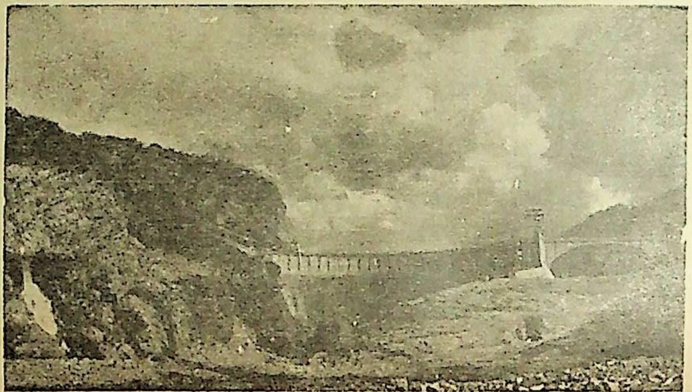
यूनियन बिल्डिंग, प्रिटोरिया



फोरट्रेकर मान्यूमेंट, प्रिटोरिया



ग्लैंको के आर्य समाज
कार्य-कर्त्ताओं के साथ
उपाध्याय जी



हार्ट बीस्ट स्प्रूट डैम
प्रीटोरिया

दिखाये गये हैं। इसमें एक विचित्र बात यह हैं कि छत में एक छिद्र है और निचले फर्श पर एक केन्द्र है। १६ दिसम्बर को उस छिद्र से एक किरण उस केन्द्र पर पड़ती है। अन्य दिनों में इसका प्रकाश नहीं आता। १६ दिसम्बर ऐतिहासिक दिवस है।

तीसरी चीज है हार्टबर स्प्रूटडैम (Hartbur spruit dam) यह प्रीटोरिया से कुछ मील दूर पर एक नदी का बाँध है जिससे खेती करने से लिये सिंचाई का प्रबन्ध किया गया है।

एक अद्भुत चीज़ और देखी जिसका सार्वजनिक कार्यों से सम्बन्ध नहीं। उसे कहते हैं वण्डर बूम (Wonder Boom) या विचित्र वृक्ष। 'वण्डर' शब्द का अर्थ हैं वैचित्र्य और बूम का अर्थ है वृक्ष। जैसे बरगद के वृक्ष की शाखायें भूमि में गड़कर नई शाखायें फोड़ती है और एक वृक्ष के कई वृक्ष हो जाते हैं उसी प्रकार एक वृक्ष के पांच वृक्ष होकर पंचवटी बन गई है। यह प्रीटोरिया से चार पांच मील की दूरी पर होगी!

हम २९ मार्च को प्रीटोरिया से जानसबबर्ग वापिस आ गये। ३० मार्च को एक व्याख्यान देना था। 'ईश्वर' विषय पर अंगरेज़ी में। ३१ मार्च को जानसबर्ग में एक बड़ी भारी प्रदर्शनी होनी थी। पहले विचार यह था कि ३१ मार्च को किम्बरले चला जाऊँ। परन्तु कई मित्रों ने विशेषकर जोशी जी ने आग्रह किया कि प्रदर्शनी को अवश्य देखना चाहिये। प्रदर्शनी का उसी दिन उद्घाटन हुआ था। प्रदर्शनी अद्भुत और विशाल थी। उसमें सोने की खानों में काम किस प्रकार होता है उसको भी छोटी छोटी मशीनों द्वारा प्रदर्शित किया गया था। फोरट्रेकर लोगों की यात्राओं के भी मौडल चित्र बनाकर दिखाये गय थे। आर्थिक और कृषि सम्बन्धी सुधारों का भी प्रदर्शन किया गया था। मेरे पास समय कम था। कुछ घण्टों में थोड़ा सा ही देख पाया।

फिर भी नमूने के लिये पर्याप्त था। पहली अप्रेल को वायुयान से चलकर किम्बरले आ गया।

किम्बरले किसी समय एक छोटा सा ग्राम था। एक बार एक यूरोपियन वहाँ से होकर गुज़रा तो उसने ग्राम के बालकों को कुछ चमकीले पत्थरों से खेलते देखा। औत्सुक्य से उसने उनको उठा लिया। लन्दन के रत्न परीक्षकों ने कहा कि यह तो साक्षात् हीरे हैं! अब क्या था? समस्त प्रदेश पर सरकार का पहरा हो गया और हीरे की खानों की खोज होने लगी। उस समय से किम्बरले एक उन्नतिशील नगर बन गया है। यूरोपियनों की बस्ती है। रेल है। वायुयान का स्थल है। बसें चलती हैं। स्वच्छ चौड़ी चकली सड़के हैं। भारतीय बहुत कम हैं। अधिकतर तामील और कुछ गुजराती। मैं श्री जी० एन नायडू के यहाँ ठहरा था। उनके परिश्रम से एक छोटा सा सुघड़ ओ३म् मन्दिर बना है। यहाँ रविवार को सायंकल सब भारतीय एकत्रित होते हैं। 'ओइम' का चित्र है। उसकी आरती होती है। अन्त में दर्शक कुछ पैसे भी चढ़ाते हैं। निराकार के उपासक आर्य्यसमाजियों और साकार के पूजक सनातनियों के यह बीच की चीज़ है। श्री नायडू जी उत्साही, उदार तथा प्रभावशाली व्यक्ति हैं। यहाँ व्याख्यान की तो बड़ी योजना नहीं बन सकी। केवल २ अप्रेल को मन्दिर में मेरा एक व्याख्यान हुआ उपस्थिति भी बहुत साधारण थी। परन्तु नायडू जी के प्रभाव से हीरे की खानों में काम होते हुये देख सका। बहुत बड़ा कारख़ाना है। पहरा कड़ा है। बिना विशेष आज्ञा के कोई जाने नहीं पता। आज्ञा भी कठिनता से मिलती है। खान से हीरे निकालने के कई क्रम हैं। पहले तो सैकड़ों मन मिट्टी खोदनी पड़ती हैं। विशेषज्ञ उसका परीक्षण करते हैं। सभी मिट्टी में हीरा नहीं होता। गाड़ियों भर मिट्टी फेंकनी पड़ती है। जिसमें हीरे का अनुमान होता हैं, उसे

बीसियों विद्युत की मशीनों द्वारा धोते हैं। जिस यूरोपियन कर्मचारी ने मुझे खानों को दिखाया उसने निरन्तर पृथिवी की आकर्षण शक्ति (Earth's power of gravitation) की ओर संकेत किया। इसका तात्पर्य यह था कि जब विद्युत मशीन द्वारा जल का प्रपात उस मिट्टी पर पड़ता है हलकी चीजें बह जाती हैं। भारी रह जाती हैं। हीरा सबसे भारी होता है अतः जो बहने से बच जाता है उसी में हीरे की खोज की जाती है। यह धोने का क्रम शनैः शनैः कई मशीनों द्वारा होता है। विशेषज्ञों ने जल के प्रपात की मात्रा निश्चित की है जिससे इष्ट पदार्थ बैठ जाय और अनिष्ट बहकर निकल जाय। अन्त में लाखों मन मिट्टी में से थोड़ा सा हीरा निकलता है। उसका वर्गीकरण और परीक्षण होता है। गुण और आकार की अपेक्षा से हीरे की कई किस्में हो जाती हैं और उसी के अनुसार उसका मूल्य होता है। हीरे निकालने के कारखाने में भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न दिखलाने वाले रहते हैं। प्रत्येक कर्मचारी भी हर जगह जाने नहीं पाता। हर एक की सीमा है। जहाँ निकले हुये हीरों का परीक्षण होता है वहाँ आप घुस नहीं सकते केवल बाहर से देख सकते हैं।

खानों की रक्षा के लिये कुत्तों को शिक्षा दी जाती है। इन कुत्तों का खेल प्रायः रविवार को दस बजे होता है। मुझे देखने का अवसर मिल गया। सैकड़ों कुत्तों को पहरा देना सिखाया जाता है। यदि आप एक दियासलाई को छिपाकर भीड़ में खड़े हो जायं तो कुत्ता आपको भीड़ में से पकड़ लेगा। कुत्तों की अद्भुत बुद्धि का पता लगाना हो तो किम्बरले के कूकुर शिक्षणालय को देखिये। आप मनुष्य पहरेदार को रिश्वत दे सकते हैं। परन्तु कुत्तों को नहीं। यह चौकीदार भी हैं और सी० आई० डी० भी।

किम्बरले में जो तीसरी चीज़ देखी वह है बन्टू गैलरी (Bantu gallery)। यह एक छोटा सा सुन्दर भवन है जिसमें कई दालान हैं। इनमें दक्षिणी अफ्रीका की काली जातियों के भिन्न भिन्न अवस्था के चित्र, तथा उनकी बनाई हुई चीज़ों के नमूने रक्खे हैं। यह गैलरी एक यूरोपियन महाशय डंकनक्रोनन (Duggan Cronin) की निज सम्पत्ति हैं। उन्होंने यह सब सग्रह किया है। और वही शायद १० बजे से ५ बजे तक सर्वसाधारण को यह गैलरी देखने देते हैं। एक रजिस्टर है जिसमें दर्शक अपना नाम तथा पता लिख देते हैं। तीन अप्रैल को लगभग दो घन्टे मैने इस पर व्यय किये। चौथी अप्रैल को वायुयान से केपटाउन को रवाना हो गया।

किम्बरले से केपटाउन लगभग ५०० मील दूर है। मैं दो बजे के लगभग चला था और ४॥ बजे पहुँच गया। वायुयान के पहुँचने का समय था ५ बजे। परन्तु वायुयान आध घन्टे पहले पहुँचा। अतः जब मैं उतरा तो कोई सज्जन न मिले। मुझे वायुयान में ही पता चल गया था कि हम नियत समय से तीस चालीस मिनट पहले पहुँचेगे। पंद्रह मिनिट पीछे हिन्दू सभा के कई प्रतिष्ठित सज्जन आ पहुँचे और सत्कारपूर्वक मुझको ले आये। इनमें श्री बाबरभाई चावड़ा, श्री चुन्नीलाल पलसानिया, श्री बनमाली भाई पटेल मार्शल तथा श्री गज्जर आदि थे। मैं साल्टरिवर की १० गोल्डस्मिथ स्ट्रीट में श्री मार्शल जी के घर पर उतारा गया।

केपटाउन दक्षिणी-अफ्रीका यूनियन का प्रसिद्ध नगर है। मुख्य नगर तथा उपनगरों को मिलाकर यह सत्तर अस्सी-मील के घेरे में बसा हुआ है। यहां देखने योग्य बहुत सी चीजें हैं।

मैं केपटाउन में ४ अप्रेल से १२ अप्रेल तक रहा। ईस्टर के

दिन थे। पार्लीमेण्ट की छुट्टियां थीं। यूरोपियन लोग अपने त्यौहार में लगे थे। वर्षा भी निरंतर होती रही। हिन्दू सभा के पास कोई विशेष हाल नहीं है अतः सार्वजनिक व्याख्यानों के प्रबन्ध में कठिनाई हुई। फिर भी साल्टरिवर का म्यूनिसिपल हाल मिल गया। मित्रों ने अन्य संस्थाओं में भी व्याख्यानों का प्रबन्ध किया। इनमें चार विशेष उल्लेख के योग्य हैं। थियोसोफीकल सोसायटी, वाई० एम० सी० ए०, यूनीवर्सिटी तथा एक अन्य प्राइवेट यूरोपियन संस्था जिसका उद्देश्य विश्व-प्रेम की स्थापना है। इन सस्थाओं मे यूरोपियन नर नारियों ने विशेष रुचि दिखाई। प्रश्नोत्तरों की झड़ी लग जाती थी। लोग भारतीय दर्शन, भारतीय समाज, भारतीय सभ्यता तथा भारतीय नैतिक अवस्था के जानने के लिये लालायित रहते थे। कभी-कभी विनोद भी हो जाता था। पुनर्जन्म पर बहुत प्रश्न होते थे। एक यूरोपियन ने मुझसे पूछा कि भारत में जात पांति का आरंभ कैसे हुआ ? मैंने कहा, "उसी प्रकार जैसे दक्षिण अफ्रीका में आजकल आरंभ हो रहा है। गोरे लोग अपनी जाति अलग रखना चाहते हैं। संकुचित विचार ही इन बुराइयों के कारण होते हैं।" यूनीवर्सिटी में व्याख्यान का विषय था "भारतीय-दर्शन"। यों तो प्रश्न बहुत हुये परन्तु एक प्रश्न उल्लेखनीय है। एक यूरोपियन सज्जन ने पूछा, "क्या भारतीय लोग दार्शनिक विचारों को अपने राजनैतिक जीवन की आधार शिला बनाते हैं ?" मैंने इसका उत्तर 'है' में दिया। मैंने बताया कि प्राचीन भारतवर्ष में राजनैतिक सिद्धान्त भी थे और उनके लिये एक दार्शनिक आधार भी था। आजकल भी हमारी वर्तमान राजनीति का आधार दार्शनिक विचार हैं।

केपटाउन एक सुन्दर नगर है। एक ओर टेबिलमाउण्टेन दूसरी ओर समुद्र का तट है। पश्चिम की ओर अटलाण्टिक

और पूर्व की ओर हिन्द महासागर है। दोनों केप आफ गुड-होप पर मिलते हैं। यह केप नगर से ४० या ४१ मील दूर है। मार्ग जंगल में होकर है। मैं जब ठीक केप के सिरे पर चढ़ा तो मेरी कल्पनाशक्ति ने मुझे उस दिन की याद दिलाई जब वास्कोडिगामा आया था और समस्त अफ्रीका नितान्त जंगली अवस्था में था। आज केप प्रान्त दक्षिण अफ्रीका का बाग है। यहाँ हर प्रकार के फलों का बाहुल्य है। सैकड़ों बीघे अंगूरों की खेती होती है। अंगूर बड़े स्वादिष्ट और सस्ते हैं। इसी प्रकार सेव आदि बहुत प्रकार के फलों की बहुतायत है।

टेबिल माउण्टेन के ऊपरी सिरे पर चढ़ने के लिये एक बिजली का खटोला है। जिसमें एक बार में आठरह आदमी बैठते हैं। एक आदमी का किराया साढ़े आठ शिलिङ्ग लगता है। यह खटोला बड़े मोटे तारों पर बिजली से चढ़ता है। चढ़ाई कई हज़ार फ़ुट है। नीचे देखने में डर लगता है। यह अनुमान लगा कर आश्चर्य होता है कि आरम्भ में तार के खंभों को किस प्रकार गाड़ा गया होगा। ऊपर एक चाय घर है। आप घण्टे आध घण्टे सैर कर सकते हैं। वहाँ से चारों ओर का दृश्य मनोहर दिखाई देता है।

केपटाउन में समस्त सप्ताह आनन्द और समारोह पूर्वक व्यतीत हुआ।

१३ अप्रैल को प्रातःकाल ८ बजे चल कर लगभग १० बजे पोर्ट एलीजे.बेथ पहुँच गये। केपटाउन पश्चिम की ओर अटलाण्टिक की तरफ है। पोर्ट एलीज़बेथ २०० या ३०० की मील दूरी पर अफ्रीका के पूर्वी तट का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह है। इसको पोर्टगाल वालों ने बनाया था और उसे अलगोआ बे के नाम से पुकराते थे। अब इसका अंगरेज़ी नाम पोर्ट एलीज़बेथ है। मेरी धारणा थी कि शायद इंगलैण्ड की महाराणी एलीज़बेथ के

नाम पर इसका नाम पड़ा होगा। परन्तु बात और निकली। यह नगर जब अंगरेज़ों के हाथ में आ गया तो इसका अंगरेज़ गवर्नर अपनी स्त्री सहित आ रहा था। मार्ग में उसकी पत्नी एलीज़ बेथ का देहान्त हो गया। उसी के नाम पर पोर्ट का नाम रख दिया गया।

पोर्ट एलीज़ बेथ एक विशाल और उन्नतिशील नगर है। इससे थोड़ी ही दूर पर यूटनहेग नामी एक छोटा सा क़सबा है। इन दोनों स्थानों पर उत्साही हिन्दू और आर्य समाजी रहते हैं। यह आपस में सुसंगठित हैं। एक हिन्दू मन्दिर है जहाँ रविवार को नियमानुसार उत्सव होते हैं। यहाँ आर्य समाज नहीं है परन्तु आर्य समाजी हैं। इनकी धार्मिक प्रवृत्ति है।

मैं यहाँ १३ अप्रैल से १८ अप्रैल तक रहा। प्रायः प्रति दिन व्याख्यान हुये। दो व्याख्यान टाउन हाल में हुये थे। पहले दिन के सभापति थे डिप्टी मेयर श्री एरेसमस (Erasmus) और दूसरे दिन के डाक्टर लौबशर (Dr. Laubscher)। दोनों व्याख्यानों में यूरोपियन नर नारी भी सम्मिलित हुये। १७ अप्रैल की शाम को यूटनहेग में व्याख्यान हुआ। पोर्टएलीज़ बेथ और यूटनहेग दोनों उद्योगी केन्द्र हैं और दिन प्रति-दिन बढ़ते जा रहे है।

१८ अप्रेल को पोर्ट एलीज़ बेथ से ३०० मील की दूरी पर हिन्दमहासागर के तट के एक दूसरे बन्दरगाह पर पहुँचे जिसे ईस्ट लन्दन कहते हैं। यहाँ भारतीय बहुत कम रहते हैं। मुझे बताया गया कि पहले चार हज़ार के लगभग थे। अब केवल ७५० हैं। यहाँ मोचीमण्डल की ओर से एक छोटा सा मन्दिर है। परन्तु यहाँ के हिन्दुओं के विचार कुछ संकुचित हैं।

श्री चेटी जी एक ईसाई सज्जन हैं। और श्री कासू जी एक मुसल्मान सज्जन। यह दोनों भारतीयता के नाते मेरा विशेष आतिथ्य करते रहे। और मेरे व्याख्यानों के प्रबन्ध में भी विशेष भाग लिया। पहले मेरी धारणा थी की केवल एक दिन रहकर डर्बन २० अप्रेल तक पहुँच जाऊँगा। परन्तु श्री चेटी जी जो मुझे वायुयान के अड्डे पर लेने आये थे कहने लगे कि आप को २३ ता तक तो अवश्य ही रहना है क्योंकि उन्होंने चार विशेष व्यख्यानों का प्रबन्ध किया था। मेरे ईस्ट-लन्दन पहुँचते ही वहाँ के स्थानिक दैनिक पत्र 'डेली डिस्पैच' केप्रतिनिधि कर्टिस महोदय आये और एक घण्टे तक आर्य समाज तथा भारत के विषय में बात चीत करते रहे। इसका वर्णन मेरे चित्र सहित उन्होंने १९ ता० के पत्र में दिया। २० ता० को ईस्ट-लन्दन से ७० मील दूर फोर्ट हेअर यूनीवर्सिटी (Fort Hare University) में व्याख्यान हुआ। यह यूनिवर्सिटी अधिकतर काले विद्यार्थियों के लिये है। कुछ भारतीय छात्र भी हैं। प्रिंसिपल हैं महाशय डेण्ट एक यूरोपियन। विद्यार्थियों ने उत्साह पूर्वक मेरे व्याख्यान में भाग लिया और ईसाई धर्म के विषय में बहुत प्रश्न किये। व्याख्यान के पश्चात् श्री डेण्ट और श्रीमती डेण्ट ने चाय से घर पर सत्कार किया और ग्यारह बजे रात तक वे तथा उनके दो तीन अंगरेज़ मित्र बातचीत करते रहे। हम एक बजे रात को अपने ईस्ट लन्दन के स्थान तक पहुँच सके। २१ अप्रेल को दो व्याख्यान थे। १½ बजे दिन के रौटरी क्लब में। अकस्मात् उस दिन ईस्ट-लन्दन में समस्त दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनों की एक विशेष मीटिंग थी और हर स्थान से प्रतिनिधि आये हुये थे। लगभग १७५ रोटेरियन एकत्रित थे। मेरा व्याख्यान २० मिनिट तक हुआ जो वहाँ के स्थानीय पत्र में दूसरे दिन छप गया।

दूसरा व्याख्यान था सवा पांच बजे वहाँ से ११० मील दूर रोड्स यूनीवर्सिटी हेम्सन कालेज में। हम लोग रोटरी क्लब से सीधे २ बजे चल पड़े और पांच बजे ग्रेहेम्सन पहुँचे। ७ बजे तक व्याख्यान से छुट्टी मिल गई। यह कलेज कोरा गोरे लोगों का है। उस व्याख्यान के सभापति थे एक योरोपीय सज्जन जो ग्रीक दर्शन के प्रोफेसर थे। उन्होंने संस्कृत से विशेष रुचि प्रदर्शित की। वहाँ व्याख्यान के पश्चात् एक भारतीय सज्जन के साथ भोजन किया। उस दिन भी १½ बजे रात के घर पहुँच सके। परन्तु यात्रा में आनन्द रहा।

२२ अप्रेल को कोई व्याख्यान न हुआ। उस दिन इंग्लैण्ड की ऐतिहासिक प्रसिद्धना-प्राप्त वोसवेल कम्पनी का सर्कस था। मेरे जी में आया कि सर्कस देखूं। अतः उस रात्रि को सर्कस देखने चला गया। मैं श्री राम लालजी हरी के घर पर ठहरा था। उनके बाबा हरिभाई पचास वर्ष से ऊपर हुये कि भारत से आये थे। यह मोची का काम करते थे। इस समय यह सम्पन्न हैं। यह अपने को हरीसन (Harrisan) कहते हैं। श्री हरि जी बहुत बुड्ढे हैं, तीनों पीढ़ियां जीवित हैं। श्री रामलाल जी संस्कृति के कार्य में बड़ी रुचि रखते हैं। चेटी जी और श्री कासृजी से घनिष्ट सम्बन्ध है। २४ अप्रेल को २ बजे चलकर ४ बजे के लगभग मैं ३७ दिन के पश्चात् डर्बन वापिस आ गया। हवाई अड्डे पर श्री डाक्टर देसाई जी, श्री सत्यदेव जी मंत्री तथा कई और सज्जन लेने आ गये थे। घर पर लाकर श्री देसाई जी कहने लगे, "लीजिये! यह है आपका कमरा"। श्री डाक्टर और श्रीमती देसाई जी का मेरे ऊपर इतना अनुग्रह था कि जब मैं ३७ दिन के पश्चात् लौटा तो ऐसा अनुभव होने लगा कि मैं ३७ दिन की विदेश यात्रा से अपने घर लौट रहा हूँ। परन्तु

जानता था कि ३० अप्रैल को करंजा जहाज बम्बई से आयेगा और चार पाँच दिन रह कर लौट जायगा। मुझे उसी जहाज़ में जाना था। मुझे एक पुराना भजन याद आ गया।

जिस गाड़ी में जाना तुझको,
पल छन में वह आती है।

कुछ देर नहीं, बांधो बिस्तर,
घन्टी आवाज़ सुनाती है।

इस अन्तिम सप्ताह का वर्णन करने से पूर्व उचित प्रतीत होता है कि अफ्रीका के कला कौशल के विषय में दो चार शब्द कह दूँ।

———

कला-कौशल

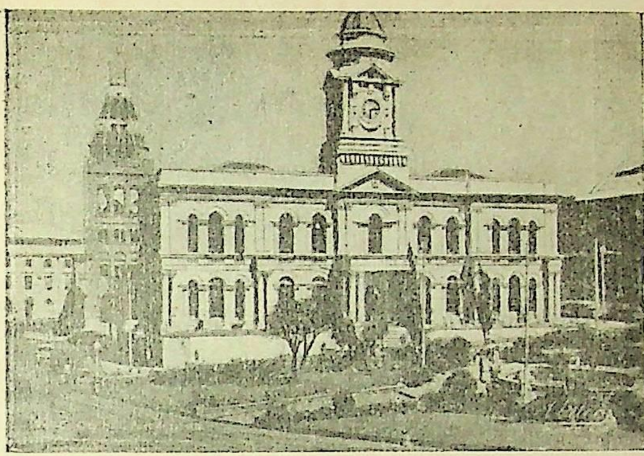
व्यापार, उद्योग तथा कला-कौशल की दृष्टि से दक्षिण-अफ्रीका को पूर्व और पश्चिम का मध्यवर्त्ती समझना चाहिये। यहाँ के बाज़ार यूरोपियन ढंग के हैं और कारबार भी यूरोपियन ढंग पर ही होता है। आप प्रातःकाल उन मार्केटों में जायें जहाँ फल, तरकारी आदि नीलाम के लिये आते हैं या बाज़ारों में दुकानों पर दृष्टि डालें। सब चीज़ नये ढंग की मिलेंगीं। मैंने पीटर्मैरिट्ज़ बर्ग, डर्बन, केप टाउन आदि के मार्केट देखे। खरीदने वाले मोटरें ले लेकर आ जाते हैं और नीलाम में चीजें खरीद कर अपनी दुकानों पर ले जाते हैं। दुकानें साफ सुथरी शीशे की सजी हुई मिलेंगी। मूली, गाजर आदि तरकारी भी शीशों के भीतर रक्खी मिलेंगी। प्रायः बाजार ९ बजे से ५ बजे तक लगते हैं। परन्तु दुकानों की प्रदर्शनी रात में विद्युत् प्रकाश द्वारा और दिन में अन्यथा २४ घण्टों होती रहती है। मैंने पुर्तगीज़ ईस्ट अफ्रीका में देखा कि १२ बजे दोपहर से ३ बजे सायंकाल तक ३ घन्टों की अनिवार्य छुट्टी रहती है। उस समय कोई दुकान या कोई बाजार खुला नहीं मिल सकता। परन्तु अन्य स्थानों में ऐसा नहीं है। हां, रात में चाय घरों या भोजनालयों के अतिरिक्त और कहीं कोई दुकान खुली नहीं मिल सकती।

हम ऊपर भी कह चुके हैं कि किम्बर्ले में हीरे की खानों का बहुत बड़ा कारखाना है और जानसबर्ग में सोने का। दक्षिणी अफ्रीका हीरे और सोने के कारण बहुत धनाढ्य हो

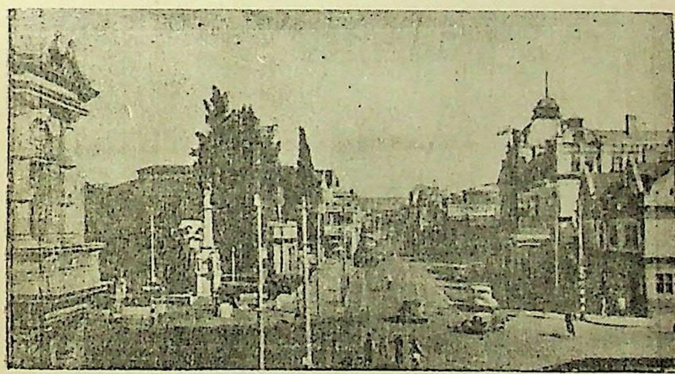
गया है। यह कारखाने बहुत बड़े हैं और यहाँ हजारों आदमी काम करते हैं।

पीटर्मेरिट्ज़बर्ग में लैदर फेक्टरी है। इसमें जूते बनाये जाते हैं। यह फैक्टरी बहुत बड़ी है। सब काम कलों से होता है। एक जूते के बनाने के लिये लगभग २०० कारीगर होंगे। प्रत्येक कारीगर एक-एक भाग बनाता है। और जितना भाग बन जाता है वह आगे को बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार मिनिटों में हज़ारों जोड़े तैयार हो जाते हैं।

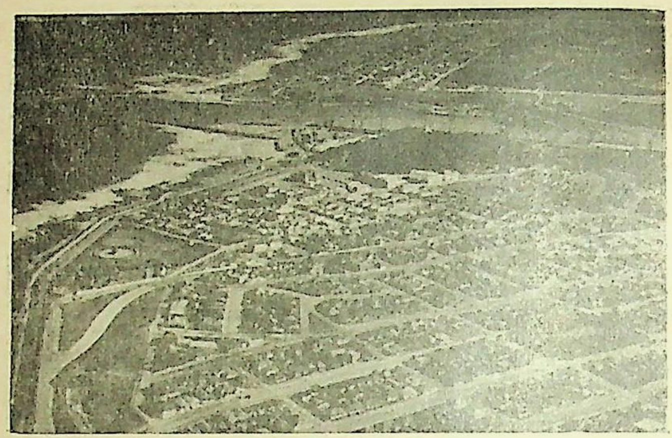
पोर्ट एलीज़बेथ में मैंने दो बड़े कारखाने इसी प्रकार के देखे। एक तो मोटर बनाने का। यह बहुत बड़ा कारखाना मीलों में फैला हुआ है। मोटर बनाने के लिये बड़े-बड़े दालान हैं। इनमें बिजली की कलें लगी हुई हैं। यही कलें मोटरों के पुर्जों को अलग-अलग बनाती हैं और जोड़ती भी हैं। मोटरों की पंक्तियां की पंक्तियाँ बिजली की कलों पर आप को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लटकती हुई जाती मिलेंगी। कारीगर लोग अपने-अपने स्थानों पर अपने औज़ार और सामान लिये खड़े रहते हैं। बिजली की कलें उन मोटरों को उन कारीगरों तक लाती हैं और वे वहीं जल्दी से अपने हिस्से का काम कर देते हैं। मोटर आगे चल पड़ती है। इस प्रकार एक मोटर अपने आरम्भिक जीवन से लेकर अन्तिम विकसित अवस्था तक भिन्न-भिन्न हाथों में गुज़रती हुई एक बहुत लम्बी यात्री करती है। और अन्त में एक दरवाज़े पर आकर एक ड्राइवर के हवाले हो जाती है। यह ड्राइवर अब जांच करता है कि मोटर के चलने में कोई कमी तो नहीं रह गई। इसकी परीक्षा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की भिन्न-भिन्न सड़कें भी उसी कारखाने में मौजूद हैं। मोटर की फैक्टरी देखने के लिये विशेष पास लेना पड़ता है।



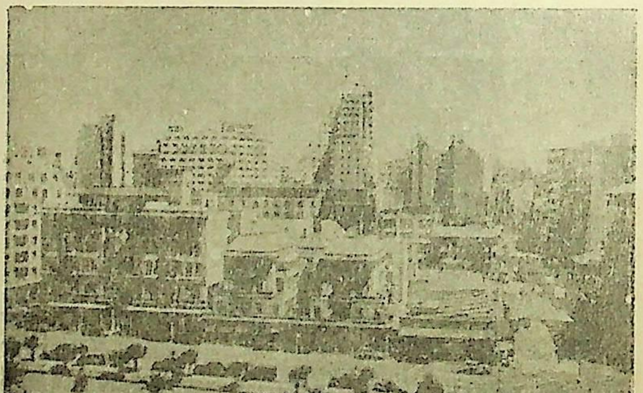
सिटी हाल पोर्ट एलीजेबेथ



पीटर्मेरिट्ज़बर्ग की एक सड़क



वायुयान से ईस्ट लंडन नगर



सेंट्रल एरिया, जहानसबर्ग

पोर्ट एलीज़बेथ में मैंने टीव्रो नामकी कमीजों की बहुत बड़ी प्रसिद्ध फेक्टरी देखी । इसमें भी कपड़े की काट से लेकर अन्तिम बटन या काज तक हर एक काम बिजली से होता है। एक कमीज़ लगभग ३२ हाथों से गुज़र कर तैयार होती है। टीव्रो कारखाना सिन्धी लोगों का है।

टीव्रो का अर्थ हैं टीमक दास ब्रदर्स। इस फैक्टरी के मालिक हैं श्री मैथाराम जयराम दास! यह सज्जन धर्म-प्रेमी हैं। मेरे व्याख्यान में निरन्तर आते रहे और आदर-पूर्वक समस्त कारखाना दिखाया।

पोर्ट एलीजे.बेथ से कुछ दूर पर यूटनहेग नामक छोटा सा क़स्बा है। इसमें मोटरों के रबड़ टायर तैयार होते हैं। यह कारख़ाना भी बहुत बड़ा है और विद्युत् चमत्कार का एक अच्छा नमूना है। आपने बाजारों में जो "गुडइयर टायर" (Goodyear tyre) देखे होंगे वे यूटेनहेग में ही बनते हैं।

दक्षिण अफ्रीका में बिजली का प्रभाव अधिक है। घरों में खाना भी प्रायः बिजली से पकता है। कपड़े बिजली से धुलते हैं। कहीं-कहीं तो फर्श का कूड़ा निकालने के लिये भी बिजली की झाड़ुयें हैं। हिन्दू घरों में देवियाँ खड़े-खड़े बिजली के चूल्हों पर खाना पकाती हैं।

दक्षिण अफ्रीका में मोटरें बहुत हैं। जानसबर्ग की आबादी ७½ लाख है। उसमें एक लाख मोटरें है। अन्य स्थानों पर भी मोटरें बहुत हैं। खेती में भी बिजली का ही प्रयोग होता है।

डर्बन में अन्तिम दशाह

मैं डर्बन में २४ अप्रेल को वापिस आया और ४ मई तक रहा। जिस प्रकार जनवरी का प्रथम सप्ताह मेरे स्वागत में व्यतीत हुआ उसी प्रकार अप्रेल का अन्तिम सप्ताह मेरी विदाई के सम्बन्ध में। किसी फारसी कवि का कथन है :—

याद दारी कि वक़्ते ज़ादने तो,
हमा खंदाँ बुदन्द तो गिरियाँ।
आँ चुनाँ ज़ी की बादे मुर्दने तो,
हमा गिरियाँ बुवन्द तो खंदाँ॥

अर्थ

याद रख कि जब तू पैदा हुआ था,
तब सब हँसते और तू रोता था॥
इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर कि जब तू मरे,
तो सब रोवें और तू हँसे॥

ईश्वर को धन्यवाद है कि मेरी दक्षिण अफ्रीका की यात्रा पर यह कविता अधिकांश तक चरितार्थ होती है। जब मैं डर्बन आया था तो अपने भावी कार्य के विषय में चिंतित अवश्य था। और जितना अधिक मेरा सत्कार होता था उतनी मेरी चिन्ता बढ़ जाती थी। मुझे भय था कि जिन्होंने इतने आदर के साथ मुझे निमंत्रण दिया उनको किसी प्रकार असन्तोष अथवा निराशा न हो। परन्तु अब मेरे कन्धों का बोझ हलका था। मेरे परिवार के लोग, मेरी पत्नी जी, मेरे पुत्र और मेरे पौत्र सभी उत्सुक थे

कि मैं शीघ्र भारत को लौटूं। मेरे छोटे पोते तो अपनी मोटी कलम से बड़े-बढ़े बाल्योचित शब्दों में इतना ही लिखते थे :—"बाबा तुम कब आओगे और क्या लाओगे ?" श्रीमती देसाई जी इन पत्रों को पढ़ती थीं। मेरे लिये यह छोटा सा वाक्य अनेक अर्थों का बोधक था। ईश्वर ने बहुत सी सुख की सामग्री देकर और बहुतसी सुख की सामग्री से वंचित करके जो मेरे ऊपर परम दयालुता की वर्षा की है उसमें एक और सबसे बड़ा दान है पारिवारिक प्रेम का। मैं अपने परिवार के छोटे और बड़े प्रत्येक व्यक्ति के प्रेम का भाजन हूँ। इसको मैं अपना सबसे बड़ा सौभाग्य समझता हूँ। मेरी घर लौटने की उत्सुकता स्वाभाविक थी। परन्तु दक्षिण अफ्रीका के मित्रों ने अपने स्नेह से इस उत्सुकता में एक विचित्र सम्मिश्रण उत्पन्न कर दिया था। मुझे भी उन मित्रों को छोड़ने में पीड़ा होती थी। उस पीड़ा की मात्रा कितनी थी इसका विश्लेषण व्यर्थ है। आज मैं अपने परिवार के मध्य में वैठा हुआ भी उस विश्लेषण को सह्य नहीं समझता। श्री डाक्टर देसाई और श्रीमती देसाई के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि मैं उनको याद रखने का प्रयत्न नहीं करता अपितु भुलाने का प्रयत्न करता हूँ और इन पंक्तियों को लिखते समय अनेक प्रकार का राग उत्पन्न हो उठता है।

डाक्टर देसाई के घर में एक बिल्ली थी। वह कमरे में आने लगी। जब मैं संध्या करता तो मेरी गोद में आ बैठती। जब मैं सोता तो नीचे बिछे हुये फर्श पर आ लेटती। शनैः शनैः उसका अनुराग इतना बढ़ा कि वह मेरे पलंग पर चढ़ने लगी। मैं हलके हाथ से उसको भगा देता। परन्तु वह फिर आजाती। कभी-कभी रात में मेरी परेशानी को देखकर श्री डाक्टर जी या श्रीमती जी अपने शयनागर से दौड़कर मेरे कमरे में आतीं और बिल्ली को

पकड़ कर ले जातीं। वे क्षमा मांगतीं कि यह बिल्ली आपको दिक्क करती है और संध्या करने नहीं देती। मैं उनसे कहता कि संध्या-भंग की शिकायत व्यर्थ है। यदि संध्या के साथ साथ मुझे किसी जीव को प्यार करने का अवसर मिले तो यह तो संध्या का शुभ परिणाम है। जीवों से प्रेम करना ही ईश्वर से प्रेम करना है। परन्तु मैं सोचता यह हूँ कि यदि मेरे और इस बिल्ली के बीच में मैत्री बढ़ गई तो चलते समय मेरी या इस बिल्ली की मनोवृत्ति क्या होगी ? संभव है मैं अपनी मनोवृत्ति को दिशा को दार्शनिक विचारों के वेग से पलट सकूं परन्तु क्या यह बिल्ली भी ऐसा ही करेगी यह मुझे बड़ा सन्देह था। अस्तु !

मेरी विदाई का एक रोचक पुरोगम बनाया गया। कई मित्रों ने सहभोज दिये। कई संस्थाओं ने विदाई की सभायें कीं। कुछ व्याख्यानों की योजना भी बनाई गई। २९ अप्रेल को आर्य्य प्रतिनिधि सभा डर्बन की ओर से एक सार्वजनिक सभा की गई। उसमें नैटाल के अन्य नगरों के भाइयों ने भी भाग लिया। डर्बन के निकटवर्ती उपनगरों के तो सभी भाई बहिन उपस्थित थे। एक सम्मानपूर्ण मानपत्र दिया गया और साथ ही १०१ पौंड भी मेरे निज उपभोग के लिये भेंट किये गये। इसके अतिरिक्त पीटर्मेरिट्ज बर्ग की ओर से श्री एफ० सत्यपालजी ने १५ गिन्नियां भेंट की। श्री मेढ़ई जी ने एक सौवरेन भेंट किया जिसका मूल्य पांच पौंड था। मैंने १०१) पौण्ड तो सार्वदेशिक सभा के कोष में इसलिये भिजवा दिये कि इस दिन के स्मारक स्वरूप इस राशि को दक्षिण-अफ्रीका के उपयोगी साहित्य के निर्माण में व्यय किया जाय और शेष भेंट (जिस में श्री बी० एम० पटेल जी की १०१) पौण्ड की राशि भी शामिल है और सनातन धर्म सभा डर्बन की १५ गिन्नियां तथा दो चार और राशियां दयानन्द पुरस्कार निधि की अपील में भेज दी गईं।

॥ ओ३म् ॥

गं० प्रसाद उपाध्याय एम० ए०
मंत्री

सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा,
बलिदान भवन,
दिल्ली

डर्बन
30-8-40

श्री मंत्री जी, आर्य प्रतिनिधि सभा नैटाल, (दक्षिण अफ्रीका)
डर्बन

नमस्ते

आज मेरी विदाई के अवसर पर जो आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से 3 बजे सायंकाल (सभाभवन 21 कार्लाइल स्ट्रीट (Carlisle Street) में किया गया मुझे सभा ने अपने निज उपयोग के लिये 101 पौण्ड की थैली भेंट की उस के लिये मैं आप का अत्यन्त आभारी हूं। मैं ने इस धन का इस प्रकार उपयोग करने का निश्चय किया है कि यह धन श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सार्वदेशिक सभा दिल्ली के कोष में जमा कर दिया जाय और उस से दक्षिण अफ्रीका प्रान्त की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर विशेष कर अंग्रेजी भाषा में तथा अन्य भाषाओं में भी वैदिक धर्म सम्बन्धी उचित साहित्य निकाला जाय। पुस्तकों का नाम "दक्षिण अफ्रीका प्रचार सीरीज" होगा तथा इस के लिये एक [illegible] देवे और इस मूलधन से पुस्तकें छपवावे तथा बेचे, जो धन मिले वह आगे भी इसी माला की वृद्धि में लगाया जाय।

जो पुस्तकें छपें उन में उचित स्थान पर अथवा अन्य उचित स्थान पर इस पत्र की लिपि उद्धृत रहे जिस से इस अवसर की स्मृति बनी रहे। आशा है कि आपकी सभा तथा सार्वदेशिक सभा को यह प्रस्ताव स्वीकार होगा।

भवदीय
गंगाप्रसाद उपाध्याय

३ मई को एक सार्वजनिक सहभोज दिया गया जिसमें डर्बन की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सभी भारतीय संस्थाओं ने भाग लिया। यह भोज था तो आर्य्यप्रतिनिधि सभा नैटाल की अध्यक्षता में, परन्तु किया गया था गाँधी हाल में। सभापति थे श्री एस० एल सिंह जी और वक्ता तो अनेक भाई और बहन थे। इसमें जो कुछ कहा गया उसका मेरे स्मृति-पटल पर गहरा अंकन है।

एक शोक की घटना भी है जिसका मैं यहाँ वर्णन करदूं। दक्षिणी अफ्रीका के एक धनी मानी सज्जन थे श्री बी एम० पटेल। यह प्रायः आर्य्यसमाज, हिन्दू सभा तथा अन्य भारतीय संघों में आसाधरण रुचि रखते थे। मेरे साथ भी उनकी मैत्री हो गई थी। वे ५ मार्च को छः मास के लिये करञ्जा जहाज़ से भारत के लिये रवाना हुये। उनके साथ उनकी वृद्धा पत्नी जी तथा दो पुत्र श्री जयन्तीलाल जी बी०ए०,एल-एल० बी० और श्री नटवर लालजी भी थे। भारत चलने से कुछ दिन पूर्व वह मेरे पास आये और कहने लगे कि दयानन्द पुरस्कार निधि के लिये मैं १०१) पौंड दे चला हूँ इसको अभी प्रकट न करना। लौटने पर मैं अन्य मित्रों से भी दान प्राप्त करने की चेष्टा करूँगा। उन्होंने यह वचन भी दिया कि मैं दिल्ली जाकर सार्वदेशिक सभा भवन को और इलाहाबाद जाकर तुम्हारे परिवार को भी देखूँगा। मैंने दिल्ली और प्रयाग को तद्विषयक पत्र भी लिख दिये थे। ५ मार्च को जब वह जहाज़ पर जाने लगे तो कई प्रतिष्ठित सज्जन उनको जहाज़ पर विदा करने गये। मेरा स्वास्थ्य कुछ खराब था। मैं घर छोड़ने में असमर्थ था। अतः मेरी उनकी टेलीफोन पर बातचीत हुई। मैंने विनोद में कहा, "भारत तो मुझे जाना चाहिये और जा रहे हैं आप।" वह कहने लगे, जून में मेरे पुत्रों का विवाह होगा।

उस समय तक आप भी भारत लौट आवेंगे। मैं निमंत्रण दूंगा। आप अवश्य विवाह में सम्मिलित हों"।

६ मार्च को प्रातः काल हम सब को दुखद समाचार मिला। कि ५ मार्च को रात के ९ बजे मार्ग में ही जहाज़ पर अचानक उनका प्राणान्त होगया और उनका परिवार लौरेंको मार्कस से वापिस आ रहा है। जीवन की क्षणभङ्गुरता का यह एक देदीप्यमान दृष्टान्त था। और ३० अप्रेल तथा ३ मई के विदाई के अवसर पर श्री बी० एम० पटेल की दुःखदायक अनुपस्थिति का हम सब को अनुभव हुआ। परन्तु असह्य से असह्य वियोग को भी सह्य बनाना ही पड़ता है।

४ मई को २ बजे के पश्चात् मैं अपने सामान के साथ करंजा जहाज़ पर पहुँचा। कस्टम के कर्मचारियों ने मेरा समान देखा और पास करके जहाज़ पर चढ़ा दिया। जहाज़ छूटने का समय था ५ मई का अपराह्ण। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के यात्रियों को आज्ञा थी कि वे ४ मई को अपने घर पर जा सकते हैं। और ५ मई को ११ बजे पूर्वाह्ण तक वापिस आ सकते हैं। अतः सामान को छोड़कर मैं श्री डाक्टर देसाई जी के साथ वापिस आगया। ४ मई की रात्रि को श्री एस० एल० सिंह जी ने एक सहभोज दिया जिसमें कई प्रतिष्ठित मित्र निमंत्रित थे।

५ मई को हम लोग १० बजे के लगभग ही बन्दरगाह में पहुँच गये। बहुत से आर्य्य भाई और बहिन हमको विदा करने जहाज पर आये। गाँधी-टागोर लेक्चरशिप के अधिकारियों ने जहाज़ पर आकर मेरा सम्मान किया। १ बजे के लगभग जहाज़ की सीटी बजी कि दर्शक लोग जहाज से उतर जावें और थोड़ी देर पीछे मैंने देखा कि जहाज बन्दरगाह को छोड़कर समुद्र में चल रहा है।

५ मई को डर्बन से चलकर मैं २८ मई को बम्बई पहुँचा और २९ मई को रात को बम्बई से कलकत्ता मेल में बैठकर ३० मई को ८ बजे रात के समय प्रयाग आ गया। मैंने प्रयाग २ दिसम्बर १९४९ को छोड़ा था और मैं ३० मई १९५० को प्रयाग वापस लौटा अर्थात् लगभग ६: मास पीछे। स्टेशन पर मेरे परिवार के लोगों के अतिरिक्त कई प्रतिष्ठित मित्र तथा आर्य्य समाजों के सभ्य उपस्थित थे। श्री शंकर शरण जी, जज, हाई-कोर्ट, इलाहाबाद* मुझे अपनी कार मे मेरे घर पर छोड़ गये।

———

*अब कस्टोडियन-जनरल आफ इण्डिया।

दक्षिण-पूर्व एशिया में

यात्रा का सामान्य वर्णन

१२ दिसम्बर १९५१ ई० अर्थात् मार्गशीर्ष शुद १४ को बुधवार था। दोपहर के बारह बजे होंगे कि हवाई जहाज़ के यात्रियों में कुछ हलचल सी दिखाई पड़ी। मैंने उत्सुकता से पूछा तो ज्ञात हुआ कि रंगून आ गया। हम सब को उतरना चाहिये। हम कलकत्ते से ७ बजे प्रातःकाल चले थे। एक घण्टे के लगभग घड़ियों के हेर-फेर में लगा। क्योंकि रंगून की घड़ी कलकत्ते की घड़ी से एक घण्टे के लगभग आगे रहती है।

मेरे साथ मेरे मित्र श्री मिहरचन्द्र धीमान के बड़े भाई श्री धर्मचन्द्र जी धीमान् भी थे। वे किसी अपने कारबार के लिये रंगून जा रहे थे। मुझे एक साथी मिल गये। हम दोनों जहाज़ से उतर पड़े और निरीक्षण भवन में आये जहाँ हमारे पासपोर्ट, तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रमाण पत्र देखे जाने को थे। मेरे हाथ में केवल एक झोला था। मेरा बक्स तो हवाई जहाज़ के अधिकारियों के संरक्षण में था। श्री धर्मचन्द्र जी तो अपने प्रमाण पत्र दिखाने में लग गये। मैं एक बेंच में बैठने को ही था कि एक लम्बे क़द, गौरवर्ण, मुस्कराते हुये प्रसन्नवदन सज्जन ने अत्यन्त कोमल और धीमे स्वर में मुझसे पूछा, "क्या आपका नाम गंगाप्रसाद उपाध्याय है?" मेरे 'हाँ' कहने पर उन्होंने बताया कि उनका नाम डाक्टर ओ३म् प्रकाश है और वह मुझे लेने के लिये आये हुये हैं। उन्होंने यह भी कहा कि सम्भवतः अन्य सज्जन भी आने वाले हैं।

मुझसे कलकत्ते से चलते समय एक भूल हो गई थी। मैं रंगून वालों को पहले लिख चुका था कि मैं १२ दिसम्बर को रंगून पहुँचूँगा और वहाँ से माँडले चला जाऊँगा। ११ दिसम्बर को जब मैं कलकत्ते पहुँचा तो श्री मिहिरचन्द्र धीमान कहने लगे कि बड़े भाई साहब तो साथ जाते ही हैं अब तार देने की आवश्यकता नहीं है। रंगून की आर्य समाज के अधिकारी गण तार की प्रतीक्षा में रहे। श्री ओ३म् प्रकाश जी अटकल से चल दिये।

रंगून का हवाई जहाज़ का अड्डा ७ मील से कम दूर नहीं है, अतः श्री प्रधान जी तथा अन्य सदस्य तार की प्रतीक्षा में ही रह गये। मुझे श्री ओ३म् प्रकाश जी की उपस्थिति से अनेक सुविधायें प्राप्त हो गई। वह अधिकारियों से परिचित थे। ब्रह्मदेश की भाषा भी जानते थे। अतः पूछ ताछ का काम सरलता से पूरा हो जाता था। चेचक के टीके का प्रमाण पत्र, पीत-ज्वर (Yellow fever) के टीके का प्रमाण पत्र, विषूचिका के टीके का (Cholera) प्रमाण पत्र सभी दिखाये गये। और इस समस्त यात्रा-कृत्य की पूर्ण-संस्थिति के पश्चात् लगभग २ बजे डाक्टर ओ३म् प्रकाश जी के घर नं० ४०, ४८ स्ट्रीट रंगून में आ गये। स्नान और भोजन आदि से निवृत्त होकर श्री डा० सुन्दरलाल लम्बा मुझे अपने मकान पर ले आये। वहीं मेरे स्थायी रूप से रहने का प्रबन्ध किया गया!

मुझे वस्तुतः आर्य्य समाज मांडले ने श्री शादीलाल जी मंत्री द्वारा निमंत्रित किया था। रङ्गून केवल मार्ग में पड़ता था। आवश्यक तो यह था कि एक दो दिन रंगून रह कर माँडले चला जाता। परन्तु रङ्गून है ब्रह्मदेश की राजधानी। यद्यपि यह भौगोलिक केन्द्र नहीं क्योंकि रङ्गून ब्रह्मदेश के एक कोने पर है। और रङ्गून

का नाम ही इस अर्थ का द्योतक है। फिर भी ब्रह्मदेश के राजनैतिक जीवन का केन्द्र तो "रंगून ही हैं। यहाँ ही यात्रियों की जांच होती है। अतः दो तीन दिन तो हर एक आने जाने वाले को रंगून के राज्ञाधिकारी पुलिस आदि का द्वार खटखटाना ही पड़ता है। अपरिचितों को कष्ट भी होता है। परन्तु मुझे तो कोई कष्ट होता न था। समाज के अधिकारी सब कुछ कर लेते थे। मैं तो कभी कभी उपस्थित ही हो जाता था। वह भी मूक रीति से (Dumb Show)क्योंकि न मैं उनकी बोली समझता था न वे मेरी। न मैं उन कागज़ों के बर्म्मी अक्षरों का पढ़ सकता था जिनके नीचे मुझे अंगरेज़ी में हस्ताक्षर करने पड़ते थे। ब्रह्मदेश वाले भी नई स्वतंत्रता प्राप्त करके (४ फर्वरी १९४८ ई० को) अपनी देशी भाषा को प्रोत्साहित और अंगरेजी आदि विदेशी भाषाओं को वहिष्कृत करने में उद्यम-शील हैं।

हाँ। मैं रंगून शब्द का अर्थ बताने लगा था। ब्रह्मदेश वाले अपने देश को 'बमा' कहते हैं (रकार का उच्चारण नहीं करते)। अपनी भाषा को बमा-सगा (ब्राह्मी भाषा) कहते हैं। रंगून को भी रंगून नहीं बोलते 'ऍंकून' बोलते हैं (यहाँ भी 'र' कार का उच्चारण नहीं करते)। एंकून का अर्थ है "यहाँ तक"। "इस सीमान्त तक", "आगे नहीं"। इससे ही पता चलता है कि रंगून ब्रह्मदेश का केन्द्र नहीं अपितु परिधि का एक विन्दु है। हाँ राजकीय जीवन का तो केन्द्र कहना ही चाहिये।

रंगून वालों के आग्रह और प्रेम प्रदर्शन के कारण मुझे दिसम्बर का शेष भाग रंगून में ही बिताना पड़ा। श्रीमती लुम्बा जो उस समय स्त्री आर्य समाज, रंगून की प्रधान थीं और जिनके ऊपर मेरे भोजन, निवास तथा स्वास्थ्य का भार था अत्यन्त स्नेह के साथ मेरा ध्यान रखती थीं और मुझे

किसी प्रकार का कष्ट होने नहीं देती थीं। मेरे संदिग्ध स्वास्थ्य को देख कर प्रायः मेरे मित्र प्रश्न किया करते हैं कि तुम विदेश यात्रा कैसे करते हो। मैं स्वयं इस प्रश्न का संतोषजनक वैज्ञानिक उत्तर नहीं दे सकता। यही कह सकता हूँ कि भगवान दयालु है उसकी कृपा हो जाती है। डर्बन में डाक्टर एन० पी० दिसाई और श्रीमती देसाई के नर्सरी होम में था। रंगून में डाक्टर लुम्बा और श्रीमती लुम्बा के नर्सरी होम में आ गया। इससे अधिक क्या चाहिये। घर पर डाक्टर बुलाने से तो बीमार को डाक्टर का आतिथ्य प्राप्त करना अधिक आनन्द-कर होता है। हुआ भी ऐसा ही। जो दिन भर दूसरों की चिकित्सा करते थे, वह मुझ रोगी का भी ध्यान रख ही सकते थे।

मेरे अधिक रंगून ठहरने का मुख्य एक कारण यह भी हुआ कि २७ दिसम्बर से रंगून विश्वविद्यालय की बर्मा-भारत-संस्कृति-समिति का उत्सव होने वाला था। श्री डाक्टर ओ३म् प्रकाश जी का प्रस्ताव था कि मैं उस अवसर पर लिखित वक्तृता दूँ। अधिकारियों ने न केवल स्वीकृति ही दी अपितु शिष्टाचार-पूर्ण निमंत्रण दिया और कुछ उपाध्यायों को आग्रह करने के लिये भी भेजा। वक्तृता का विषय चुना गया "A bird's eye view of Vedic Philosophy" मैंने यह लेख लिख कर भेज दिया जो २८ दिसम्बर १९५१ को ८-३० बजे प्रातःकाल विश्व धिद्यालय के हडसन हाल (Hudson hall) में पढ़ा गया।

इस प्रकार दो सप्ताह का समय उपयुक्त रीति से व्यतीत करने के लिये योजनायें बनाई गईं। कुछ व्याख्यान आर्यसमाज मन्दिर रंगून १६६, बिगेंडिट स्ट्रीट (166 Bigandet street) में हुये। मेरे स्वागत स्वरूप २१ दिसम्बर १९५१ को सायंकाल

५½ बजे समाज की ओर से एक बहुत बड़ी चाय पार्टी दी गई। जिसमें कई सौ सज्जनों ने भाग लिया। विशेष आगन्तुकों में भारत के प्रसिद्ध राजदूत डाक्टर एम० ए० रऊफ, जस्टिस ऊ तईं मौंग (U Thein Maung) चीफ जस्टिस सुप्रीम हाई कोर्ट बर्मा, ऊसान ल्विन (U San Lwin) सैक्रेटरी बर्मा ह्यूमैनीटेरियन लीग, मिस्टर सोमबर्ग (Mr Somberg) अमेरिका के अर्थ विशेषज्ञ (Financial expert) रामकृष्ण मठ के स्वामी अकुण्ठानन्द आदि पधारे थे। अन्यान्य प्रमुख सज्जनों के व्याख्यान और मेरी उत्तर रूप में वक्तृता हुई। यह सब कार्य्यवाही अंगरेज़ी में हुई। मैं यहाँ बर्म्मी नामों के सम्बन्ध में बता दूं कि जैसे हम लोग 'श्री' या अंगरेज़ लोग "मिस्टर" शब्द का प्रयोग करते हैं वैसे बर्मा वाले 'ऊ' लगाते हैं। जैसे हम अपने महा-मंत्री को 'श्री' नेहरू जी कहते हैं! वैसे ही बर्मा के महामंत्री 'ऊ' नू कहलाते है! 'नू' नाम है! 'ऊ' आदरवाचक शब्द है! मिस्टर ऊ नू नहीं कहना चाहिये 'ऊ' ही पर्य्याप्त है!

बीच-बीच में अन्य स्थानों पर भी व्याख्यान होते रहे, जैसे, १५ दि० को "अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन" की ओर से गुजराती स्कूल में *'हिन्दी की सार्वभौमिकता पर'* २२ दि० को, रामकृष्ण मठ में *'सर्व धर्म समन्वय'* पर, २४ दि० को मारवाड़ी युवक समाज में *'युवकों के कर्त्तव्य पर'*, २५ दि० को गुजराती मंडल की ओर से *"भारत के पुनर्निर्माण में गुजरात का स्थान"* इस विषय पर। २६ दि० को, ह्यूमैनीटेरियन लीग (Humanitarian League) में Universal Kinship अर्थात् विश्व-सम्बन्ध पर!

इनके अतिरिक्त आर्य समाज और स्त्री आर्य समाज में भी बराबर व्याख्यान होते रहे। अतः यह कहना चाहिये कि रंगून में रहकर समय का पूरा उपयोग हुआ।

३० दिसम्बर को प्रातःकाल हवाई जहाज से मांडले आया। अतवरण-स्थान पर मांडले आर्य समाज के अनेक कार्यकर्त्ता सदस्य नर-नारी उपस्थित थे। जैसे, समाज के प्रधान श्री देवीचन्द्र शर्मा, समाज के मंत्री श्री शादीलाल जी, श्री मास्टर रामलाल जी गुलाटी, समाज के पुरोहित पं० रामचन्द्र जी विद्यालंकार।

मेरा स्थायी निवास श्री रामलाल जी गुलाटी के घर पर रहा। यद्यपि मेरा आतिथ्य मांडले निवासी पंजाबी सज्जन लगभग प्रतिदिन ही बड़े प्रेम से करते रहे। अधिकतर व्याख्यान समाज मन्दिर में होते रहे। समाज का मन्दिर विशाल है और २७ बाबू रोड में स्थित है।

मेरे मांडले पहुँचने के दूसरे दिन ही बौद्धधर्म के एक प्रसिद्ध भारतीय नेता डाक्टर रूपलाल सौनी से भेंट हो गई। यह एक दिन मेरे व्याख्यान में आये और दूसरे दिन मुझे 'चाय पर' बुलाया। मैं गया तो देखा कि कई प्रतिष्ठित बर्मी सज्जन उपस्थित हैं। डाक्टर सोनी पंजाबी है। इनके पिता आर्य्य समाजी थे। डाक्टर सौनी ने बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली है। और बौद्ध धर्म प्रचारक सभा के एक प्रसिद्ध नेता हैं। उन्होंने मेरा आदर पूर्वक स्वागत किया और सभाओं तथा समाचार पत्रों में मुझे "धम्म-दूत" कहकर परिचय देते थे। मेरी इनकी मित्रता शनैः २ बढ़ गई।

२७ जनवरी को एक विशेष बात हुई। मांडले के प्रसिद्ध एडवोकेट ऊ खिन मांड्वे (U Khin Maung Dwe) के घर पर दोपहर को कई शिष्ट और चुने हुये बर्मी और भारतीय सज्जनों की एक सभा हुई जिसमें मेरा बौद्ध और हिन्दू धर्म के सम्बन्धों (Relations between Buddhism and Hinduism) पर व्याख्यान हुआ। और अन्त में सबके परामर्श से वर्मा-भारत-कलचर-लाज (Burma Bharat Culture Lodge),

की स्थापना की गई जिससे बर्मियों और भारतीयों के सम्बन्धों में सुदृढ़ता उत्पन्न हो।

इस बार मांडले में मैं २८ जनवरी तक रहा। २८ जनवरी को रंगून लौट आया क्योंकि अखिल बर्मा-हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिकोत्सव ४ और ५ फर्वरी को मनाना निश्चित हुआ था और रंगून के अधिकारियों का आग्रह था कि मैं ही उस सम्मेलन का सभापतित्व करूँ। २ फर्वरी को अखिल बर्मा-इण्डियन कांग्रेस का उत्सव था जिसमें समस्त देश के सज्जन पधारे हुये थे। सौभाग्य से भारत से एक डैलीगेशन भी आया हुआ था जिसके अध्यक्ष थे श्री डी० पी० कर्माकर भारतसचिव। मेरा व्याख्यान कांग्रेस में भी हुआ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भी। इन अवसरों पर मैं ब्रह्मदेशस्थ प्रायः सभी भारतीय सज्जनों के सम्पर्क में आ सका।

६ फर्वरी को रंगून से चलकर लाशो आया। और १५ फर्वरी को फिर मांडले। लाशो में मैं श्री अमीरचन्द जी के घर पर ठहरा था। यहां बराबर प्रति दिन समाज मन्दिर में व्याख्यान होते रहे। १० फर्वरी को रविवार था। उस दिन नये सार्वजनिक भवन (New Common Hall) में लाशो के मेयर (Mayor) ऊ बा ई (U. Ba Yin) की अध्यक्षता में अंगरेजी में एक व्याख्यान हुआ जिसका विषय था Cultural Relations between Burma & India (बर्मा और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध)। उसी दिन कुछ मुसल्मानों ने व्याख्यान सुनने की विशेष इच्छा प्रकट की और रात को समाज मन्दिर में 'आध्यात्मिक दुःख ही सब दुःखों का मूल है' इस विषय पर व्याख्यान हुआ। मुसल्मान लोग भी आये थे।

इसी बीच में १२ और १३ फर्वरी को लाशो से ४० मील उत्तर में 'नमटो' नगर की मोटर से यात्रा की। यहाँ चाँदी और

२९

सोना निकालने का कारखाना है जो एक अंगरेज कम्पनी का है। आजकल यह कारखाना चालू नहीं था। इसके अंगरेज अध्यक्ष से बर्मा-अंगरेजी सम्बन्ध पर बहुत देर बातचीत होती रही। यहां एक व्याख्यान भी हुआ और श्री ब्रजलाल जी के घर पर एक छोटी सी सभा भी हुई जिसमें आर्य्य समाज के पुनः स्थापन पर विचार हुआ। यहाँ पहले समाज भी था और समाज मन्दिर भी। समाज मन्दिर युद्ध में नष्ट हो गया। भूमिशेष है। समाज भी टूट गया था।

इस बार मांडले १५ फर्वरी से २४ फर्वरी तक रहा। २४ फर्वरी को बंकाक (स्याम) जाने के लिये रंगून लौट आया। इस बीच मे आर्य समाज मन्दिर में लगभग दैनिक व्याख्यानों के अतिरिक्त कई व्याख्यान बर्मा-भारत-कल्चर लाज में होते होते जिनमें बर्मी सज्जन भी प्रेम पूर्वक भाग लेते रहे। मुझे बर्मा में केवल तीन मास रहने की आज्ञा थी। यह समय समाप्त होने वाला था! श्री मांग ड्वे और कई भारतीय तथा बर्मी सज्जनों का विचार हुआ कि मैं बंकाक और सिंगापुर की यात्रा के पश्चात् फिर मांडले आऊँ। इसके लिये श्री मांग ड्वे के विशेष उद्योग से मुझे दो मास के भीतर पुनः ब्रह्मदेश मे लौट आने की आज्ञा मिल गई। इस प्रकार मैं ६ अप्रैल को फिर सिंगापुर से रंगून और १० अप्रैल को मांडले आ गया। १८ मई को मांडले से रंगून आया। २३ मई को रंगून से चलकर दोपहर को कलकत्ते आया। २५ मई को कलकत्ते आर्य समाज में व्याख्यान दिया और सायंकाल डाक गाड़ी से चलकर २६ मई को इलाहाबाद आ गया। यहाँ स्टेशन पर प्रयागस्थ मित्रों की ओर से स्वागत का विशाल आयोजन था।

———

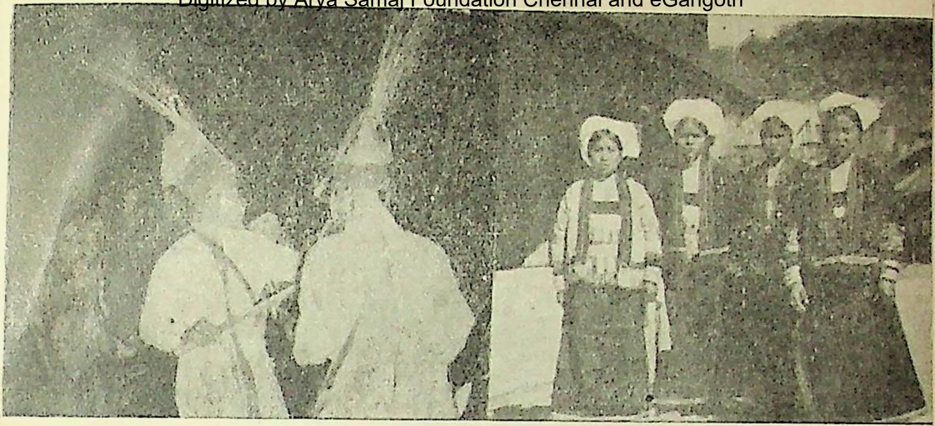
बंकाक और सिंगापुर का चलता दौरा

'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' की लोकोक्ति से संस्कृत व्याकरण के अध्येता भली भांति परिचित हैं। मेरी सिंगापुर और बंकाक की यात्रा भी उसी कोटि की है। भारत से चलने पर उन देशों के देखने का कोई भी विचार न था। एक दिन अचानक डाक्टर लुम्बा के घर पर अटलस में उन देशों को मान चित्र में देखते हुये जी में कुछ उमंग उठी कि जब बर्मा आये हो तो लगे हाथों बंकाक और सिंगापुर को भी क्यों न देखते चलो। श्री डाक्टर ओ३म् प्रकाश जी ने अनुमति प्रकट की और निमंत्रण मंगाने तथा यात्रा का प्रबन्ध कर देने के लिये भी वचन दिया। रंगून के वयोवृद्ध उत्साही आर्य्य-भाई डाक्टर गुरुदत्त सरीन ने जिनकी आयु ८० वर्ष से ऊँची हैं और जिनका दिल अभी युवा अवस्था को पार नहीं कर सका है तुरन्त ही यह आयोजन अपने हाथ में लिया। बंकाक आर्य्य-समाज के मंत्री श्री मुनीश्वर सिंह जी ने इशारा पाते ही मुझे निमंत्रण भेज दिया।

परन्तु कठिनाइयां कई थीं। मेरे पास इन देशों के लिये पासपोर्ट न था। मैंने श्री राजदूत के कार्य्यालय में जो अन्वेषण किया तो कठिनाइयां अत्यधिक प्रतीत हुई। स्याम 'ब्रिटिश कामन-वैल्थ' में सम्मिलित नहीं है। न ब्रह्मदेश। इसी कारण ब्रह्मदेशीय सरकार की आज्ञा प्राप्त करने में भारत में छः सात मास लग गये थे। मैं इतने समय तक बर्मा में प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। २२ दिसम्बर १९५१ को मैं भारतीय राजदूत श्री

डाक्टर रऊफ जी से इसी विषय में बात चीत कर रहा था। श्री रऊफ ने सबसे बड़ी कठिनाई तो आर्थिक बताई। कम से कम २ सहस्र रुपये चाहिये। बंकाक के होटलों का व्यय लगभग २५ रु० प्रतिदिन बताया गया। भारत से किसी प्रकार इतना धन मंगाने के लिये भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। यह कार्य कष्ट-साध्य था। अकस्मात् उन्हीं दिनों सार्वदेशिक सभा दिल्ली के मंत्री श्री ज्ञानचन्दजी का संदेश मिला था जिसमें उन्होंने सभा की ओर से यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं पूर्व दक्षिणी-एशिया का प्रचारार्थ दौरा करूँ। मैंने उनको आर्थिक सहायता के लिये लिखा कि कम से कम एक सौ पौंड का प्रबन्ध कर दिया जाय। इस पत्र का उत्तर मिलना कठिन था। अतः मुझे अधिकतर बर्मा से ही प्रबन्ध करना था।

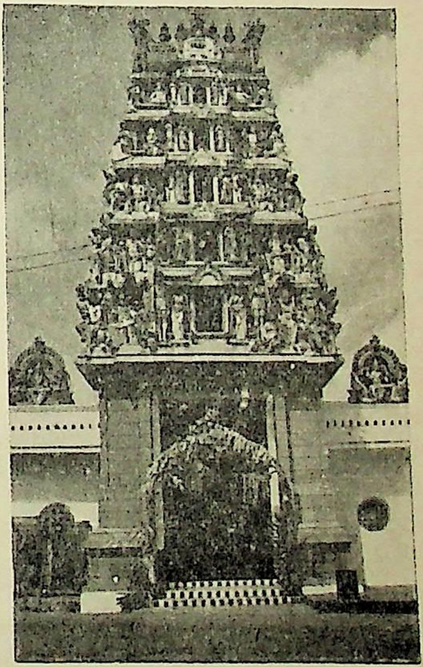
परन्तु दूसरी कठिनाई पासपोर्ट की भी थी। राजदूतालय के अध्यक्षों का कहना था कि केवल पत्र व्यवहार में दो मास लग जायंगे। क्योंकि स्याम सरकार किसी को सुगमता से पास-पोर्ट नहीं देती। जब मैं डाक्टर रऊफ से बात कर रहा था तो उनको यकायक एक बात सूझी। उन्होंने फोन उठाया और स्याम सरकार के रंगून में नियुक्त राजदूत श्री मां लांग फिकधिप मलकुल (M. Mon. Luang Phikdhik Malakul) से बात की। स्यामीराजदूत ने कहा, "यह तो ठीक ही है कि साधारण रीति से कई मास लगेंगे। परन्तु राजदूत को विशेष अधिकार भी हैं। मैं इनको शीघ्र ही पासपोर्ट दिला दूंगा।" मैं श्री डा० रऊफ का पत्र लेकर चला आया। और २६ दिसम्बर को श्री मलकुल से भेंट की। उन्होंने बड़ी शिष्टता का व्यवहार किया और उनके मंत्री ने मुझसे फार्म भरवा लिया। पासपोर्ट उसी दिन मिल जाता। परन्तु उन्होंने कहा कि हमारे दिये पासपोर्ट की अवधि दो मास की होती है। अभी आप को दो मास तो बर्मा में ही



काचीन नृत्य पोलांग स्त्रियाँ, शान स्टेट,



बुद्ध प्रतिमा, सिंगापुर



हिन्दू मन्दिर, सिंगापुर

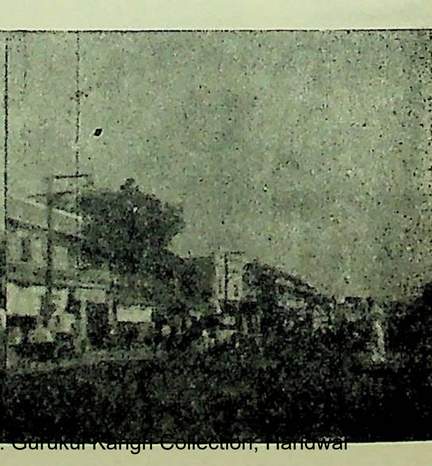


बुद्ध की विशाल प्रतिमा, बंकाक

बुद्ध-पद मन्दिर, बंकाक

बंकाक की एक सड़क





अतः जब आप बंकाक जाने लगें तो दो दिन पूर्व आ जायं।

मेरी स्याम (थाईलेंड) की यात्रा की तिथि ३ मार्च १९५२ नियत हुई। स्याम के लोग चाहते थे कि मैं होली बङ्काक में मनाऊं। २५ फ़र्वरी को मैंने थाईलैंड (स्याम) के राजदूत से भेंट की। मेरे फार्म तो पहले से ही तैय्यार थे। मंत्री महोदय ने कृपा करके झट से पासपोर्ट और विसा बना दिया। १६ रुपये फीस के देने पड़े। मैं ३ मार्च को प्रातःकाल रङ्गून से चल कर १२ बजे थाईलैण्ड की राजधानी बंकाक में आ गया।

हवाई जहाज़ के अड्डे पर श्री मुनीश्वर सिंह जी मंत्री और श्री सोमदेव जी चोपड़ा प्रधान, आर्य समाज बंकाक की ओर से अन्य कई सज्जनों के साथ स्वागत के लिये आ गये थे। मुझे थाई-भारत-कलचर-लाज के विशाल भवन में जो 'सुधात् बाट्' नामक प्रसिद्ध मठ के निकट 136/1 Shriphongs Road है ठहराया गया। श्री रघुनाथशर्मा जी इस लाज के मंत्री हैं जो अपूर्व उत्साही और बंकाक-निवासी भारतीयों में बहुत प्रभावशाली व्यक्ति गिने जाते हैं। इन का बंकाक के स्यामी लोगों पर अच्छा प्रभाव है।

मैं बंकाक में २२ मार्च तक रहा। २२ मार्च को प्रातःकाल सिंगापुर को चला गया।

इस बीच में थाई-भारत-कलचर लाज के हिन्दू हाई स्कूल के हाल में प्रायः प्रतिदिन व्याख्यान होते रहे। आर्य समाज मन्दिर यहाँ से तीन चार मील पर है। और नगर से कुछ बाहर भी पड़ता है। अतः अधिक व्याख्यानों का प्रबन्ध लाज में ही किया गया था। ९ मार्च को रविवार के दिन आर्य समाज में व्याख्यान हुआ। १२ माच को होली का विशेष उत्सव था। उसमें थाईलैण्ड में नियुक्त भारतीय राजदूत श्री कृपलानी जी

का भी व्याख्यान हुआ और मेरा भी। श्री कृपलानी जी अभी दो दिन पूर्व वाशिंग्टन (अमेरिका) से बदल कर बंकाक आये हैं।

यहाँ के व्याख्यानों में सब से अधिक उल्लेखनीय १७ मार्च का व्याख्यान है जो ६ बजे सायंकाल को स्याम-सोसायटी में हुआ। इसके सभापति थे श्री प्रिंस धानी निवाट् क्रोमन् विद्यालभ वृद्धयकोर्न (H. H. Prince Dhani Nivat Krommun Bidyalabh Bridhyakorn) स्यामी सोसायटी बंकाक की एक उच्चवर्गीय संस्था है। उपस्थिति पचास से अधिक न थी परन्तु अमेरिका, इटली आदि भिन्न-भिन्न देशों के राजदूत तथा बंकाक के उच्च वर्ग के लोग उपस्थित थे। विषय था Spiritual aspect of the Vedas (वेदों में आध्यात्म)। उसी दिन ३-३० बजे स्याम के बौद्ध-विश्वविद्यालय (Buddhist University, Siam) में हिन्दू और बौद्ध धर्म की रूप रेखा पर अंगरेजी में व्याख्यान हुआ। श्रोता सब के सब बौद्ध भिक्षु थे।

नामधारी सिक्खों के गुरुद्वारे वालों ने भी एक दिन व्याख्यान के लिये निमंत्रित किया था। गुरुद्वारा वालों ने ५०० टिकल की एक थैली भेंट की थी।

व्याख्यानों के अतिरिक्त शेष समय में बंकाक और उसके निकटस्थ स्थानों को देखने की योजना होती रही। ११ मार्च को स्याम देश की प्रसिद्ध यूनीवर्सिटी चूलालांकार्न (Chulalongkorn University) के कुलपति या रैक्टर श्री मुनि महासन्तान विजयन्त रंगसृष्ट बी० एस० सी० (मांचैस्टर) से भेंट की और अपनी ओर से संस्कृत अध्ययन के प्रोत्साहन के लिये एक हजार टिकल (लगभग ३०० भारतीय रुपये) अर्पण किये। कुल-पति महोदय ने धन्यवाद सहित इस दान को स्वीकार

किया। यह दान श्री स्वामी अजरानन्द जी की प्रेरणा के फलस्वरूप दिया गया था। स्वामी जी एक मद्रासी सन्यासी हैं और यूनीवर्सिटी के छात्रों को अवैतनिक रूप से संस्कृत पढ़ाया करते हैं। इन्होंने विचार प्रकट किया था कि यदि कुछ वजीफा संस्कृत के विद्यार्थियों को 'मिल जाय तो संस्कृत-अध्ययन के लिये प्रोत्साहन मिलेगा। मैंने उचित समझा कि इसका आरम्भ स्वयं ही करना चाहिये। मेरे पास रुपया न था, न बिना भारत सरकार की स्वीकृति के आ सकता था। अतः इसका प्रबन्ध इस प्रकार किया गया कि श्री सोमदेव जी चोपरा ने १००० टिकल मुझे ला दिया और मैंने उसके बदले अपने ज्येष्ठ पुत्र डा० सत्य प्रकाश को लिख दिया कि ३००) का एक चैक श्री सोमदेव जी के भाई श्री डा० वासुदेव जी के पास भेज दें जो जि० बरेली के आंवला नगर में रहते हैं। उस समय ऐसा ही आयोजन किया गया। अन्त में भारत लौटने पर आर्य्य समाज बंकाक ने यह ३००) अन्य रूप से लौटा दिये।

बंकाक की सफल यात्रा के पश्चात् मैं २२ मार्च को सिंगापुर आया। मार्ग हवाई जहाज़ से चार घण्टे का था। श्री रामनाथ जी कश्यप प्रधान और श्री कामताराय मंत्री तथा श्री टी० कर्माकर आदि कई सज्जन हवाई जहाज़ के स्टेशन पर स्वागतार्थ उपस्थित थे। वहीं उतरते ही फोटो भी लिया गया था।

श्री प्रधान जी का आग्रह था कि सिंगापुर में लगभग दो मास रहा जाय। परन्तु मुझे माँडले के वार्षिकोत्सव में १२ अप्रैल को लौट जाना था। विशेष आवश्यकता यह थी कि १२ अप्रैल को ब्रह्मदेशीय आर्य्य समाजों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया गया था और ब्रह्मदेशीय आर्य्य प्रतिनिधि सभा के

जीर्णोद्धार की बात चल रही थी। अतः मैं ६ अप्रेल को रंगून लौट गया और १० अप्रेल को मांडले पहुँच गया।

सिंगापुर का समाज मन्दिर छोटा है। परन्तु मंत्री जी बड़े लग्न के सज्जन हैं। मैं अधिकतर श्री प्रधान जी के गृह पर ही रहा और यही मेरे विशेष व्याख्यानों का आयोजन करते रहे। इन्हीं के प्रबन्ध और प्रभाव से सिंगापुर की थियोसोफीकल सोसायटी में दो बार व्याख्यान हुये और रामकृष्ण मिशन के हाई स्कूल में जो ९ नारिस रोड (9 Norris Road) पर है ३० मार्च को Spiritual aspect of life (जीवन का आध्यात्मिक स्वरूप) पर व्याख्यान हुआ। थियोसोफीकल सोसायटी का पहला व्याख्यान २७ मार्च को और दूसरा ३ अप्रेल को हुआ।

सिंगापुर में श्री डाक्टर शिवनाथ कपूर जी ने भिन्न-भिन्न स्थानों की सैर कराई। इनमें सबसे प्रसिद्ध और अद्भुत हौ-पार-विला (Haw Par Vila) है जो टाइगर-बाम-गार्डन (Tiger Balm Garden) के नाम से भी विख्यात है। यहां कृत्रिम चट्टानें हैं जिनमें जंगली जीव जन्तुओं की सुन्दर आकृतियां बनी हुई हैं। ऐसा अद्भुत स्थान अन्यत्र दृष्टि-गोचर नहीं होता।

१० अप्रेल से १८ मई तक लगातार मांडले में निवास रहा। यहाँ समाज के व्याख्यानों के अतिरिक्त विशेष काम बर्मा-भारत-कलचर-लाज का था। इसमें समय समय पर बौद्ध और वैदिक धर्म पर व्याख्यान होते रहे। बौद्ध धर्म पर व्याख्यान श्री मांग ह्वे और डाक्टर रूपलाल सोनी के होते थे और वैदिक धर्म पर मेरे। मांडले से लौटने का वर्णन ऊपर आ चुका है।

———

दक्षिण-पूर्वीय एशिया का धर्म तथा संस्कृति

इन देशों की भौगोलिक अवस्था पर मैं कुछ कहना नहीं चाहता। क्योंकि पाठक गण किसी भूगोल की पुस्तक से यह परिचय प्राप्त कर सकते हैं। यह ठीक है कि विना भौगोलिक परिस्थिति के ज्ञान के अन्य बातें समझ में नहीं आ सकतीं। परन्तु इसके लिये तो स्वतन्त्र पुस्तक चाहिये। मुझे यहाँ उतना ही लिखना है, जितना मेरे जीवन-चक्र से समन्वित हो सकता है।

धर्म के विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि बर्मा पूर्ण रूपेण बौद्ध है। यहाँ थेरावादी बौद्धों का प्राबल्य है। स्याम है तो बौद्ध परन्तु हिन्दू सस्कृति को लिये हुये। सिंगापुर मलाया प्रदेश में है और यहाँ मुसल्मानी सभ्यता का बोल बाला है। इण्डोनेशिया और बाली सुमित्रा आदि द्वीपों में हिन्दू-धर्म के प्राचीन चिह्न और मुसल्मानी धर्म का वर्तमान प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है।

इन देशों का अति प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है जैसा कि भारत, चीन, मिश्र आदि देशों का है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह जातियां अति प्राचीन हैं भी नहीं। यह लोग अधिकतर भारत और चीन से आये हुये लोगों की मिश्रित सन्तान हैं। कहीं चीनियों का भाग अधिक है कहीं भारतीयों का। इनकी आकृति तो भारतीयों की

आकृति से अधिक मिलती हैं। प्रतीत होता है कि बौद्ध काल से बहुत पूर्व भारतीय आवागमन इन प्रदेशों में बहुत था। भारतीय व्यापारी वहाँ आया करते थे। और पूर्वी भारत के राजे लोग भी समय समय पर इन देशों पर आक्रमण करते और उनको अपने प्रभाव के भीतर लाते रहे। महात्मा बुद्ध के पश्चात् भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने तो इन देशों पर पूर्ण सांस्कृतिक विजय प्राप्त कर ली। जो बौद्ध धर्म भारत में उत्पन्न होकर और सात आठ सौ वर्ष अपनी छटा दिखा कर भारत से सर्वथा लुप्त हो गया उसने ब्रह्मदेश, स्याम, लंका आदि में ऐसा प्रभाव उपार्जित किया मानो महात्मा बुद्ध वहीं उत्पन्न हुये थे।

बर्मा में कई बार कुछ बौद्ध सज्जनों ने मुझे से यह प्रश्न किया कि क्या कारण है कि जिस बौद्ध धर्म से हमने अपना सर्वस्व प्राप्त किया वह भारतवर्ष में न रह सका ? मैं इसका यही उत्तर दिया करता था कि जब आप यह जान जायँगे 'कि भारत में बौद्ध धर्म क्यों उत्पन्न हुआ और किस कारण इतने दिनों रह सका आप को यह भी पता लग जायगा कि बौद्ध धर्म भारत से निकला कैसे। वस्तुतः अभी हमारे समक्ष वैदिक धर्म के गौरव का यथेष्ट और सत्यता-पूर्ण मान चित्र नहीं है। हम विकृत हिन्दू धर्म को ही वैदिक धर्म समझे हुये हैं। गन्दे और गंदले जल की अपेक्षा कुछ शुद्ध जल को सभी पसन्द करते हैं। जब वैदिक धर्म विकृत हो गया तो उसमें अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ प्रविष्ट हो गई। पाशवता, हिंसा, भ्रान्ति, आडम्बर, राग-द्वेष, तुच्छ दृष्टिता आदि बीज रूप दोषों को अपनी विशेष कल्पना-शक्ति से पल्लवित और पुष्पित कीजिये और फिर जो कुछ आप को दिखाई पड़े उसका नाम है हिन्दू धर्म।

इस धर्म को सुधारने का प्रयास महात्मा बुद्ध ने किया। इसीलिये उनका स्वागत हुआ। और इसीलिये यह धर्म कई सौ वर्ष तक चला। परन्तु बौद्ध धर्म वेदों को तिरस्कृत कर चुका था। प्राचीन परम्परा की जड़ कट चुकी थी। अतः एक ओर तो बौद्ध धर्म में दोष आने आरम्भ हुये। दूसरी ओर शंकर स्वामी आदि महान् आत्माओं ने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। अतः सूर्य के नये प्रकाश में चन्द्रमा का प्रकाश मन्द पड़ गया।

अन्य देशों में कोई ऐसा धर्म न था जो वैदिक धर्म के समान हो। न वहाँ वैदिक धर्म के उत्थान का प्रयास किया गया। अतः वहाँ बौद्धधर्म बना हुआ है। जब बौद्ध लोग महात्मा बुद्ध के सदुपदेशों को पढ़ते हैं तो उनको यह भ्रांति हो जाती है कि उपदेशों का मूलतत्व महात्मा बुद्ध से ही आरम्भ हुआ है। बुद्ध भगवान से पूर्व इस संस्कृति का सर्वथा अभाव था। यही भूल है और बड़ी भारी भूल है। मैंने कई बार अपने व्याख्यानों में कहा था कि महात्मा बुद्ध ने कोरे श्वेत पट पर आरम्भ नहीं किया। महात्मा बुद्ध जहाँ उत्पन्न हुये वहाँ युग युगान्तरों से चली आने वाली परम्परा विद्यमान थी। उसी परम्परा पर बौद्ध-आचार का आधार था। गौतम बुद्ध सुधारक थे। आरम्भक नहीं थे। बौद्ध लोगों को स्वधर्म प्रेम और बुद्ध भगवान पर अटूट श्रद्धा यह स्वीकार करने के लिये सुगमता से राजी होने नहीं देती और न भारतीयों की ओर से ऐसा प्रयास ही हुआ है कि इसका प्रचार किया जाय। अतः यह गुलथी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं।

बर्मा वालों की आकृति चीनियों की अपेक्षा भारतीयों से अधिक मिलती है। नैपाली लोगों की नाक चीनियों की नाक के समान चपटी है। परन्तु बर्मा वालों की इतनी चपटी नहीं।

स्याम के लोगों का भी यही हाल है। मैंने बंकाक में मीनाम नदी के तट पर एक पार्क में रामराजा प्रथम की आकृति देखी जो वर्तमान राज वंश का संस्थापक था। उसकी नाक तो किसी भारतीय की नाक से चपटी न थी और मुख, वस्त्र, पैर, तथा जूतों की आकृति से यह पता नहीं लगता कि यह किसी भारतीय पुरुष की आकृति नहीं है। मलाया देश के लोग भी ऐसे ही हैं। यद्यपि मुसल्मानी भाषा तथा चाल ढाल का उनकी आकृति पर भी कुछ प्रभाव है। ऐसी बात तो भारतवर्ष में भी स्वयं देखने में आती है।

बर्मा का उत्तरी भाग जो शान स्टेट कहलाता है। इसमें चीन का प्रभाव अधिक है। यह चीन से मिला हुआ भी है। बर्म्मा के अन्य नगरों मे इतने चीनी नहीं जितने लाशो या उसके निकट के ग्रामों में है। बंकाक में चीनी बहुत हैं। सिंगापुर में भी। परन्तु इन स्थानों पर वह विदेशियों के समान रहते हैं। न वहाँ वाले इनको अपना देश का समझते हैं न यह ही इस देश को अपना देश समझते हैं अतः राजनैतिक उलझनें उठती रहा करती हैं।

बर्मा की अपनी भाषा है जो शायद चीनी भाषा से निकली है। इसको आप एकाक्षरी भाषा कह सकते हैं। जैसे ये (जल) ख्वे (कुत्ता) टे (एक), ने दो); तौं (तीन) ऊ (अंडा), ची (कौआ), चेः (तोता), चाः (शेर), चां (गन्ना), खो (कबूतर) छे (पैर, दौं मोर), ठी (छाता), पां (फूल), फा (मेंढक), ल (चन्द्रमा), लू (आदमी), इत्यादि बर्मा लिपि नागरी लिपि का ही विकृत रूप प्रतीत होती है। नागरी से पूर्व जो लिपियां थी उनके तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है! बर्मा वाले पाली भाषा को बर्मा लिपि मे ही पढ़ते लिखते हैं। बौद्धधर्म की पाली पुस्तकें बर्मा लिपि में ही है बर्मा वाले संस्कृत को इतना

महत्व नहीं देते जितना पाली को। इससे उनको कई बातों के समझने में कठिनाई पड़ती है। मैंने ऊपर श्री मां ड्वे महोदय का वर्णन किया जिनकी सहायता से हमने बर्मा-भारत-कल्चर-सोसायटी खोली थी। यह सज्जन अभिधम्म का तीस वर्ष से अध्ययन कर रहे हैं। इनका विश्वास हैं कि संस्कृत की सहायता से अभिधम्म की कई गुत्थियां सुलझ सकती हैं। जब मैं उनको किसी पाली शब्द के संस्कृत-रूप का अर्थ बता देता तो वह प्रसन्न हो जाते थे। वे उच्च वकील हैं और वकालत के काम से उनको समय कम मिलता है फिर भी हम दोनों में कभी कभी बातें हो ही जाया करती थीं। वे उदार भी बहुत हैं। परन्तु यह बात मैंने अन्यत्र नहीं देखी। विशेष कर बौद्ध धर्म के नये प्रचारकों में जिनमें कई भारतीय हैं। इनमें श्री जगदीस-कस्सप का नाम उदाहरण के लिये पेश किया जा सकता है। यह सज्जन हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के स्नातक और एक भारतीय सज्जन हैं। अब यह बौद्ध भिक्षु हो गये हैं और बौद्ध धर्म प्रचार में संलग्न हैं। नालन्दा के बौद्ध-विश्वविद्यालय के भी यह अध्यक्ष हैं। बर्मा सरकार में इनका बहुत मान है। मुझसे इनसे रंगून में भेंट हुई थी। वार्तालाप के समय मैं यह कह बैठा कि पाली या बौद्ध धर्म के मर्म को समझने के लिये संस्कृत का अध्ययन परम सहायक है क्योंकि पाली-संस्कृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कस्सप जी की बातों से प्रतीत हुआ कि उनका मत मेरे मत से सर्वथा भिन्न हैं। संभव है मेरी भ्रांति हो परन्तु मैंने इससे यह परिणाम निकाला कि कस्सप जी बौद्ध प्रचारक हैं और मैं हूँ आर्य्य समाजी। वह यह भली भांति जानते हैं। मैं उनको नहीं जानता था। परन्तु उन्होंने बताया कि वे मुझे उस दिन से जानते थे जब लगभग २० वर्ष पूर्व मैं हिन्दू विश्वविद्यालय के आर्य्य समाज के उत्सव पर व्याख्यान देने

गया था। वह समझते हैं कि संस्कृत का उत्थान बौद्ध धर्म को सार्वभौमिक धर्म बनाने में बाधक होगा। इन लोगों का स्वप्न है कि भारत को पुनरपि बौद्ध धर्म से दीक्षित किया जाय। अतः वह संस्कृत भाषा पर बल देना अनुपयोगी समझते हैं। कस्सप जी के विचारों का पता मुझे उनके पालि-महा-व्याकरण के उस भाग से लगता है जहाँ पालि-वैदिक और संस्कृत भाषाओं का तुलनात्मक परिचय देते हुये उन्होंने ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १०६ के जर्भरी तुर्फरी आदि मंत्रों का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि वैदिक भाषा कई प्राचीन प्रादेशिक भाषाओं का मेल जोल है। यहां कुछ विषयान्तर हो गया उसके लिये पाठक वर्ग क्षमा करें। मुझे दृष्टि-कोणों का भेद दिखाना अभीष्ट था।

मैंने मांडले में बौद्ध धर्म के मूलतत्त्वों पर व्याख्यान देते हुये एक दिन कुछ वैदिक शब्दों के उदाहरण दिये थे। और यह सिद्ध किया था कि वैदिक शब्दों और संस्कृत धातुओं से बौद्ध धर्म के कई पारिभाषिक शब्दों के अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे पाली 'धम्म' शब्द की अपेक्षा सस्कृत 'धर्म' शब्द में 'धृ' धातु का अधिक प्रकाश है इसी प्रकार पाली 'कम्म' की अपेक्षा संस्कृत 'कर्म' में 'कृ' धातु का। 'सद्धा' की अपेक्षा 'श्रद्धा' का। तात्पर्य यह है कि सस्कृत के शब्दों की आकृति में उनका धात्वर्थ सुरक्षित है। पाली आदि में इसका लोप सा हो गया है।

स्यामी लोगों की धारणा भिन्न है। उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है जो कुछ-कुछ बिगड़ गये हैं।

इनके नामों में भी विकृत संस्कृत की झलक है। जैसे बंकाक से १०० मील दूर पर 'लोपबुरी' है जो 'लवपुरी' का अपभ्रंश है। यह पहले स्याम देश की राजधानी थी। इसी प्रकार अजुधिया (अयोध्या) है। एक स्थान का नाम फ्रापद है

जो वस्तुतः प्रबुद्धपद था। एक स्थान है सरावरी जो शालापुरी का अपभ्रंश है।

स्याम के लोगों की अभिरुचि संस्कृत की ओर अधिक देखी। शाही महलों में एक बड़ा मन्दिर है वाट्फ़ाकेव। इसके बरांडों में स्यामी कलाकारों ने दीवारों पर रामायण की कथा का आद्योपान्त चित्रण करके अपनी अद्भुत कला और भारतीय संस्कृति के प्रेम का परिचय दिया है। वहाँ स्यामी भाषा में एक रामायण मिलती है जिसमें राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान, आदि के कथानक कुछ-कुछ भेद के साथ दिये हुये हैं। स्वामी सत्यानन्द जी एक बंगाली सन्यासी थे जिन्होंने बंकाक में कई वर्ष रहकर स्यामी भाषा पर अच्छा आधिपत्य प्राप्त किया था। उन्होंने स्यामी रामायण का अंगरेजी में भावानुवाद किया था। मैंने बंकाक में रहकर इस अंगरेजी का हिन्दी उलथा करके श्री रघुनाथ जी शर्मा को दे दिया था। अभी तक वह प्रकाशित नहीं हो सका।

बर्मा में संस्कृत के लिये इतनी सहानुभूति नहीं जितनी स्याम में। मलाया की दशा भिन्न है। मलाया लिपि उर्दू से ही मिलती जुलती है और धर्म तो इसलाम है।

धार्मिक दृष्टि से मैंने बौद्ध मन्दिरों और हिन्दू मन्दिरों में कोई भेद नहीं पाया। यह ठीक है कि कला भिन्न है चाल ढाल भिन्न है। परन्तु जैसे हिन्दू लोग विष्णु भगवान, श्री कृष्ण, श्री राम, गणेश आदि की मूर्तियों के समक्ष माथा टेकते, दंडवत् करते, मिन्नतें मानते और माला जपते हैं वही सब कुछ उसी प्रकार की श्रद्धा और भक्ति से बौद्ध मन्दिरों में भी बुद्ध की मूर्ति के सामने होता है। भाव वही हैं। वाह्यरूपान्तर में भेद है। बौद्ध मन्दिरों में जूता ले जाने का निषेध है। परन्तु आप हाथ में जूता लेकर हर पवित्र स्थान में जा सकते हैं।

अर्थात् पैर में जूता न हो। मेरे साथ कई हास्यप्रद घटनायें हुईं। एक दिन मैं एरावदी नदी के तट पर रंगून में भ्रमण कर रहा था। जी में आया कि नाव पर दूसरी ओर जाऊँ। दूसरी पार एक छोटा सा ग्राम है डल्ला। मैं एक मठ में घुस गया। और उसके लम्बे चौड़े प्राङ्गण में फिरने लगा। थोड़ी देर में भिक्षु विद्यार्थियों की एक टोली आई और अपनी भाषा में मुझ पर क्रोध प्रदर्शित करने लगी। मैं समझ न सका कि मुझसे क्या भूल हो गई। उस टोली में भाग्यवश एक बङ्गाली युवक भी था जो हिन्दी जानता था। उसने मुझे समझाया कि जूता हाथ में ले लो। मठ की सीमा के भीतर जूता लाना निषिद्ध है।

बंकाक के मन्दिर 'वाट् फ्राकेव' के द्वार पर मैंने एक स्त्री को देखा जो चिड़ियों को बेच रही थी। लोग पैसा देकर पक्षी-विमोचन का पुण्य कमाया करते हैं। भारत में भी बहुत से चिड़ीमार इसी प्रकार हिन्दुओं से धन ठगा करते हैं। यही स्याम में भी होता है। जब मैंने कहा कि यह प्रथा तो पक्षियों को पकड़वाने के लिये प्रोत्साहित करती है तो वह स्त्री मुझे गाली देने लगी कि यह भारतीय लोग धर्म कर्म नहीं जानते। बाल की खाल निकाते हैं।

बौद्ध देशों में भूत-प्रेत का बड़ा मान हैं भारत के स्यानों और ओझाओं के समान यहाँ भी अनेक जातियाँ हैं जो भूत-प्रेत की पूजा करती है। और भूतों को संतुष्ट करने के लिये अनेक ढोंग रचे जाते हैं। भूतों को यह लोग नट कहते हैं। महात्मा बुद्ध की जहाँ मूर्तियां देखीं वहाँ साथ साथ नटों की मूर्तियाँ भी देखने को मिलीं। बाइबिल में ईसा के जीवन के साथ भूत प्रेतों का संपर्क बाताया जाता है। मुसलमानों की कुरान में तो जिन्नों, का स्पष्ट वर्णन मिलता है। भारतवर्ष में

महात्मा बुद्ध की धम्म-पद बहुत अच्छी समझी जाती है। मैंने भी बहुत दिन हुये धम्मपद का हिन्दी में अनुवाद किया था। परन्तु पाली में धम्म-पद का एक महाभाष्य है जिसे 'अत्तकथा' कहते हैं। मांडले में मैंने इसका अंगरेजी अनुवाद देखा जो बर्लिंगम (Burlingam) का किया हुआ है। अत्तकथा में महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं के ऊपर अनेक प्रकार की दन्तकथाओं का खोल चढ़ाया गया है जिसमें भूत-प्रेतों का भी भी बहुत उल्लेख है। इन कथाओं का एक मात्र प्रयोजन यह है कि महात्मा बुद्ध के जीवन को मानवोत्तर दिव्यता प्रदान की जाय। अत्तकथा को बौद्धमत का पुराण कहना चाहिये। शान के लोग भूतों को उतारने के लिये अद्भुत नृत्य करते हैं। मुझे एक मित्र ने यह तमाशा लाशो में दिखाया, जहाँ एक स्त्री भूत उतार रही थी।

बौद्धों पर हिन्दूधर्म के पडित पुरोहितों का कितना प्रभाव है, इसकी विचित्रता देखनी हो तो बर्मा के 'पौने' लोगों को देखिये। यह पौने हिन्दू हैं और अधिकतर मनीपुर के ब्राह्मण। बौद्धों के विवाह आदि कृत्यों में पुरोहिताई का काम यही पौने कराते हैं।

बौद्ध भिक्षुओं को फौंजी कहते हैं। यह गेरुआ वस्त्र पहनते हैं और अधिकतर मठों में रहते है। इन देशों में प्रायः सभी को लड़कपन में फौंजी होना पड़ता है। जैसे भारतवर्ष में उपनयन संस्कार के समय यज्ञोपवीत देते हैं और गेरुआ वस्त्र पहनाते हैं इसी प्रकार बौद्ध देशों में भी। यह संस्कार बड़ा महत्त्व का माना जाता है। गाना बजाना दान दक्षिणा सभी कृत्य इसमें सम्मिलित हैं। लड़के को फौज़ी बनकर किसी मठ में रहना पड़ता है। कुछ लोग तो शीघ्र ही घर लौट आते हैं। कुछ कई वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। मठों में पढ़ना और संयम

से रहना पड़ता है। भिक्षा मांग कर खाते हैं। प्रातः काल इन नगरों में टोलियाँ की टोलियाँ इन भिक्षुओं की हाथ में एक लकड़ी की हाँडी लिये हुये फिरती मिलेंगीं। यह भिक्षु चुपचाप रहते हैं किसी से कुछ मांगते नहीं। गृहस्थ लोग स्वयं प्रातः काल ही अपने दरवाजों पर पके चांवल आदि लेकर खड़े हो जाते हैं। जो भिक्षु दिखाई देता है उसे संकेत से बुलाते हैं और खाद्य पदार्थ उसको हाँडी में डाल देते हैं। इसी को यह लोग ले जाकर दोपहर के समय खाते हैं। प्रायः एक ही बार भोजन करने की प्रथा है। रात को यदि कोई भिक्षु कुछ खाता है तो छिपकर। इन देशों मे मांस खाने का बड़ा रिवाज है। यद्यपि बौद्ध धर्म मे अहिंसा पर बड़ा बल दिया गया है तथापि शायद ही कोई पशु ऐसा हो जिसका माँस नहीं खाया जाता। मछलियों के बिना तो इनका गुजारा ही नहीं। कीड़े मकोड़े भी खाये जाते हैं। साँप के धड़ को भी खाते हैं। भिक्षु लोग भी माँस खाते हैं। उनका कहना है कि पशुओं को मारना पाप है। मरे हुये का मांस खाना पाप नहीं। पातक तो मारने वाले को लगता है। भिक्षुकों जो मिल जाय उसे बिना नन्नु नच के खा लेना चाहिये। दन्तकथा है कि बुद्ध भगवान् भी ऐसा ही करते थे। वह अपनी इच्छा का खाना नहीं खाते थे। जो कुछ भिक्षा में मिल जाता था उसी को खा लेते थे। कहा जाता है कि अन्त समय उनको सुअर का मीठा माँस दिया गया था। इससे उनके पेट में पीड़ा अधिक हुई और वह मर गये। भारतीय तथा अन्य देशीय बौद्धधर्म सम्बन्धी लेखकों तथा आलोचकों में यह प्रश्न बहुत दिनों से समस्या रूप में रहा है कि यह सूकर मादव क्या था? हम इस विषय में अगले अध्याय में कुछ लिखेंगे।

———

महात्मा बुद्ध और सुअर का मांस

यह बात तो निर्विवाद है कि महात्मा बुद्ध अहिंसा के सब से बड़े पोषक थे। उन्होंने यज्ञों में पशु-हिंसा को रोकने के लिये बहुधा अपने प्राणों की रक्षा को भी आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने जीवरक्षा को अपने उपदेशों में विशेष स्थान दिया। फिर समझ में नहीं आता कि उन्होंने मांस खाया हो। यह युक्ति तो अत्यन्त निर्बल है कि साधु होने के कारण वह हर पदार्थ को बिना विचार किये खा लेते थे। और इससे भी अधिक निर्बल यह युक्ति है कि पशुओं का मारना पाप है परन्तु मरे हुये पशु को खा लेना पाप नहीं। मांडले के प्रसिद्ध विद्वान श्री खिन मांग ड्वे से मुझसे इस विषय में बहुत बार बात चीत हुई। ड्वे महोदय मांसाहारी नहीं हैं। मांडले, रंगून आदि देशों में निरामिष भोजियों की सभायें (Vegetarian Societies) हैं। मुझे रंगून में एक इटालियन बौद्ध साधु मिले जिनका नाम है साधु लोकनाथन। यह निरामिष भोजन के बहुत बड़े प्रचारक हैं और लंका आदि सभी देशों में मांसाहार के विरुद्ध प्रचार करते हैं। मांडले में बौद्ध धर्म प्रचारक संघ के पंजाबी अध्यक्ष श्री रूप लाल सोनी भी मांस-भक्षण का निषेध करते है। रंगून में मेरी ऊ रेवत जी से भेंट हुई जो एक प्रसिद्ध मठ के अध्यक्ष है। इन्होंने रंगून में मेरे एक व्याख्यान में अध्यक्ष पद भी ग्रहण किया था। ऊ रेवत महोदय ने मुझे पाली भाषा से पढ़कर सुनाया कि माँस खाना पाप है। वह अपने मठ में किसी को माँस खाने नहीं देते। उन्होंने मुझे यह भी बताया

कि गौ का मारना महा पाप है। उन्होंने अपनी पुस्तक से सुनाया कि गौ हत्या के आरम्भ होने से पूर्व संसार में केवल तीन व्याधियाँ थीं एक भूख, दूसरी मृत्यु, तीसरी (मुझे याद नहीं रही)। परन्तु जब से गोहत्या होने लगी सैकड़ों व्याधियां आविर्भूत हो गईं। इससे सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्म में भी मांस भक्षण पाप ही है। मैंने साधु लोकनाथन से कहा कि जब मांस भक्षण पाप है तो समस्त बौद्ध देशों में इसका इतना प्रचार क्यों है। वह कहने लगे कि यह देश पहले बिल्कुल जंगली थे। बौद्ध धर्म ने इतना सुधार कर दिया यह क्या कम है। यह बात किसी अंश में ठीक भी हो सकती है। वस्तुतः जब किसी धर्म का आत्मा नष्ट हो जाती है तो केवल ऊपरी ढोंग रह जाता है। बौद्ध धर्म ने भारत भूमि से चलकर बाहर अनेक आडम्बर रच लिये होंगे, वही आज बौद्ध धर्म का बाहरी स्वरूप है।

एक दिन मैंने डूबे महोदय से कहा कि मुझे वह स्थल दिखाइये जहाँ बुद्ध भगवान का मांस खाना लिखा है। उन्होंने बर्मी लिपि में छपे हुये दीघनिकाय, महावग्ग सुत्त, महा परि निब्बान सुत्त से नीचे के चार श्लोक सुनाये :—

चुन्दस्स भत्तं भुंजित्वा कम्मारस्साति ये सुतं।
आबाधं सम्फुसी धीरो पबाळ्हे मारणन्तिकं।
भत्तस्स च सूकर मद्दवेन, व्याधि पबाह उदपादि सत्थुनो।
विरेचमानो भगवा आबोच गच्छामहं कुसिनारं नगरंति।

(दीर्घ निकाय)

इसका भावार्थ यह है कि चुन्नासा भट्ट ने महात्मा बुद्ध को सूकर मद्दव खिला दिया। उससे उनके पेट में अति पीड़ा

हुई और अतिसार हो गया। उन्होंने कहा, "मैं कुसीनर नगर को जाऊँगा।"

मुझे बताया गया है कि बौद्ध साहित्य में अन्य किसी स्थान पर ऐसा प्रकरण नहीं मिलता जिससे निस्सन्देह रूप से ज्ञात हो सके कि सूकर माद्दव का यह अर्थ है। लंका के बौद्ध लेखकों ने इसका अर्थ सुअर का मीठा माँस किया है। और इसी बात को अन्य लोगों ने ले लिया है। श्री आचार्य रामदेव जी ने अपने भारतीय इतिहास में इसका अर्थ एक प्रकार का कन्द किया है।

मैंने भारतवर्ष में लौटकर यह खोज करने की कोशिश की कि यह सूकर माद्दव क्या चीज है जिसने बुद्ध भगवान के पेट में पीड़ा उत्पन्न कर दी। और बहुत से सज्जनों ने अपने विचार प्रकट किये। जैसे :—

(१) श्री नेहपालसिंह जी, डिप्टी-डाईरैक्टर शिक्षा विभाग उत्तर प्रदेश लिखते हैं :—सूकर माद्दव साधारण कुकुरमुत्ता के अर्थ में समझना चाहिये......इसका बड़ा सुन्दर शाक बनता है। पर यह "कुत्ते का मूत होता है" बम्मीन्याय के अनुसार कोई कहने लगे तो कितनी बेढंगी बात होगी। कुकुरमुत्ता है भी बढ़े डर की चीज। कोई कोई ही खाने में आता है। कुछ उग्र विष होते हैं। कभी कभी परिवार के परिवार खाकर समाप्त हो जाते हैं......जो अनजान हैं वह पहचान में भूल कर बैठते हैं। चुन्न ने सम्भव है ऐसी ही भूल की हो।

(२) बच्चीराम आर्य, रामगढ़, नैनीतालः—शूकरमाद्दव शाक नहीं कन्द ही हो सकता है। बाराही कन्द को कमाऊं में गेठी कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है एक घरेलू मीठा, दूसरा जंगली कड़वा। बाराह या सुअर इसको प्रिय समझते हैं। इस कन्द पर छोटे शूकर के समान बाल होते हैं। गेठी के अतिरिक्त

एक और कन्द होता है। यह चेपदार मधुर और गरिष्ट होता है। यह अतिसार उत्पादक है। गोरखपुर देवरिया की तराई में ही महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुआ था। तराई की इस उपज का तब भी प्रयोग होता ही होगा।

(३) जगन्नारायण शर्मा वैद्य, बतरौली, देवरिया:—आयुर्वेद शास्त्र में एक कन्द होता है जो बल्य, वृष्य एवं रसायन होता है जिसे लोक में बराही कन्द कहते हैं। आयुर्वेद में, इसके बाराही कन्द, शकर कन्द, शूकरी आदि नाम हैं।

(४) राक़हिल (Rockhill) ने बुद्ध की जीवनी लिखी हैं तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर। उसमें सुअर के मांस का उल्लेख नहीं है। स्वादुभोजन का ही वर्णन है। उन्होंने यह टिप्पणी दी है :—

" It is curious that the the text contains no mention of the pork which is said to have caused inflamation the cause of Buddha's death.

(५) Pali English Dictionary (Pali Text Society London द्वारा प्रकाशित) soft tender boar's flesh. (सुअर का नर्म माँस)।

(6) Rhys Davids, Dialogues of Buddha :—

Sukker Maddava—see the note in my translation of Milinda (1890). Vol, I. p. 244. Dr. Hoey informs me that the peasantry in these districts are still very fond of a bulbuous root, a sort of Tuffle found in the jungle and called sakar kand. Mr. K.E. Neumawn in his translation of the Majhim (1896) has collected several similar instances of tuffle-like roots or edible plants having such names.

अर्थात् रीज़ डेविस ने महात्मा बुद्ध के वार्तालाप पर जो पुस्तक छापी है उसमें सुकर मद्दव पर एक टिप्पणी दी है। डाक्टर 'हों' ने उनको लिखा कि इन प्रान्तों में एक कन्द होता है जिसे सकरकन्द कहते हैं। डाक्टर न्यूमन ने मज्झिम के अनुवाद में ऐसे कई कन्दों का उल्लेख किया है।

इन सब बातों से यह अनुमान निकालना कठिन नहीं है कि महात्मा बुद्ध के सुअर के मांस खाने की सम्भावना बहुत कम है। प्रथम तो विदेशी और विशेष कर यूरोप के विद्वान यह नहीं जानते कि भारतवर्ष में सुअर और सुअर के मांस को कैसा समझते हैं। अन्य देशों में मांस खाने या किसी पशु पक्षी को मारने में किसी को संकोच नहीं होता। भारत में होता है। फिर सुअर का मांस तो मेहतर और पासियों के अतिरिक्त कोई खाता ही नहीं। चुन्द ऐसी जाति का व्यक्ति न था। दूसरी बात यह कि भारतवर्ष तथा अन्य देशों में भी कई वनस्पतियों के नाम पशुओं के अंगों पर हैं। इससे केवल धातुओं के अर्थों से कोरे व्याकरण जानने वाले को भ्रांति हो जाती है। यौगिक शब्दों की अपेक्षा योग रूढ़ि प्रबल होते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं :—

(१) *अश्ववाल :—एता औषधयः समभवन् यदश्वालाः।*

शतपथ ब्राह्मण काण्ड ३, अध्याय ४, ब्राह्मण १, १७,

यहाँ अश्ववाल एक ओषधि है। यद्यपि शब्दार्थ है घोड़े का बाल। मेरी अपनी धारणा तो है कि महोक्ष और महाज भी ओषधियाँ ही होंगी।

(२) अंगरेज़ी में cows lip एक फूल का नाम है यद्यपि इसका शाब्दिक अर्थ है गाय का होंठ।

(३) अंगरेज़ी में ladies finger भिंडी के लिये आता है। यद्यपि शब्दार्थ है स्त्रियों की उँगलियाँ।

(४) लखनऊ के लोग बहुत पतली ककडियों को मजनूं की उंगलियाँ और लैला की पस्लियाँ कहा करते हैं।

(५) फारसी भाषा में गावजुबाँ एक पत्ती है जो दवा में काम आती है। शब्दार्थ हुआ गाय की जीभ।

(६) हिन्दी में कुकुर मुत्ता एक शाक है। शब्दार्थ हुआ कुत्ते का मूत्र।

(७) अश्वगंध एक औषध है। शब्दार्थ हुआ घोड़े की गन्ध।

(८) काकमाची मकोय को कहते हैं।

(९) कुमारिका मांस का शाब्दिक अर्थ है कुमारी लड़की का माँस। परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ है घी ग्वार के पट्ठे का गूदा।

(१०) हिरणाखुरी एक सफेद फूल की घास होती है। शब्दार्थ हुआ हिरण का खुर।

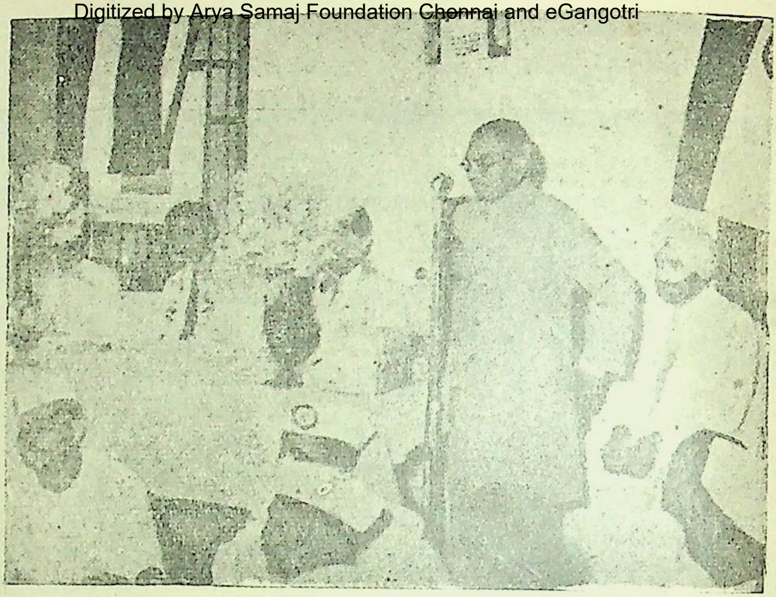
इसी प्रकार सूकर मद्दव भी कोई कन्द या शाक होगा जिसको लोग प्रायः खाते होंगे।

भारतवर्ष से जब बौद्धधर्म अन्य देशों में गये तो इसमें बहुत से परिवर्तन और विकार आ गये। पुरानी परिपाटी के विस्मृत हो जाने पर लोगों ने अटकल से अर्थ लगाये होंगे। और विशेष कर विदेशी भाष्यकारों ने। 'सुअर के मांस' का विचार तो बुद्धघोष की कल्पना प्रतीत होती है जिन्होंने महा-परिनिब्बान सुत्त की सुमंगल विलासिनी टीका लिखी है। यह बुद्ध जी के निर्वाण के ९३५ वर्ष पीछे सिंहलदेश में गये। उन्होंने वहाँ त्रिपिटक ग्रन्थ के अत्तकथा समूह का पाली भाषा में अनुवाद किया। यह अनुराधपुर के महा विहार में रहते थे। इनके समय सूकर मद्दव के विषय में वहाँ के लोगों के कई मत थे। एक मत था "नाति तरुण नाति वृद्ध पवत्त मंस" दूसरा

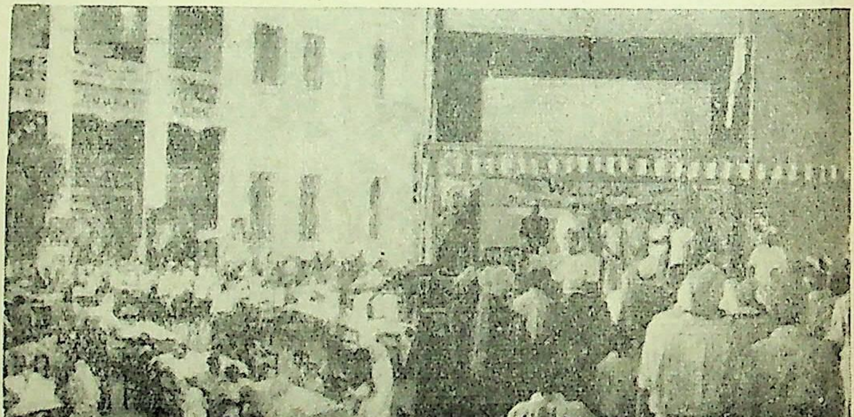


श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

[सन् १९५०



बंकाक के भारतीयों की एक सभा में श्री उपाध्याय जी
चित्र में मंच पर भारतीय राजदूत श्री कृपलानी भी दिखाई देते हैं।



श्री उपाध्याय जी माँडले में २३ जनवरी को आयोजित विशाल जलपान समारोह में भाषण देते हुये।

अखिल बर्मा इंडियन काँग्रेस द्वारा २६ जनवरी '५२ को आयोजित सभा का दृश्य। उपाध्याय जी मंच पर बायें से प्रथम हैं।

"पंच गोरस से बना हुआ पायस विशेष"। तीसरा 'एक प्रकार का रसायन। किसी किसी ने इसको एक प्रकार का पका चाँवल बताया है। क्योंकि इसके लिये 'भत्त' (भात) शब्द का प्रयोग हुआ है।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में भी मांस का प्रचार न था। महात्मा बुद्ध से बहुत काल पूर्व 'अहिंसा' के महत्त्व का उपदेश पाया जाता है। महात्मा बुद्ध ने अहिंसा के भाव को पुनर्जीवित किया। क्योंकि उनके समय में यज्ञों में पशु मारने की प्रथा भी बहुत बढ़ गई थी। भारत के लोग जब बौद्ध देशों में जाते हैं तो उनको आश्चर्य ही होता है कि महात्मा बुद्ध जैसे अहिंसा के प्रचारक के अनुयायी अपने खाने के लिये पशु-बध कैसे करते हैं ? यह बात उन देशों के लोगों को नहीं खटकती जिनको आरंभ से ही माँस-भक्षण की टेव पड़ी हुई है।

मुसलमान, हिन्दू और आर्य्य

बर्मा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया में भ्रमण करने वाले मुझ जैसे भारतीय के लिये एक मुख्य देखने की चीज़ यह भी है कि यहाँ बसने वाले मुसलमान, हिन्दू और आर्य्यों की मनोवृत्तियों में क्या भेद है और इसका उनके दैनिक जीवन तथा भावी इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ता है।

भारत और इन देशों में आवागमन तो पहले से ही था। महात्मा बुद्ध के जन्म के कई सौ वर्ष पूर्व के भारतीयता के चिह्न इन देशों की भाषा, तथा भवनों में मिलते हैं। परन्तु हम अति प्राचीन इतिहास को नहीं लेते। हमारा तात्पर्य तो वर्तमान परिस्थिति से है।

जब बर्मा को अंगरेज़ों ने लिया तो प्रबन्ध के लिये यह अधिकतर कर्म्मचारी भारत से लाये। इन भारतीयों ने बर्मा वालों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया जैसा विजेताओं के साथ आने वाले राजाधिकारी किया करते हैं। अतः इन देशों में भारतीयों को धन और मान दोनों का लाभ रहा। इनमें मुसलमान भी थे और हिन्दू भी। हिन्दुओं में आर्यसमाजियों की संख्या भी बहुत थी। परन्तु इनकी मनोवृत्तियों में भेद था।

मैं रंगून १२ दिसम्बर ५१ को आया था। मेरी १३ दिसम्बर की नोटबुक में सबसे मुख्य बात यह लिखी है कि रंगून में मुसलमानों का जोर है। उनकी बड़ी बड़ी मस्जिदें हैं विशेष कर आगाखानी मुसलमानों की। उनके तीन पत्र निकलते हैं।

(१) Burmese Muslim Weekly,

(२) दैनिक उर्दू 'दौरे जदीद'

(३) दैनिक उर्दू 'इस्तकलाल'

रंगून विश्वविद्यालय में मुसलमानी छात्रों की शिक्षा के प्रबन्ध के लिये एक समिति है जिसके अध्यक्ष हैं श्री लतीफ। इन महोदय का बर्म्मी नाम है ऊ खिन् मां लाट (U Khin Maung Lat) यह बर्मा सरकार के कानून विभाग के मंत्री भी हैं दूसरे सदस्य हैं एम० ए० रशीद । मांडले आदि में भी कई मस्जिदें हैं। प्रातःकाल जब मैं मांडले की गलियों में होकर सैर को जाता तो मेरे कान में क़ुरान के पाठ की ध्वनि पड़ा करती थी। मैं जी में सोचता कि कहाँ अरब और अरबी भाषा और कहाँ दूरस्थ बौद्ध देश मांडले। परन्तु यह सब है मुस्लिम नीति का फल। एक दिन मांडले में मैं सैर के लिये क़िले की खाई की ओर जा निकला। एक सज्जन मिले। वह थे बर्मी परन्तु मुसल्मान। बातचीत में वह कहने लगे। "हम क़ुरान तो पढ़ते हैं परन्तु अर्थ नहीं समझते। हमारे मुल्ला लोग हमको अर्थ नहीं समझाते।"

मैं समाचार पत्रों में विज्ञापन देखा करता था जिनमें मस्जिदों में शुक्रवार को होने वाले व्याख्यानों की घोषणा होती थी। यह व्याख्यान उर्दू में भी होते थे और बर्मी भाषा में भी। मांडले में मैंने मुसल्मानी क्षेत्रों में उर्दू मुशायरे का भी रिवाज देखा।

२६ जनवरी १९५१ को आर्य समाज की ओर से भारतीय स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष में एक मुशायरा किया गया था उसमें कई मुसल्मान उर्दू कवियों ने भाग लिया था। मैंने भी एक गज़ल पढ़ी थी। उसका एक शैर उल्लेखनीय है।

क़फ़स की तोड़ के हम तीलियां निकल आये।
खड़ा ही रह गया शश्दर सा देखता सय्याद॥

मुसल्मानों की इस संगठित जागृति का एक कारण है। कहते हैं कि बहुत दिन हुये श्री आगा खाँ साहेब बर्मा में पधारे और मुसल्मान लोगों ने उनसे परामर्श किया कि इस देश में हमको किस प्रकार रहना चाहिये। श्री आगा खाँ ने उपदेश में कहा कि तुम लोगों को बर्मा की जातीयता स्वीकार करके बर्मी लोगों में घुलमिल जाना चाहिये। तभी तुम इसलाम का प्रचार इन देशों में कर सकते हो। मुसल्मानों ने इस उपदेश को गाँठ बाँधा और उसी पर चल रहे हैं। घर में मुसल्मानी नाम होता है जैसे लतीफ़। बाहर बर्म्मी, नाम भी है जैसे ऊलाट्। पोशाक बर्म्मी, भाषा बर्म्मी, धर्म इसलाम मस्जिदें इसलामी। यह बर्म्मियों से खुले मैदान विवाह करते और मुस्लिम संतान उत्पन्न करते हैं। मैं एक दिन लाशो से नमटो जा रहा था। लौटते समय हमारी मोटर बिगड़ गई। कई घन्टे एक दुकान पर रहना पड़ा। उसका अध्यक्ष था एक मुसलमान युवक। उसकी स्त्री थी एक चीनी औरत। यह चीनी स्त्री दुकान चलाती थी और यह युवक मौज करता था। इस प्रकार मुसल्मानी धर्म का संगठित रूप इन देशों में देखने को मिलता है। बर्मा में तो मुसल्मान लोग गुप्त रीति से एक समस्या बने हुये हैं। इनकी सहानुभूति पूर्वी पाकिस्तान के साथ है और यह लोग चाहते हैं कि यदि आराकान बर्मा से निकल कर पाकिस्तान में मिल जाय तो अच्छा हो। क्या होगा यह ईश्वर जाने? परन्तु मुसल्मानों का यत्न यह रहता है कि बर्मियों के मित्र बनकर उनसे काम निकालें। एक दिन एक समारोह था भारतीय सचिव के स्वागत में। मैं भी निमंत्रित था। बर्मा सरकार के सभी उच्च अधिकारी और रंगून के बड़े-बड़े लोग थे। हिन्दू विशेष कर थे। यहाँ के हिन्दू परस्पर नमस्ते के स्थान में 'जय हिन्द' कहा करते हैं। एक मुसल्मान

सज्जन आये। किसी ने 'जय-हिन्द' कहा, वह चुपके से मुंह बनाकर कहने लगे, "जय हिन्द का यहाँ क्या प्रसंग है। डो बमा (Do Buma) कहना चाहिये" अर्थात् "जय-हिन्द" क्यों बोलते हो, जय बर्म्मा क्यों नहीं बोलते।

बर्मा में हिन्दू बहुत हैं। परन्तु यह गुजराती, मारवाड़ी बंगाली, तिलगू आदि में बटे हुये हैं। धन कमाते हैं और मौज करते हैं। इनका कोई संगठन नहीं। एक छोटा सा हिन्दी का पत्र निकलता है 'प्राची प्रकाश'। इसकी मुसलमानी पत्रों के समक्ष क्या तुलना ? हिन्दू भी मुसल्मानों के समान बर्म्मी स्त्रियों को रख लेते हैं। परन्तु जब भारत जाते हैं तो इनको वहीं छोड़ जाते हैं। यह स्त्रियाँ अपने बच्चों सहित मुसलमान हो जाती हैं। क्योंकि बर्म्मियों से इनका सम्बन्ध कुछ शिथिल हो जाता है। और वह केवल मुसलमानों में ही खिप सकती हैं। मैंने स्याम में भी यही दशा देखी। बङ्काक में मैंने उत्तर प्रदेशीय पूर्वी ज़िलों के बहुत हिन्दू देखे! पंजाबी भी हैं पर वे अपने परिवार को अधिकतर साथ रखते हैं। उत्तर प्रदेश वाले अधिकतर अकेले रहते हैं। जो रुपया कमाते हैं वह देश को भेजते रहते हैं। अतः उनका पैर नहीं जमने पाता। और जो स्यामी स्त्रियाँ उनके सम्पर्क में आती हैं उनको वह पचा नहीं सकते।

इन स्थानों में आर्य समाजियों की भी संख्या अच्छी है। यह सम्पत्तिशाली भी हैं और मान्य भी। परन्तु संगठन की इनमें बहुत कमी है। सब से बड़ा भेद दृष्टि कोण का है। ब्रह्मदेश में आर्य समाजी लोग डाक्टर, इंजिनियर, सरकारी कर्मचारी तथा व्यापारियों के रूप में आये और स्वभावतः आर्य समाज को अपने साथ लाये। इनमें पंजाबी अधिक थे। इनमें पंजाबियों का सा जोश भी था। आते ही इन्होंने आर्य समाज की नींव डाली। रंगून, मांडले, लाशो, नमटो,

इनांजाँ, मचीना आदि सभी समृद्धशाली स्थानों में आर्य समाज स्थापित किये गये। विशाल मन्दिर और स्कूल पाठशालाओं का आयोजन किया गया। इनाँजाँ में ठाकुर बैजनाथ सिंह जी रायबरेली के रहने वाले थे। इनका मिट्टी के तेल का अच्छा कारखाना था। यह शिक्षित तो न थे परन्तु व्यवहार कुशल थे। इनमें आर्य समाज के लिये बड़ा हित था। इन्होंने हिन्दी की पाठशालायें खोली। रंगून का आर्य समाज मन्दिर एक विशाल भवन है। यहाँ डी० ए० वी० स्कूल भी है। माँडले के डी० ए० वी० हाई स्कूल को तो जापानी और अंगरेज़ी वस्त्र वर्षा ने सर्वथा धराशायी बना दिया। कहीं-कहीं ईंटों के रोड़े उस सम्पन्न संस्था की मृत्यु पर आंसू बहा रहे हैं। नमटों में आर्य समाज की भूमि है, भवन की ईंट भी शेष नहीं रहीं। इस सब से प्रमाणित होता है कि ब्रह्मदेश के आर्य समाजी बड़े दिलवाले थे। इन्होंने खुले दिल से दान दिया और आर्य समाज स्थापित किये। परन्तु मनुष्य जहाँ जाता हैं वहाँ अपने गुण और अवगुण दोनों ले जाता है। ब्रह्मदेश के आर्य समाजी मुख्यतः पंजाबी थे। वे पंजाब से गये थे। और इनकी मातृ-भूमि में आर्य समाज के दो टुकड़े हो गये थे। एक को कालेज पार्टी कहते थे और दूसरे को गुरुकुल पार्टी। इन दोनों दलों में आरंभ में घोर विरोध था। अतः जब इन दोनों दलों के लोग विदेश में गये तो अपने इस विरोध को भी ले गये। बीस वर्ष से अधिक का समय व्यतीत हुआ जब मैं बर्मा के विषय में कुछ वहाँ से लौटे हुये सज्जनों से प्रयाग में बातचीत कर रहा था। उस समय मैंने आश्चर्य और खेद से सुना कि बर्मा में यह दलों की दल-दल चिन्तनीय मात्रा में है। मैंने पूर्वी अफ्रीका के विषय में भी ऐसा ही सुना है। आजकल पंजाब के बटवारे के पश्चात् तो पंजाबी दल-बन्दी का रंग सर्वथा बदल गया है। पंजाबी

लोग बटवारे के दोषों को भलीभांति समझ गये हैं और अखण्ड भारत की चीख़ पुकार ने अखण्डता के लाभों को अच्छे प्रकार से प्रमाणित कर दिया है। परन्तु पुराने संस्कार देर से जाते हैं। मैंने रंगून आर्य समाज में इस प्रकार के चिह्न १९५२ में भी देखे। इतना विशाल भवन और इतना तुच्छ हृदय। नित्य प्रति होने वाले झगड़ों का पूरा विवरण आर्य समाज के नाम पर बड़ा कलङ्क होगा। अतः मैं इस विषय में संकेत से आगे न बढ़ूँगा। मांडले में दो दलों के दो मन्दिर थे। एक बम्बवर्षा के अर्पण हो गया। दूसरा विद्यमान है। मुझे सन्तोष हुआ जब मैंने देखा कि वहाँ दलबन्दी नहीं रह गई। हाँ भग्नशेष अभी हैं।

बंकाक में आर्य समाज की स्थापना का आरम्भ उत्तर-प्रदेशीय लोगों से हुआ। कई सज्जन जोशीले धार्मिक परन्तु साधारण स्थिति के थे। इन्होंने परिश्रम करके एक अच्छा मन्दिर बनाया परन्तु पंजाबी लोग इसमें कम भाग लेते हैं। इससे उत्साह भी विभक्त सा दिखाई पड़ा। सिंगापुर की भी ऐसी ही अवस्था देखी। वहाँ मैंने एक अच्छी बात देखी अर्थात् वहाँ के एक माननीय सदस्य श्री कर्मांकर जी बंगाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की मृत्यु ने उनको आर्य समाज की ओर आकर्षित कर दिया। सिंगापुर में यदि पंजाबी भाग अधिक होता तो समाज का वाह्य रूप अधिक आकर्षक हो जाता। इस समय समाज मन्दिर एक चीनी के पास है और वर्तमान समाज मन्दिर (४२ रावल रोड 42, Rowell Road) किराये का है। भेद भाव तो मनुष्य में स्वाभविक से हैं। परन्तु विदेश में जाकर भेद भाव का दुर्गुण अधिक दुःखकर हो जाता है। देश में भाई भाई लड़ते हैं, पड़ोसी पड़ोसी लड़ते हैं, नगर नगर लड़ते

हैं और प्रान्त प्रान्त। परन्तु जब यह भेद भाव ऐसे स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ संख्या की न्यूनता के कारण भेद भाव की गुंजायश नहीं वहाँ प्रचार में बड़ी हानि होती है। यह बात में आर्य्य समाजियों में भी विदेशों में देखता हूँ। इस चीज़ के कारण वैदिक धर्म प्रचार को इतना लाभ नहीं हुआ जितना उस पर धन या तन मन व्यय किया गया गया।

दूसरे सबसे प्रमुख बात मैंने यह पाई कि आर्य्य समाजियों ने विदेश में जाकर यह नहीं सोचा कि आर्य्य समाज का काम सब देशों, सब जातियों और सब लोगों में वैदिक, धर्म फैलाना है। मन्दिर छोटे हों या बड़े, वे सब हैं भारतीय आर्य्यों की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये। वही भाषा, वही भाव, वही रंग, वही ढंग। मांडले के समाज का दृश्य वही है जो जालंधर या गोरखपुर के समाज का। कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह पता चल सके कि यह बर्म्मा वालों के लिये भी कुछ कर रहे हैं। बर्मा वाले केवल यह समझते हैं कि भारत से आने वाले विदेशियों ने अपने काम के लिये अपनी रुचि के अनुसार आर्य्य समाज मन्दिर, विष्णु मन्दिर या सिख गुरद्वारा स्थापित किया हुआ है जिससे उनको कुछ लेना देना नहीं है! आर्य्यसमाजियों ने बड़ी बड़ी शालायें हिन्दी या अंगरेज़ी की स्थापित कीं। परन्तु बर्मियों की भाषा में एक छोटी सी पुस्तिका भी नहीं लिखी। यही हाल स्याम का है और यही सिंगापुर का। यही मैंने दारुस्सलाम याँ जंजबार में पाया। यही दक्षिणी अफ्रीका में। अमेरिका के विषय में भी मैंने यही सुना यद्यपि देखा नहीं। बर्मा के आर्य्य समाजियों ने लाखों रुपये बर्म्मा की संस्थाओं के लिये दिये और लाखों चन्दा करके भारतीय संस्थाओं को भेजते रहे। भारत से समय समय पर गुरुकुल डी० ए० वी० कालेज आदि के प्रतिनिधि रंगून

आदि बर्मा नगरों में जाते रहे और अपनी संस्थाओं के लिये पुष्कल धन लाते रहे। परन्तु आज तक किसी को यह नहीं सूझा कि बर्मी भाषा में 'सत्यार्थ-प्रकाश' का या अन्य सामाजिक साहित्य का अनुवाद हो जाता।

इसका दुष्परिणाम क्या हुआ? सुनिये। ईसाई पादरियों ने बर्मा में प्रचार का काम किया। गिरजे और स्कूल स्थापित किये। परन्तु बर्मियों के लिये। उनकी पुस्तकें बर्मी भाषा में हैं। उनके व्याख्यान बर्मी में होते हैं। उनके सदस्य बर्मी हैं। मैं लाशो में एक दिन एक गिरजे में घुस गया। कोई गोरा ईसाई न था। सब शानी थे और शानियों की परिस्थिति के अनुकूल अपना धार्मिक कृत्य कर रहे थे। इसका अच्छा परिणाम यह निकला कि जब विदेशी ईसाई भाग गये तो देशी ईसाई रह गये। और ईसाई धर्म वहाँ जमा रहा। मुसलमानों की भी यही अवस्था है, क्योंकि बर्मी मुसलमान विद्यमान हैं। वे अपनी मस्जिदें चला रहे हैं। परन्तु हिन्दू मन्दिर, सिख गुरुद्वारे और आर्य मन्दिर सब एक से हैं। भारतीय लोग भाग कर भारत में आ गये तो उनके मन्दिर टूट गये। न नाम लेना न पानी देना। कहीं-कहीं आर्य समाजियों का यह प्रयत्न तो रहा कि किसी-किसी बर्मी को हिन्दी सिखादें। परन्तु यह तो दूरदर्शिता का उपहास मात्र हैं। यह तो संभव था कि बर्मा वालों में बर्मी भाषा में हमारा साहित्य होता। कुछ लोग आकर्षित होते और फिर संभवतः हिन्दी या संस्कृत की ओर उनकी रुचि होती। परन्तु कितनी भूल है उन आर्य लोगों की जो वैदिक धर्म प्रचार के लिये उस दिन की आशा लगाये बैठे हैं जब समस्त भूमण्डल पर हिन्दी भाषा का साम्राज्य होगा और वे लोग ऋषि दयानन्द के मूल 'सत्यार्थ-प्रकाश' को समझ सकेंगे। मैं जहाँ गया वहाँ के लोगों का ध्यान इस ओर

आकर्षित करता रहा। परन्तु मैं अपनी इस निर्बलता को स्वीकार करता हूँ कि मैं दृष्टि-कोण में कोई परिवर्तन न कर सका। और न केन्द्रीय संस्थाओं पर इस बात का गौरव अङ्कित कर सका। मुझे अपने विदेशीय प्रचार के लिये बहुत से प्रशंसा पत्र मिले। परन्तु मुझे इसको सफलता कहते हुये संकोच होता है।

हिन्दी भाषा

पाठक गण यह जानने के लिये उत्सुक होंगे कि विदेशों में हिन्दी भाषा का क्या स्थान है। भारतीयता और हिन्दी भाषा का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द ने संस्कृत के महत्व को समझते हुये भी हिन्दी का उत्थान करने में बड़ा यत्न किया। मैं यह कह सकता हूँ कि जहाँ आर्य समाजी जाता है हिन्दी को साथ ले जाता है। पंजाब की भाषा को तो आर्य समाज ने ही बदला और बड़ी सफलता से बदला। दक्षिण में जहाँ आर्य समाज गया है हिन्दी का इसने प्रचार किया है। केरल हो या तामिल देश, आंध्र हो या करनाटक, सभी प्रान्तों के आर्य समाजी हिन्दी की उन्नति में दत्तचित्त रहते हैं। दक्षिणी अफ्रीका के गुजरातियों में भी मैंने हिन्दी के लिये बड़ा उत्साह देखा। जब से भारत स्वतंत्र हुआ है विदेशस्थ भारतीयों के हृदय में अपने देश की मातृ-भाषा या राष्ट्र-भाषा के लिये नई उमंगें जाग उठी हैं। उदाहरण के लिये मैं उत्तरी नैटाल के प्रसिद्ध नगर लेडीस्मिथ का वर्णन कर चुका हूँ। डरबन में जहाज़ से उतरते ही हिन्दू महासभा के प्रधान श्री महावीर जी ने मेरा स्वागत हिन्दी में ही किया था। अब भी वह हिन्दी में ही पत्र लिखते हैं। यहाँ एक पत्र का फोटो देता हूँ जिससे वहाँ वालों की योग्यता और हिन्दी प्रेम दोनों का अच्छा प्रमाण मिलता है :—

ओ३म्

श्रीमान पुज्यवर मंडीतजी गंगाप्रसाद उपाध्या म.अ. आपके हमारी सप्रेम नमस्ते: ईश्वर के क्रीपासे प्रापत हो: मंझ भी कुसल श्री जगत करता परमात्मा के क्रपासे अन्द मे हुं: आश करताहुं की आपीसमत मे आनंद मे होगा: आपका रहुसम षेदोका उपदेसवचना प्रातकी अनुसासन करता हुं: और हे आपके सेवा मे सादर शतकार चौन्त्र से भेट करता हुं: हमारी सपरीवार के तरफ से आप से और सह कुटुंब को हीरदिक अभीवादन प्रापत हो: और मे पत्र की प्रतीउतर की द्रिष्टी गोचर करते रहेगे:

ईति ओम शान्ती: शान्ती: शान्ती:

आपका सेवक क्रीतज्ञ: महाबीर राम भोतार:

बर्मा एशियाई देश है। बर्मा की लिपि हिन्दी लिपि से मिलती जुलती है। स्यामी भाषा का भी यही हाल है। मैंने इन देशों के भारतीयों में हिन्दी के लिये अद्भुत प्रेम पाया। रंगून में एक अखिल-ब्रह्मदेशीय-हिन्दी साहित्य सम्मेलन है। श्री डाक्टर ओम् प्रकाश जी तथा श्री सत्यनारायण जी इसके विशेष कार्य-कर्त्ता हैं। इस सम्मेलन की ओर से मेरा पहला व्याख्यान १५ दिसम्बर १९५१ को गुजराती स्कूल के भवन में *"हिन्दी की सार्वभौमिकता"* पर हुआ। ४ और ५ फर्वरी १९५२ को रंगून में इस सम्मेलन का द्वितीय वार्षिकोत्सव हुआ। जिसके प्रधान पद का सम्मान मुझे दिया दिया गया। इसमें बर्मा के सभी नगरों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। स्वागत कारिणी के अध्यक्ष थे श्री दादा चाँद जी जो एक वृद्ध गुजराती सज्जन हैं। जयावाड़ी मे जो रंगून से कुछ दूर पर एक नगर है हिन्दी का काम जोर

से चल रहा है। प्रयागस्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं का केन्द्र अब तक जयावाडी ही था। अब मेरे अनुरोध से रंगून में भी हो गया है। स्याम में भी हिन्दी सिखाने का काम थाई-भारत-लाज में श्री रघुनाथ शर्मा जी की देखभाल में होता है। सिंगापुर में एक ईसाई युवक हैं श्री जैकब (Mr. Jacob)। यह हिन्दी भाषा के प्रचार में बड़े परिश्रम का प्रदर्शन कर रहे हैं। इनकी अध्यक्षता में मैंने २९ मार्च १९५२ को "*आज का भारत*" विषय पर एक व्याख्यान दिया था।

ब्रह्मदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान पद से मैंने जो लिखित भाषण दिया था उसमें एक बात विशेष कही थी। उसे दुहरा देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह है हिन्दी भाषा का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप। आजकल संसार की अन्तराष्ट्रीय भाषाओं में अंगरेजी का प्राधान्य है। किसी देश में चले जाइये अंगरेजी से काम चल जायगा। यह कहना चाहिये कि अंगरेजी मनुष्य मात्र की काम चलाऊ भाषा है। इसका कारण अंगरेजों का श्रम और सौभाग्य दोनों हैं। गत चार शताब्दियों में अंगरेजों ने बड़े परिश्रम, धैर्य्य, और बुद्धिमत्ता से काम लिया है। कुछ ही दिनों पूर्व यह प्रसिद्ध था कि अंगरेज सम्राट के साम्राज्य में सूर्य्य कभी अस्त नहीं होता। अंगरेजी भाषा में हर देश और हर विषय की सामग्री उपलब्ध हो जाती है। संसार भर के जहाज वाले अपना देशाँश (Longitude) ग्रीनिच से मानते हैं। परन्तु अब शनैः २ अंगरेज चले ही गये। बर्मा से भी और लंका से भी। इसलिये सूर्य्य का रथचक्र अब ब्रिटिश साम्राज्य के रथचक्र से कुछ अलग हो गया। रही अंगरेजी भाषा। उसका मान भी धीरे-धीरे कम हो रहा है। अब सर्वमान्यता के लिये अंगरेजी जानना आवश्यक नहीं समझा जाता। सब देश अपनी अपनी राष्ट्र भाषा पर बल दे

रहे हैं। यहाँ प्रश्न उठता है अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का। किस भाषा के सार्वभौमिक होने की अधिक संभावना है? भारतवर्ष सबसे बड़ा देश है। पाकिस्तान की उर्दू भारत की हिन्दी से भिन्न नहीं है, और न रह सकती है। राजनैतिक सम्बन्ध इन दो देशों के कुछ भी रहें उर्दू और हिन्दी का पुराना सम्बन्ध टूट नहीं सकता, उर्दू हिन्दी एक रूप है। यह रूप हिन्दी को मुसल्मान बादशाहों ने शुभ विचारों से प्रेरित होकर दिया था। उनकी मातृभाषा थी फार्सी। वह जनता की बोली की अवहेलना नहीं कर सकते थे। जैसे अंगरेज़ हमारी बोली को रोमनलिपि में लिख लेते थे उसी प्रकार मुगलों ने हिन्दी को अपनी लिपि में लिखना आरंभ किया। इसी का नाम उर्दू हुआ। अतः यह सिद्ध है कि बलोचिस्तान से लेकर बगाल तक और नैपाल से ट्रावनकोर तक हिन्दी भाषा का ही राज रहेगा। बर्मा, स्याम आदि छोटे-छोटे देश हैं। उनकी जन संख्या भीकम है और उनकी भाषायें भी अविकसित हैं। इनकी लिपि नागरी से बहुत दूर नहीं है। अतः एशिया भर में यदि अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने की संभावना है तो केवल हिन्दी की। आवश्यकता यह है कि हिन्दी भाषा के कोष को इतना समृद्ध कर दिया जाय कि इसमें अंगरेज़ी भाषा के समान सार्वभौमिक भावों का समावेश हो सके। यह उसी समय होगा जब भारत की जनता अंगरेजों के समान उदार, परिश्रमशील तथा दूरदर्शी होगी। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने से भिन्न-भिन्न देशों में फैले हुये भारतीयों को अपूर्व प्रोत्साहन मिला है। यह अपनी भाषा को भी गौरवान्वित करने में तत्पर हैं। आगे चलकर इनका उत्थान होना है और इनके साथ इनकी भाषा का भी। अतः हिन्दी भाषा का भविष्य बहुत उज्जवल है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अन्य भाषाओं की

अवहेलना करें, उनका पढ़ना छोड़ दें या अपनी भाषा को बलात् दूसरों पर लादें। हिन्दी भाषा की समृद्धि भी तभी होगी जब उसमें अन्य भाषाओं के बहुमूल्य साहित्य की समस्त सामग्री प्राप्त होगी। यह तभी हो सकता है जब हम इन भाषाओं से सम्पर्क रक्खेंगे। हमको अपने भाव दूसरी भाषाओं में भी अनूदित करने होंगे, तभी तो विदेशी लोग हमारे भावों और हमारी भाषा के मूल्य को समझ सकेंगे। यह काम आदान-प्रदान से ही हो सकेगा। मनोमालिन्य से नहीं। हमको अंगरेज़ी की भी अवहेलना नहीं करनी है। हमको किसी का तिरस्कार अभीष्ट नहीं है। परन्तु हमको भविष्य की बात दीख रही है कि अंगरेज़ी का राज अब समाप्ति पर है। वस्तुतः अंगरेज़ी भाषा में वह आन्तरिक क्षमता न थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहलाई जा सकती। इतना मान उसको अंगरेज़ों के उत्साह और परिश्रम से ही मिल सका। हिन्दी में अंगरेज़ी की अपेक्षा अधिक क्षमता है, इसकी लिपि सबसे अधिक वैज्ञानिक है। हिन्दी के पीछे पड़ जाने का एक मात्र कारण हिन्दी बोलने वालों की अदूरदर्शिता तथा दासता ही थी। यह दासता शनैः शनैः दूर हो रही है।

जीवनस्यास्य चक्रस्य
नादिर्नान्तो न मध्यमः।
क्षणिकत्व - प्रवाहस्य
पृष्ठभूमौ तु नित्यता ॥
नित्यतां तां परां गूढां
पश्यति यो विचक्षणः।
जित्वा जीवन - संघर्ष—
ममरत्वं समश्नुते ॥

परिशिष्ट

उपाध्याय-साहित्य

१९०७	नवीन हिन्दी व्याकरण	१५०	इंडियन प्रेस
१९०८	बाल निबन्ध माला	१२५	"
१९१०	हिन्दी शेक्सपीयर (६ भाग)	१२००	"
१९१३-१७	जीव जन्तु १४ भाग (अप्रकाशित)	२१००	"
१९१८	अंग्रेज जाति का इतिहास	४५०	ज्ञान मंडल, काशी
१९२०	विधवा विवाह मीमांसा	३५०	चाँद प्रेस
१९२३	आर्य समाज	२००	सार्वदेशिक सभा
१९२५	सर्वदर्शन संग्रह	१७५	कला प्रेस
१९२६	आस्तिकवाद	४१४	"
१९२७	अद्वैतवाद	४५२	"
१९२८	वैदिक विवाह पद्धति	८०	आर्य समाज चौक
१९३०	शंकर रामानुज दयानन्द	४८	कला प्रेस
	वैदिक उपनयन पद्धति	३२	आर्य समाज चौक
१९३१	राजा राम मोहन राय, केशवचंद्रसेन और दयानन्द	१२२	कला प्रेस
१९३२	धम्मपद	१६०	"
१९३३	जीवात्मा	४९८	"
१९३६	मनुस्मृति (भूमिका भाष्य)	६८०	"
१९३६	वैदिक मणिमाला	९०	"
१९३८	महिला व्यवहार चंद्रिका	१७५	रामदयाल अग्रवाल

1939	Reason & Religion	156	आर्य समाज, चौक
	Swami Dayanand's Contribution to Hindu Solidaritry	158	,,
	I & my god	168	,,
१९४०	ईशोपनिषद्	१२८	कला प्रेस
	Origin, mission & Scope of Arya samaj	184	आर्य समाज, चौक
	Worship	190	,,
	शतपथ ब्राह्मण, अनुवाद (अप्रकाशित)	२५००	हि० सा० सम्मेलन
1941	Christianity in India	170	आर्य समाज, चौक
	Superstition	148	,,
1942	Marriage & married life	212	,,
	Agnihotra	32	,,
१९४३	भगवत् कथा	१५६	कला प्रेस
१९४६	हम क्या खावें घास या मांस ?	१८०	,,
	Light of Truth (English Translation of Satyartha Prakasha)	860	,,
१९४७	शांकर भाष्यालोचन	३६०	,,
	Landmarks of Swami Dayananda's Teachings	88	,,
	आर्य स्मृति	२००	,,
1949	Vedic Culture	३००	सार्वदेशिक सभा
१९५०	कम्युनिज्म	२२०	कला प्रेस
	एतरेय ब्राह्मण (भाष्य)	५८०	हि० सा० सम्मेलन

	Life After death	१३६	सार्वदेशिक आर्य
	Catechism on Hinduism	६८	”
	सनातन धर्म और आर्य समाज	६०	”
	आर्योदय काव्यम् (पूर्वार्द्ध)	२३६	कला प्रेस
	(उत्तरार्द्ध)	२३४	”
१९५१	आर्य समाज की नीति	३२	सार्वदेशिक
	मुक्ति पुनरावृत्ति	५०	”
	सरल संध्या विधि	८४	आर्य समाज अ
1953	Aryasamaj a world movement	16	विश्व-प्रचार सं
	The Sage of modern times	20	
	The Vedas	32	”
1954	Yajnas or Sacrifice	24	”
	The world as we view it	20	”
	Devas in the Vedas	16	”
	Hindu ! wake up !	16	”
	Dayananda & State	32	”
	If I become a Christian	20	”
	धर्म-सुधा सार	१४४	”
	जीवन चक्र	५००	कला प्रेस
	Outline of Dayanandian Philosophy (अप्रकाशित)		”

ऊपर दी हुई सूची में से अनेक ग्रन्थों के गुजराती, मरा[ठी] बंगाली, तामिल, तेलगू, कन्नड़, व अंगरेजी अनुवाद छप चुके हैं।

क आर्य ट्रैक्ट माला (आर्य समाज चौक प्रयाग)

न टैक्टों के ५० लाख से भी अधिक संस्करण छप चुके हैं। से अनेक के अंग्रेजी, हिन्दी, तेलगू, तामिल, कन्नड, उर्दू ाद भी छप चुके हैं।

प्रथम माला (१६ पृष्ठ हिन्दी, पृष्ठों का योग १०७२)

(१) ईश्वर और उसकी पूजा (२) हमारे बच्चों की शिक्षा प्राचीन आर्यावर्त (४) हमारे धर्मशास्त्र (५) हमारा धर्म घर की देवी (७) राजा और प्रजा (८) हमारी देश सेवा हमारे बिछुड़े भाई (१०) सच्ची बात (११) हमारा सङ्गठन) मुसलमानी मत की आलोचना (१३) रामभक्ति का रहस्य) हमारे स्वामी (१५) ईसाई मत की आलोचना (१६) कुम्भ ात्म्य (१७) देवी देवता (१८) धार्मिक भूल भुलैयां (१९) जिन्दा (२०) हमारा भोजन (२१) दलितोद्धार (२२) वैदिक सन्ध्या) हवन विधि (२४) प्रार्थना भजन (२५) वैदिक प्रार्थना) वेदोपदेश (२७) मूर्तिपूजा (२८) अवतार (२९) आर्य समाज है ? (३०) जीव रक्षा (३१) नशा (३२) अछूतों का प्रश्न) ब्रह्मचर्य (३४) हमारा बनाने वाला (३५) संस्कार (३६) नन्द का स्रोत (३७) हिन्दुओं के साथ विश्वासघात (३८) स्वामी नन्द की दो भारी भूलें (३९) हिन्दू जाति का भयङ्कर भ्रम) मुसलमान भाइयों के सोचने योग्य बातें (५५) दलित जातियाँ नया प्रश्न (४१) कलियुग (४२) ग्रहण (४३) साधू सन्यासी) जीव क्या है ? (४५) गुरु माहात्म्य (४६) पुनर्जन्म (४७) भुत चमत्कार (४८) पितृयज्ञ (४९) लोग क्या कहते हैं ?) स्वामी दयानन्द की सूक्तियां (५१) ईश्वर और जीव का न्ध (५२) पंचयज्ञ महिमा (५३) वेदों में ईश्वर का स्वरूप) यज्ञोपवीत और जनेऊ (५५) दलित जातियाँ और नया प्रश्न धर्म से होने वाली कल्पित हानियाँ (५७) भेड़िया धसान

8 | 1 | 8

(५८) आर्य समाज की सार्वजनिकता (५९) यज्ञ के सामान्य वैदिक मंत्र (६०) त्रैतवाद (६१) ईसाई मत की समीक्षा (खुदा का बेटा) (६२) तुम कौन हो ? (६३) तुम्हारी भाषा क्या है ? (६४) तुम्हारा धर्म क्या है ? (६५) शुद्धि पद्धति (६६) मुर्दा क्यों जलाना चाहिये ? (६७) गाजी मियाँ की पूजा

द्वितीय माला (८ पृष्ठ हिन्दी, पृष्ठों का योग १८४)

(१) मौलवी साहब और जगतसिंह (२) हिन्दू स्त्रियों की लूट का कारण (३) हिन्दुओं जागो (४) हिन्दू धर्म का नाश (५) हिन्दू जाति की रक्षा के उपाय (६) दान की दुर्गति (७) विधवायें और देश का नाश (८) दहेज (९) दुखदायी दुर्व्यसन (१०) मसजिद के सामने बाजा (११) हिन्दू मुसलमानों में मेल का प्रश्न (१२) हिन्दुओं का हिन्दुओं के साथ अन्याय (१३) स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान (१४) हिन्दुओं पर एक नई आफत (१५) आदि हिन्दू सभा क्या है ? (१६) आदि हिन्दू कौन है ? (१७) शारदा एक्ट क्या है ? (१८) आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन का अंतिम पाठ (१९) डाक्टर अम्बेदकर की धमकी (२०) हिन्दू सङ्गठन का मूलमंत्र (२१) आर्य गीतावली (२२) आर्य समाज के साप्ताहिक सत्सङ्ग (२३) शिवलिंग पूजा पर शास्त्रार्थ

तृतीय माला (१६ पृष्ठ अंग्रेजी, पृष्ठों का योग २०८)

(1) The Arya Samaj Introduced. (2) The Vedic conception of God. (3) The five great sacrifices of the Aryas. (4) The claims of the Arya Samaj. (5) Between man and God. (6) The great Bug-bear. (7) The Vedic View of Life. (8) Vedic Womanhood. (9) Shuddhi. (10) The Arya Samaj and Depressed classes. (11) The Arya Samaj and Hinduism (12) The Arya Samaj and Christianity. (13) The Arya Samaj & Mohammadans.

धर्म शिक्षा पद्धति—(१) लड़कों के लिये १० भाग

(२) लड़कियों के लिये १० भाग